श्री भगवती सूत्र सार संग्रह

भाग दूसरा (हिन्दी)

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

शासनपति श्री महावीरस्वामिने नमः

शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्री विजयधर्मसूरीश्वराय नमः

श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह

[हिन्दी भाषा]

[भाग दूसरा शतक ६ से ११ तक]

❀ लेखक ❀

स्व. शासनदीपक मुनिराज श्री विद्याविजयजी के शिष्य

न्याय-व्याकरण-काव्यतीर्थ

पंन्यास श्री पूर्णानदविजयजी (कुमार श्रमण)

❀ अनुवादिका ❀

अ. सौ. राजमणि गोरवाडा

उदयपुर (राजस्थान)

प्रकाशक :

श्री जगजीवनदास कस्तूरचंद शाह

C/o. श्री विद्याविजयजी स्मारक ग्रन्थमाला,

पोस्ट : साठंबा (साबरकांठा) वाया धनसुरा A. P. Rly

प्रथमावृत्ति गुजराती	१००० प्रति
प्रथमावृत्ति हिन्दी	१००० ,,

वीर संवत	विक्रम संवत	धर्म संवत	इ. संवत
२५०६	२०३६	५८	१९८०

मूल्य : १० रुपये

मुद्रक :

संगीता प्रिंटिंग प्रेस,

५, कपूर काटेज, छठवां रास्ता,

सांताक्रुझ (पूर्व), बम्बई ५५.

जैनी वाणी स्तुति

जीयाद् जीयाद् सदा जीयात् जैनवाणी जगत्त्रये ।
संसारतापदग्धानां जीवानां सौख्यदायिनि ॥१॥

महाधीराच गम्भीरा त्रिलोकी द्रव्यसाधिका ।
वाणी तीर्थकृतां मान्या देवदानवमानवैः ॥२॥

अर्हद्वक्त्रप्रसूता या कर्मौघदाहने क्षमा ।
मोहक्रोधशमे मुख्या मोक्षमार्गविधायिका ॥३॥

मन्मतिज्ञान लाभार्थे भाषानुवाद गुम्फिता ।
व्याख्याप्रज्ञप्तिः पूज्या सा. पूर्णानन्दं ददातु मे ॥४॥

जैनीवाणी प्रथयतु सुखं मादृशेभ्योजनेभ्यः ।
''पूर्णानन्दा'' जिनवरमुखे शोभमाना सदैव
पापासक्तैर्विनयरहितैः क्रोधमायासुबद्धैः
सेव्या पूज्या नहि भवति या दुर्जनैः सा सतीव ॥५॥

विजयधर्मसूरि गुरुवन्दना

ख्याता ये वसुधातले मुनिगुणैः सत्संयमाराधकाः,
विद्वृद्धन्दसुपूजितांध्रिकमलाः काश्यां पुरिसर्वदा ।
कृत्वाहर्निशमुद्यमं जिनवृषं येऽस्थापयन् सर्वत,
स्ते पूज्या गुरुवर्य्य धर्मविजयाः कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥१॥

ये जैनागमवार्धिपार गमिनश्चारित्ररत्नाकराः
ये कारुण्यसुधाप्रपूर्ण हृदया लोकोपकारोद्यताः ।
सद्विद्याः सकला मुदा प्रतिदिनं येऽध्यापयन् सेवका,
स्ते पूज्या गुरुसूरिधर्मविजया जीयासुरुर्वीतले ॥२॥

वाराणसीं विबुधसेवितपादपद्माः
सज्ज्ञानदानपरितोषित शिष्यसंघाः ।
यज्जीवितं सततमेव परोपकृत्यै,
तत्सूरिधर्म विजयांध्रियुगं नमामः ॥३॥

संस्थाप्य काश्यां शुभज्ञानशाला,
मध्यापयन् शिष्यगणान् सुविद्याः ।
परोपकाराय यदीयजीवितं,
तद्धर्मपादाब्जयुगं स्मरामः ॥४॥

—पं. पूर्णानंदविजय (कुमार श्रमण)

जगत्पूज्य, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, स्व. श्री.

श्रीमद्विजयधर्मसूरीश्वरजी म. सा.

A. M. A. S. B. H. M. A. S. I. H. M. G. O. S.,

जन्म सं. १९२४	दीक्षा सं. १९४३	स्वर्गगमन सं. १९७८
महुवा (सौराष्ट्र)	भावनगर	शिवपुरी (म. प्र.)

युगवीर, पंजाब आदि देशोद्धारक जैनाचार्य १००८ श्री

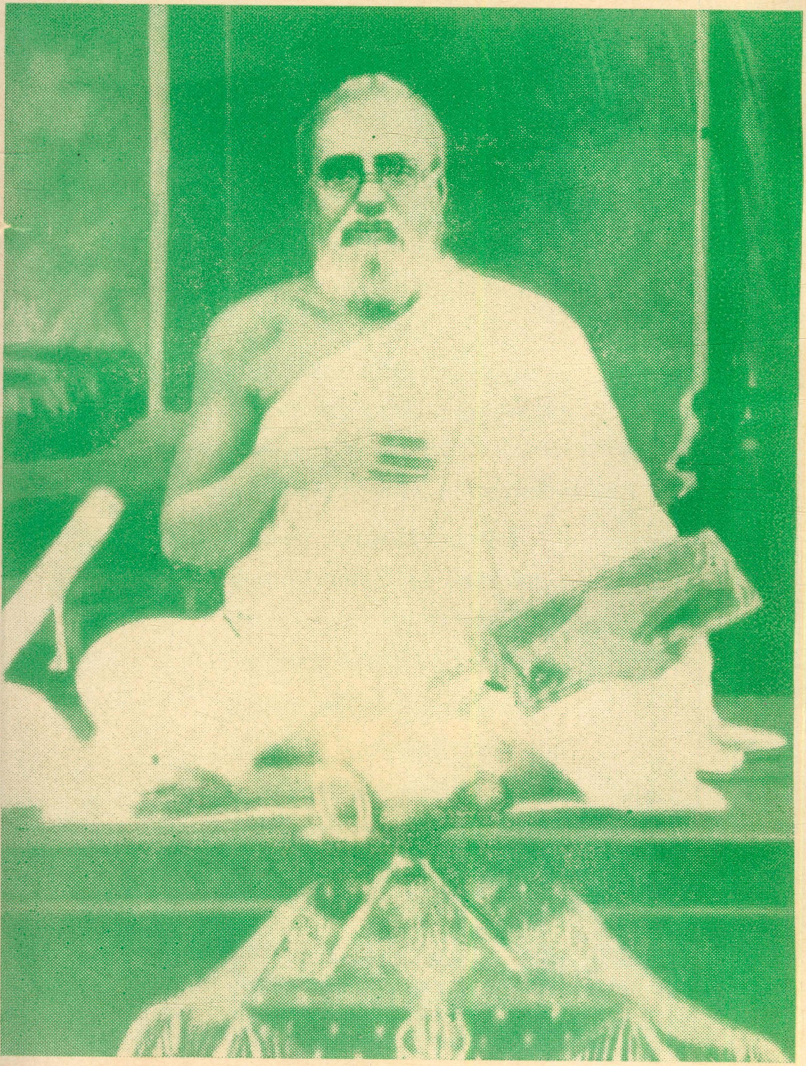

❀ विजय वल्लभसूरीश्वरजी म. सा. ❀

समर्पण

बीसवीं शताब्दी के चमकते सितारे
अहिंसा-संयम तथा तपोधर्म के परम पुजारी
महावीरस्वामी के शासन के पूर्ण वफादार
विजयानंदसूरीश्वरजी म. (आत्मारामजी म.)
के सर्वतोमुखी पट्टप्रभावक
युगवीर जैनाचार्य, १००८ श्री.

विजयवल्लभसूरीश्वरजी म.

के करकमलों में
यह प्रस्तुत पुस्तक समर्पित करते हुए
मुझे आनन्द है।

—सेवक

पं. पूर्णानंदविजय (कुमार श्रमण)

शासनदीपक श्रीविद्याविजय गुरुवन्दना

आबाल्यं ब्रह्मचर्यं जिनवचनबलात् पालयन्तस्त्रिधाये,
निष्णाता आगमाब्धौ जनिमृतिभयदं मोहशत्रुं जयन्तः ।
त्यक्त्वा स्वार्थं परार्थे सुविमलहृदये धर्मध्यानं दधाना,
जीयासुस्ते हि विद्याविजयगुरुवराः भूतले ज्ञानपूर्णाः ॥१॥

यद्वाचामृतपानलुब्धमनसः प्राज्ञाः सदोपासते,
ये भव्यान् प्रतिबोधयन्ति वचनैः सद्धर्मतत्त्वं मुदा ।
तत्त्वातत्व विचारणैकपटवो विद्याब्धिपारं गताः,
ते विद्याविजया जयन्तु भुवने चारित्ररत्नाकराः ॥२॥

येऽनन्त्र परित्यज्य स्वार्थमखिलं लोकोपकारोद्यतः,
येषां नो हृदये सदा स्वपरता येषां कुटुम्ब जगत् ।
हेयादेय समस्त वस्तु निवहं ये बोधयन्तां जनान्,
तद्विद्याविजयांघ्रिपद्मयुगले ध्यायामि मे मानसे ॥३॥

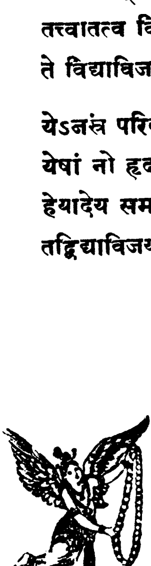
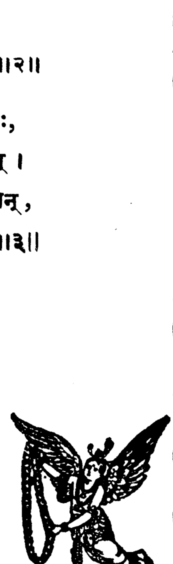

लेखक के गुरुवर्य
शासनदीपक, स्व. मुनि-
राज श्री १००८
श्रीमद्विद्याविजयजी म.
स्वर्गगमन : सं. २०११
मागसर कृष्णा १२
शिवपुरी (म. प्र.)

प्रकाशकीय निवेदन

परमपूज्य, पंन्यासजी श्री पूर्णानन्दविजयजी (कुमार श्रमण) तथा वयोवृद्ध, मुनिराज श्री देवविजयजी म. के वरदहस्तों से स्थापित श्री विद्याविजयजी स्मारक ग्रन्थमाला नामकी संस्था हमारे साठंबा संघ के लिए गौरवप्रद बनने पाई है।

शासनदीपक, अद्वितीयवक्ता, पूज्यपाद, मुनिराज श्रीविद्याविजयजी महाराज-जिनका प्रभावशाली मुखमंडल, हास्य युक्त मुखाकृती, मस्तकपर धवल-विरल केशराशि, महावीरस्वामी के अहिंसाधर्म को सूचित करने वाले-शुद्ध-पवित्र खादी के वस्त्रों से आवृत्तशरीर, मन्द तथा विनम्रचाल, शान्तस्वभाव, फिर भी समाज की विषमताओं से व्यथित होकर प्रलयकारी तूफान, तथा प्रतिवादी के लिए अद्वितीय व्यक्तित्व था :—

आंखों में हो तेज, तेज में सत्य, सत्य में ऋजुता।
वाणी में हो ओज, ओज में विनय, विनय में मृदुता ॥

पूज्यगुरुदेव की आंखे तेजस्वी थी, तेज में भी सत्यता थी और सत्य भी सरलता से देदीप्त था। उनकी वाणी ओजस्विनी थी, ओजस भी विनयमय वह भी मृदुतामय था। शासन तथा समाज की सेवा में अहिंसा तथा सत्यधर्म के प्रचार में तथा पालन में आप सर्वथा अजोड़ थे।

साठंबा (साबरकांठा-गुजरात) जैसे छोटे गांव में जन्म लेकर अपने सद्गुणों से विकसित होकर जगत में प्रसिद्ध बनने पाये थे। इसी कारण से पूज्यगुरुदेव की स्मृति हमारे संघ को सदैव बनी रहे, तदर्थ उनके नाम से इस संस्था को स्थापित करने में हमें बड़ा भारी आनन्द है। इसकी स्थापना फंड एकत्र करने का नहीं हैं तथा मिथ्याप्रचार के लिए भी नहीं है, केवल सम्यग्ज्ञान का प्रचार ही हमारा मुद्रालेख हैं, वह भी हमारी शक्ति के अनुसार कर रहे हैं उसकी हमें प्रसन्नता हैं।

आज से ४२ वर्ष पूर्व पूज्यगुरुदेव के करकमलों से करांची (सिंध) में दीक्षित होकर शिक्षित बने हुए, पू: पंन्यासजी श्री पूर्णानन्दविजयजी महाराज भगवतीसूत्र के अधिकारी होने से अच्छे अच्छे शहरो के चातुर्मास में भगवतीसूत्र का प्रसाद चतुर्विध संघ को किया हुआ है, जभी तो पूज्यगुरु देव से अत्यंत संक्षिप्त में लिखा हुआ भगवतीसूत्र पंन्यासजी के हाथों इतना बिशद सरल तथा विस्तृत बनने पाया है।

पांच शतक पर्यंत का प्रथम भाग गुजराती भाषामें दो आवृति हिन्दी में एक आवृति से प्रकाशित हुआ। ६ से ११ शतक तक का दूसरा भाग। १२ से २० शतक का तीसरा भाग प्रकाशित हो चुका है अब चतुर्थ भाग छप रहा है जिसमें ग्रन्थ का समापन होगा।

दूसरे भाग के प्रस्तुत ग्रन्थ को हिन्दी भाग में प्रकाशित करने का गौरव हमें प्राप्त हो रहा है यह हमारे लिए खूब सौभाग्य का विषय है क्योंकि छोटे से गांव तथा संघ के लिए इतना बड़ा कार्य पूर्ण होना सचमुच आनन्ददायक ही होता है क्योंकि भगवतीसूत्र का इतनी सरलभाषा में प्रकाशित होना बड़ा कठिन काम है।

जिन जिन संघो ने तथा पुण्यशाली व्यक्तिओं ने द्रव्य सहायता दी है वे सब धन्यवाद के पात्र हैं।

बम्बई सांताक्रुज, संगीता प्रिंटिंग प्रेस के मालिक श्री तिवारी जी के हम कृतज्ञ हैं, जिन्होंने अपना ही कार्य समझकर शीघ्रता से पूर्ण किया है।

ग्रन्थ लेखक पू. पंन्यासजी के हम तथा हमारा संघ सदा ऋणी रहेगा जिन्होने हमको सत्प्रवृति में लगाया हैं भविष्य में भी यही आशा रखे वह अनुचित नहीं है।

निवेदक—संघसेवक :

संघवी जगजीवनदास कस्तुरचंद शाह

C/o. श्रीविद्याविजय स्मारक ग्रन्थमाला

१९३६, विजयादशमी

❀ ग्रन्थलेखक : न्या. न्या. का. तीर्थपन्यास श्री ❀

पूर्णानंदविजयजी म. (कुमार श्रमण)

दीक्षा : वि. सं. १९९४ मागसर शुक्ला १० करांची (सिंध)

लेखकीय निवेदन

पांच शतक पर्यंत भगवतीसूत्र सारसंग्रह का प्रथम भाग गुजराती भाषा में जब प्रकाशित हुआ उससमय मुझे स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि भगवतीसूत्र जैसे आगमीयग्रन्थ पर मैं दूसरा भाग भी लिख सकूंगा ? परंतु गुरुदेव की असीमकृपा से दूसरा तथा तीसरा भाग भी २० शतक पर्यंत पूर्ण होकर प्रकाशित हुआ, और अब चतुर्थ भाग जिसमें भगवतीसूत्र के ४१ शतक की पूर्णाहुति होगी वह भी छप रहा हैं ।

मेरे जैसे सर्वथा निःसहाय के लिए द्वादशांगी में सर्वश्रेष्ठ भगवतीसूत्र (विवाहपण्णति) को सादी भाषा में पूर्ण करना दुःसाहस ही था तो भी गुरुकृपा से प्राप्त हुआ क्षयोपशम ही मेरा साथीदार बना और कार्य की समाप्ति निकट भविष्य में हो रही है ।

आज दूसरे भाग का हिन्दी अनुवाद तैयार होकर आपके करकमलों में आरहा है, आशा है कि आप के द्वारा आदर पाया हुआ यह ग्रंथ मेरा उत्साह-बढ़ाने का कार्य करेगा ?

पूज्य गुरुदेव, शासनदीपक, अहिंसाधर्म के प्रचारक, मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज ने ६ शतक तक मूलसूत्र आधारित विवेचन किया था उस पर-मैंने प्रत्येक प्रश्नों का तथा महावीरस्वामीजी ने जो जबाब फर्माये उसको यथामति विस्तृत करके लोक-भोग्य बनाने का प्रयत्न किया हैं । पांच शतक पर्यंत पहला भाग पूर्ण हुआ । छट्ठे शतक को शेष रखने का कारण यह था कि मुझ जैसे भाव प्रमादी को दूसरा भाग तैयार करने का

उत्साह रहने पावे, लगभग दो वर्ष पहले इसका गुजराती भाग प्रकाशित हो चुका था, आज उसका हिन्दी में प्रकाशन होने जा रहा है उसका मुझे अतीव आनन्द तथा गौरव है।

बम्बई अन्तर्गत विलेपार्ले (वेस्ट) घेलाभाई करमचंद सेनेटोरियम संघ के ट्रस्टीओं की भावपूर्वक विनंती को मान्यकर आयोजित उपधान तप की आराधना कराने में पार्ले आया। आत्मशक्ति के विकास में उपधानतप का आयोजन मौलिक कारण होते हुए भी उसकी पवित्रता में तथा क्रियाओं में किसी प्रकार की अनधिकार चेष्टा तथा मेरे से भी प्रमाद न होने पावे उसके लिए मैं पूर्ण जागृत था तथा मेरे साथी मुनिराज श्रीकंचन सागरजी म. तथा भावसागरजी म. और साध्वीएँ सूर्यप्रभाश्रीजी, दिव्यप्रभाश्रीजी, जितप्रज्ञाश्रीजी और नयप्रज्ञाश्रीजी भी उदार तथा उदात्त विचार के होने से आराधना में बड़ा अच्छा आनन्द रहा था।

परंतु ठंडी मौसम की लंबी रात्रिओं का उपयोग कैसे करना ? क्योंकि प्रतिक्रमण करने तथा करवाने के बाद गृहस्थों के साथ फिजुल बाते करने का मुझे रस न होने के कारण अमुक अपवाद को छोड़कर मैंने लेखन कार्य का प्रारंभ किया। संघ के उदारमना ट्रस्टीओं का भी सहकार मिला और भगवतीसूत्र सारसंग्रह के दूसरे भाग की तैयारी के श्रीगणेश हुए ! दो मास की स्थिति में मन को संतोष होवे उतने प्रकरण लिख चुका।

तदंतर सांताक्रुज संघ की विनंती से उनके उपाश्रय में आया, परिस्थिति वश मुझे वहां पर ११०, दिवस की स्थिरता करनी पड़ी लेखन कार्य भी आगे चलता रहा ८–९–१० शतक वहीं पर पूर्ण हुए, प्रेसकोपी भी तैयार होती गई ! चातुर्मास मुलुंड में पूर्ण किया धार्मिक कार्य, मासखमणादिक तपश्चर्याएं, उत्सव-महोत्सव उपरांत, दादागुरु श्री विजय-धर्मसूरीश्वरजी महाराज का स्वर्गवास दिन सोत्साहपूर्ण हुआ शेष मेटर भी पूर्ण होने की तैयारी में था परन्तु चातुर्मासान्तर पनवेल (कुलाबा) संघ

के ट्रस्टीओं के साथ सेठ खीमराजजी लालचंदजी परमार भी पधारे थे, पनवेल में ही उपधान कराने का निर्णय होने से उपधान का तय हुआ, जय बोला दी गई हम वहां पर गये और अच्छे स्वागतपूर्वक प्रवेश किया। साध्वीजी म. विधुत्प्रभाश्रीजी, कनकप्रभाश्रीजी आदि तथा सूर्यप्रभाश्री आदि तीस ठाणों के साथ प्रवेश होनेपर तथा उनके बड़े योगोद्वहन के कुछ दिन शेष होने से उसको पूर्ण करवाने के बाद उपधान का प्रारंभ बड़े आडंबर के साथ हुआ और फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी के दिन मालारोपण महोत्सव समाप्त करके बम्बई कोट के उपाश्रय में आयंबील ओली सम्पन्न की ! दूसरे भाग का गुजराती छापकाम भी आगे बढ़ रहा था। चतुर्मास पार्ले में संघ के उपाश्रय में हुआ और पुस्तक का प्रकाशन भी बड़े आनन्द से पूर्ण हुआ।

प्रस्तुत पुस्तक के छट्ठे शतक पर मेरे परम आदरणीय, स्वप्न में भी श्रद्धेय, ध्येय, पूज्य और स्मरणीय, गुरुदेव, शासनदीपक मुनिराजश्री विद्याविजयजी का विवरण है आज उसका हिन्दी अनुवाद, हिन्दी भाषा भाषीओं के लिए प्रकाशित करने का सुवर्णदिन मेरे भाग्य में आ रहा है।

पहले भाग के प्रकाशन के समय में मुझे शंका थी कि कदाच इसका प्रतिकार होगा ! परंतु मैं भाग्यशाली रहा जिससे ये मेरी शंकाएँ निर्मूल बनी, प्रत्युत मेरा लेखन कार्य प्रशंसनीय रहा और सर्वत्र आदरणीय बनने पाया।

इस ग्रन्थ में बहुत से तात्त्विक प्रश्नों की चर्चाएँ है। जिसका मैंने मेरे क्षयोपशम के अनुसार उन उन विषयों को न्याय दिया है, फिर भी मैं छद्मस्थ होनेपर कदाच कहीं परम तिज्ञानावरणीय तथा श्रुतज्ञानारवणीय कर्मों के कारण भूल रहने पाई हो उसके लिए क्षमायाचना मांगनी श्रेष्ठमार्ग हैं।

स्व. मनसुखलाल ताराचंद मेहता अमरेलीवाले गृहस्थ होते हुए भी मेरे जीवन के लिए पावर थे उनकी प्रेरणा मेरे मुनि जीवन में पर्याप्त रही है।

प्रस्तावना के लेखन में जैनाचार्य १००८ श्रीविजय कीर्तिचन्द्रसूरीश्वरजी म. का तथा जेकेट पर रहा हुआ त्रिरंगी समवसरण ब्लोक देने की उदारता बतलानेवालों योगनिष्ठ आचार्यश्री बुद्धिसागरसूरीश्वरजी के प्रशिष्य जैनाचार्य श्री दुर्लभसागरसूरीश्वरजी म. का अहसान मैं कैसे भूल सकूँगा।

द्रव्यसहायक बननेवालों संघों को तथा अन्य भाग्यशालीओं को मेरा धर्मलाभपूर्वक धन्यवाद है।

अनुवादिका उदयपुर निवासिनी अ. सौ. राजमणि गोरवाडा को मेरा सधर्मलाभ आशीर्वाद है कि ऐसे उमदा कार्यों में हमेशा प्रयत्नशील रहे।

संगीता प्रिंटिंग प्रेस के मालिक ने यह काम सुन्दररुप से तथा शीघ्रता से पूर्ण किया है, एतदर्थ धन्यवाद के पात्र हैं।

(प्रथम भाग गुजराती का अनुवाद)

निवेदक :

पं. पूर्णानन्दविजय (कुमारश्रमण)
C/o. श्री चन्द्रप्रभ जैन मंदिर पेढ़ी.
जयप्रकाश रोड़, अंधेरी (वेस्ट)
बम्बई ४०० ०५८.

नवयुग प्रवर्तक शास्त्रविशारद जैनाचार्य

स्व. विजयधर्मसूरीश्वरजी म. का जीवनवृत्त

बहुत ही ऊंचे पहाड़पर खड़े रहकर समीप में रहे हुए शहर को यदि देखा जाय तो तत्रस्थ सभी मकान, वृक्ष एक समान ही दिखने में आयेंगे क्योंकि देखनेवाला बहुत ही ऊंचा आ चुका है। उसी प्रकार मानव की मानवता, तथा दयालु की दयालुता जब अच्छी तरह से विकसित हो जाती है, तब वह मानव मानव के शरीर में ही देवसा बन जाता है? मेरे दादागुरु श्रीविजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज की आत्मा मुनिपद स्वीकार करने के पश्चात् दिन प्रतिदिन ऊंची चढ़ती गई, साधुता का विकास होता गया, व्यक्तित्व खिलता गया, वक्तृत्व में रोचकता तथा उपादेयता बढ़ती गई, जीभ में मिठास की वृद्धि होने पाई, तथा आंखों में मानव समाज पर असीम प्रेम की धारा मर्यादातित होती गई, जभी तो देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी के ७४, वीं पाट पर आसीन होकर शासन की शोभा व समाज की सेवा अद्वितीयरूप में कर पाये हैं।

पालीताना गिरनारजी आदि तीर्थभूमिओं से पवित्रतम बने हुए सौराष्ट्र (काठीयावाड) देश में महुवा नाम की नगरी में रामचन्द्रशेठ तथा कमला शेठाणी रहते थे। धार्मिक जीवन के उपासक, सरल परिणामी भद्रिक तथा भावदया से परिपूर्ण उन दंपती के यहां पर देवभूमि का त्यागकर विजयधर्मसूरीश्वरजी की आत्मा मूलचंद्र के नाम से अवतरित हुई? माता-पिता के प्यार में बाल्यजीवन पूर्ण हुआ और विद्याभ्यास तरफ बढ़ने का प्रयत्न किया परंतु साधुता की उच्चतम भूमिका प्राप्त करनेवाली आत्मा को पेट भरने की विद्याओं से अथवा पापोत्पादक व वर्धक द्रव्यो-

पार्जन में कभी भी रस आता नहीं है। मूलचन्द्र की भी यहीं दशा रहीं, और भावनगर शहर में आकर माता-पिता की आज्ञा से शान्तमूर्ति श्री वृद्धिचन्द्र जी महाराज के चरणों में दीक्षित हुए और धर्मविजयजी के नाम से प्रसिद्ध बने।

जीवन की दिशा यदि सत्यमार्ग पर है, तो वह साधक पतनोन्मुखी न बनकर प्रतिक्षण विकासोन्मुखी बनता है और हर समय में शिक्षित बनने का प्रयत्न करता है। नूतनमुनि की अपने गुरु के चरणों में पूर्णश्रद्धा, जीवन के अणु अणु में उत्साह तथा ब्रम्हचर्य धर्म की पालना में पूर्ण सावधान तथा जागृत रहने से आगे का विकास बहुमुखी होता गया फलस्वरुप आवश्यक सूत्रों के पठन के पश्चात संस्कृत, प्राकृत, मागधी, पाली भाषा के उपरांत जैनशास्त्रों के तथा स्याद्वाद नय-प्रमाण आदि के सिद्धांतो के पारगामी बनकर, लंडन, जर्मनी अमेरिका, नार्वे फ्रांस व पेरिस आदि देशो के अकाटय विद्वान डा. एफ. डब्ल्यु थामस। प्रो. हर्मन जेकोबी। डॉ. जेहन्स ए. गेरीनोट ! डा. एल. पी. टेसीटोरी, प्रो. बेलोनी फिलीप्पी। डा. पेटोल्ड, डा. जोननोवेल। डा. रैलमुथ। डा. डब्ल्यु किरफल। डा. डब्ल्यु शुब्रिंग। डा. हेनरीच। डाँ. जे-जोली। डा. विन्टर नेझ। प्रो. एर्नस्टल्युमैन। डा. स्टेनकोनो। डाँ. एम मिरोनाव। डाँ. ए. एफ रुडोल्फ। डा. चार्लस एलीयर आदि सैकड़ो पाश्चात्य विद्वानों को अपने चरणों में रखकर जैनागम स्याद्वाद इतिहास, भूगोल तथा शताब्दीओं से बदलती हुई देश की परिस्थिति का सत्यस्वरुप समझा सकने में पूंर्ण सफल बने थे। इन सब कठिनतम कार्यों में गुरु सेवा का फल स्वरुप आशीर्वाद ही रहा है।

जिन गुरुदेव के आशीर्वाद से उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ हो, उनका स्वर्गगमन होना शिष्य के लिए असह्य परिस्थिति का कारण बनता है, तो भी आध्यात्मिक योगी के लिए वे बाह्यपरिस्थिएँ आन्तर खोज का भी कारण बनती हैं। यही कारण था की गुरु के स्वर्गवासांतर विजय-धर्मसूरीश्वरजी महाराज की प्रवृतिए सर्वतोमुखी बनकर पूर्णरूप से सफल

बनने पाई है, जिसको आजका सम्यक्त्वसम्पन्न जैन समाज का बच्चा भी इन्कार कर नहीं सकता।

जिसके कुछ नमुने—

(१) काशी बनारस में श्री यशोविजयजी जैन संस्कृत विद्यालय के माध्यम से सैकड़ों जैनो को संस्कृत-प्राकृत-मागधी-पाली आदि भाषाओं के अकाट्य विद्वान बना सके थे।

(२) यशोविजयजी जैन ग्रन्थमाला के माध्यम से न्याय-व्याकरण-काव्य-महाकाव्य-छन्द-कोष तथा आगमीय साहित्य को प्रकाशित करवाकर भारत तथा पाश्चिमात्य के विद्वानों को विनामूल्य वितीर्ण कर पाये थे।

(३) भारतदेश के अन्य स्थलो में, पाठशाला विद्याशाला, धर्मशाला, लायब्रेरी, बोर्डिंग आदि की स्थापना करवाकर सुषुप्त जैन समाज में सरस्वती को उपासना पुनः प्रतिष्ठित करवा सके थे।

(४) उपरियालादितीर्थोद्वार, यशोविजयजी जैन गुरुकुल पालीताना यशोविजयजी जैनबालाश्रम महुवा, जैन स्वयंसेवक मंडल बम्बई आदि बहुत सी संस्थाएँ आज भी जैन समाज की बहुमुखी सेवा कर रही है।

(४) अहिंसादिग्दर्शन जैनशिक्षादिगदर्शन, धर्मदेशना आदि ग्रन्थों के निर्माण से बंगाल-बिहार-उडीसा-आसाम. उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश आदि देशों में अहिंसा संयम तथा तपोधर्म का किया हुआ प्रचार आज भी चिरस्मरणीय है।

(५) जैनाचार्य श्री विजयेन्द्रसूरिजी। सत्क्रियाभिरुचि जैनाचार्य श्री विजयभक्तिसूरिजी। न्यायव्याकरण, स्याद्वाद, नय, प्रमाण, सप्तभंगी आदि विषयों के अद्वितीय अभ्यासी उपाध्याय पद विभूषित श्रीमंगलविजयजी। प्रचंडवक्तृत्व के माध्यम से बहुमुखी प्रसिद्धिप्राप्त, शासनदीपक मुनिराजश्री विद्याविजयजी म. न्याय के अस्खलित व्याख्याता, न्यायविशारद

न्यायतीर्थ, मुनिश्री न्यायविजयजी म. ऐतिहासिक विद्वान, शांतमूर्ति, मुनिराज श्रीजयंतविजयजी महाराजादि एक एक विषय के अकाट्य विद्वान मुनिराज उनके शिष्य थे।

उनमें से शासनदीपक, मुनिराज श्रीविद्याविजयजी महाराज मेरे गुरुदेव थे, जिन्होंने भगवतीसूत्र के छः शतक का विवरण लिखा था जो आज दूसरे भाग के माध्यम से प्रकाशित हो रहा है।

भगवतीसूत्र पर बहुत कुछ लिखा गया है, परन्तु वे सब मंगलाचरण के श्लोकों से आगे बढ़ने नहीं पाये जबकि मेरा यह प्रयत्न भगवतीसूत्र के पेट (उदर) में प्रवेशकर गौतमस्वामी आदि के प्रश्न तथा देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी के जवाबों को खूब सुंदर ढंग से विवृत करने में रहा है, जिवाभिगम। प्रज्ञापनासूत्र उत्तराध्यायनसूत्रादि में दृष्टिपातकर बहुत से प्रश्नो को मेरी यथामति मैंने स्पष्ट किया है, फिर भी मैं छद्मस्थ हूँ अतः क्षमाप्रार्थी हूँ।

मूल, टीका, तथा और भी अनुवादित ग्रन्थों का निरीक्षण करने के पश्चात ही मेरा उत्साह बढ़ा, क्षयोपशम ने साथ दिया, स्वर्गस्थ गुरुदेव ने आशीर्वाद दिया इसीलिए मेरा दुःसाहस भी सुसाहस बनने पाया है।

लेखक वक्ता तथा विवेचको का दृष्टिकोण एकसा होना नितांत असंभव है क्योंकि सभी का मतिज्ञान एकसा नहीं होता है। इसी न्याय से मेरा दृष्टिकोण केवल सामाजिक रहा है अतः प्रत्येक प्रश्नों को तथा जवाबों को मानवता के आधार पर विवेचित किये हैं।

अंत में पू. गुरुदेव, सरस्वतीमाता तथा पद्मावतीमाता को वन्दनकर तथा मुझे सब प्रकार से सहायक बननेवाले उदारमना जुदे-जुदे संघों के भाग्यशालिओं का मैं एहसान मानकर विराम लेता हूँ।

लि. न्याय. व्याकरण काव्यतीर्थ

पंन्यास पूर्णानन्दविजय
(कुमार श्रमण)

C/o. श्री चन्द्रप्रभ जैन मंदिर
जे. पी. रोड, अंधेरी (वेस्ट),
बम्बई ५८.

❀ ❀ ❀

प्रस्तावना

त्रिकालाबाधित, अविच्छिन्न प्रभावशाली श्री जैनशासन सर्वत्र सब प्रकार से जय पा रहा है।

श्री तीर्थंकर देव अपने पूर्व के तीसरे भव में वीसस्थानक तपकी आराधना करते हुए यह भावना भाते हैं कि—

"सवि जीव करुं शासन रसी
इसी भावदया मन उल्लसी"

जब संसारके समस्त जीवों के प्रति हृदय में ऐसी उदार, उन्नत और उत्तम करुणा और भावदया का स्रोत बहने लगता है, तब वे तीर्थंकरदेव की आत्माएं तीर्थंकर नामकर्म की महान् पुण्यप्रकृति का निकाचित बंध करते हैं। जिसके प्रभाव से आगे के तीसरे भव में वे तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं। देवलोक से च्यवकर माता की कुक्षि में आते ही देव और देवेन्द्रों के अचल सिंहासन भी कंपित हो उठते हैं। उनके च्यवन कल्याणक, जन्म कल्याणक और दीक्षा कल्याणक को भक्तिपरिपूर्ण हृदय से क्रोडों देव और चौसठ इन्द्र भव्यरुप से मनाते हैं। दीक्षा ग्रहण करते ही उनको चौथा मनः पर्यवज्ञान उत्पन्न होता हैं। घोर तप करते हैं। उग्र विहार करते हैं। कठिन परिषह और भीषण उपसर्गों को समभावपूर्वक बिना व्याकुल हुए सहन करते हैं। और ध्यान में लीन बनते हैं। अंतमें घन-घाति कर्मों का नाश करके केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करते हैं। इन्द्रगण केवलज्ञान महोत्सव मनाते हैं। समवसरण की रचना करते हैं।

बारह पर्षदा में विराजमान प्रभु चतुर्मुख से मालकोष राग में देशना देते हैं। सब प्राणिगण अपने जातिगत वैर-जहर को भूलकर प्रेमसे उनकी अमृतमयी देशना का पान करते हैं।

इस अमोघ और अमृतमयी देशना का श्रवण करके कितने ही भव्य जीवन में सम्यग्ज्ञान का प्रकाश पाकर चारित्र ग्रहण करके भवसमुद्र से पार होते हैं।

उनमें गणधर बनने योग्य आत्माएँ भी होती है। परमात्मा उनको गणधर पद से विभूषित करते हैं और इस प्रकार तीर्थस्थापना, संघस्थापना और गणधर पद की प्रतिष्ठा करते हैं। श्री तीर्थंकरदेव गणधरों के मस्तक पर हाथ रखते हैं। तब बीजबुद्धि के स्वामी गणधर भगवंतो में पूर्वधर की लब्धि प्रगट होती हैं और ज्ञानावरणीयकर्मका अपूर्व क्षयोपशम होने से गणधर भगवंत अन्तमुहूर्त (दो घड़ी में कुछ न्यून समय में) द्वादशांगी की रचना करने में वे समर्थ होते हैं।

अत्थं भासई अरहा सुत्तं गुंथंति गणहरानिउणा।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ ॥

अर्थ का कथन श्री तीर्थंकर देव करते हैं और गणधर भगवंत उस अर्थ का श्रवण करके सूत्र की रचना करते हैं। श्री तीर्थंकर देवों की अपेक्षा से "अर्थ" यह आत्मागम है और गणधर देव की अपेक्षा से "सूत्र" यह आत्मागम हैं और अर्थ यह अनंतरागम गिना जाता है और उनके शिष्य के लिये अर्थ यह परंपरागम और सूत्र ये अनंतरागम गिना जाता है। जबकि उनके बाद की शिष्य-संतति के लिये सूत्र और अर्थ ये दोनों परंपरागम गिना जाता है। इसीलिये कहा है कि—'आगमस्त्रिविधः आत्मांतरपरंपरभेदात्'।

प्रभु की वाणी चार अनुयोग में विभक्त हैः—

१. द्रव्यानुयोग, २. गणितानुयोग, ३. चरणकरणानुयोग और

४.धर्मकथानुयोग। द्रव्यानुयोगादि की सफलता का आधार चरणकरणानुयोग पर निर्भर हैं।

आगमग्रंथों की अपूर्व देन

प्रथम एक एक सूत्रमें से चारों अनुयोग निकलते थे। परंतु समय के प्रभाव से मतिमंदता के कारण उन चारों अनुयोगों को महाविद्वान सूरि-पुरंदर श्री आर्यरक्षितसूरीश्वरजी महाराज ने पृथक किये।

दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं......' आदि एक गाथा पर चारों अनुयोग किस तरह घटाया गया है उसकी प्राचीन प्रत कुछ समय पूर्व ही स्व. गुरुदेव विजयलक्ष्मणसूरीश्वरजी महाराजश्री के हाथ में आयी थी और उन्होंने वह प्रत मुझे दिखलायी थी। एक ही गाथा में द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग और चरणकरणानु-योग ये चारों योग घटाया जा सकता था। इस वस्तु के सुंदर उदाहरण द्वारा विद्वत्ता पूर्ण विवरण देखके पूर्व के महापुरुषों के अगाधज्ञान को देखकर हृदय उनके चरणों में झुक जाता है। इसप्रकार हमारे परमोपकारी परमात्मा ने गंगा के निर्मल प्रवाह की तरह अस्खलित वाणीका प्रवाह बताया है और गणधर भगवंतो ने उस वाणी के प्रवाह को झीलकर उसकी रचना करके वाचना द्वारा शिष्य-प्रशिष्यादि संतति में लगातार प्रवाहित रक्खा है। आज जो कुछ आगमों के दर्शन हो रहे हैं वह परंपरा से आई हुई अमूल्य देन है। जेसलमेर, पाटण, खंभात और लींबडी जैसे स्थानों में वे दीर्घदृष्टा सूरिपुरंदरों ने हस्तलिखित प्रतों में, ताडपत्रीं में व्यवस्थित रूपसे सुरक्षित रक्खा। जिसका लाभ आज हम उठा सकते हैं। वर्तमान में भी पू. आग-मोद्धारक जैसे महापुरुषों ने वह वारसा भविष्य की पेढी को बराबर मिलता रहे उसके लिये अगाध प्रयास किया है।

श्रमण भगवान महावीरस्वामी के बाद संवत् ९८० वर्ष के आसपास साधुओं को सूत्र कंठस्थ थे। परंतु समय के प्रभाव से बुद्धिबल में और

स्मरणशक्ति में ह्रास होते चला था। बारह बारह वर्ष के भयंकर दुष्काल पड़े। इस परिस्थिति में अपने दीर्घदृष्टा महापुरुष श्री देवर्धिगणि क्षमाश्रमण जिनको एक पूर्व का ज्ञान था, उन्होंने वल्लभीपुर (वला सौराष्ट्र) में ५०० श्रमण भगवंतों को एवं सूरि पुरंदरों को एक किया। दूसरी तरफ मथुरा में श्री स्कंदिलाचार्य महाराज ने उस तरफ के सूरिपुरंदरों को एकत्रित किये और जिनको जितना याद था वह सब व्यवस्थित रूप से ग्रंथस्थ किया और अपने उपर असीम उपकार किया है। पूर्वकालीन पूर्वाचार्य पापभीरु थे। जिससे जहां जहां उनको शंका हुई वहा वहां 'तत्त्वं तु केवली गम्यं–' कहकर समाधान किया है। सूत्रसिद्धांत के विरुद्ध एक भी शब्द जो बोलते थे उनको संघ के बाहर किया जाता था। इस विषय में जरा भी चसमपोसी नहीं की जाती थी। इस प्रकार अविच्छिन्न प्रणाली का होने से सूत्र-सिद्धांतों में जरा भी गोलमाल नहीं हुआ है।

आज जो आगम ग्रंथ विद्यमान है वे जिनेश्वर भगवंत प्ररूपित ही है यह निःसंदेह हकीकत है। इसीलिये ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए जैनधर्म के कट्टर द्वेषी श्री हरिभद्रसूरिजी महाराजा एक समय बोल उठे थे कि—

"हस्तिना ताडयमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरे।
वपुरेव तवाऽऽचष्टे स्पष्टं मिष्टान्न भोजनम्॥"

कहकर वीत्तराग परमात्मा की मूर्ति का मजाक करनेवाले हरिभद्रसूरि महाराजा तत्त्वरुचि और तत्त्वजिज्ञासु थे।

एक समय उपाश्रय के पास से पसार होते समय एक साध्वीजी के मुख से ध्वनित "चक्की दुग हरि पणग......" गाथा उनको कर्णगोचर हुई और उस गाथा का अर्थ उनके समझ में नहीं आने से वे उनके गुरू से उस गाथा का अर्थ समझने के लिये जैन मुनि हो गये। जैन धर्म के पारगामी विद्वान बन गये। फिर भी अपने को "याकिनी महत्तरा सूनु......" के नाम से उल्लेख करते हैं। आखिर में वे महान विद्वान सूरि पुंगव श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज बोल उठते हैं कि :—

कत्थ अम्हारिसा जीवा, दुसम दोस दुसिया ।
हा । हा । अणाहा कह हुंतो न जिणागमे ॥

दुषम काल के दोष से दूषित ऐसे हमको यदि जिनागम न मिले होते तो हमारी क्या दशा होती ? हम कैसे अनाथ होते ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक :

" श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह " भाग दूसरे के फर्मे विद्वान पंन्यासजी श्री पूर्णानंदविजयजी गणिवर द्वारा मुझे पढ़ने को मिले। जैसे जैसे मैं उन फर्मों को पढ़ता गया मन प्रसन्न हो उठा और हृदय हर्षविभोर बन गया प्रत्येक पृष्ठ का बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन किया। उस अवलोकन से पं. श्री पूर्णानंदविजयजी गणि के प्रति मेरे हृदय में बड़ा सद्‌भाव प्रगट हुआ। ऐसे गहन और गंभीर विषय पर आपने शास्त्रसम्मत खूब विशद और मार्मिक चर्चा की है। प्रत्येक विषय का स्पष्टिकरण लोक भोग्य भाषा में अपनी आगवी शैली से किया है। जिससे विद्वान और सामान्य जन को भी यह ग्रंथ उपयोगी सिद्ध होगा। यह निर्विवाद है।

विषय के स्पष्टिकरण में कहीं भी भाषा का मिथ्या आडबंर नहीं है। बल्कि भाव की चमक है। सूक्ष्म अवलोकन है। विशद विवेचन है। भाषा गंगा के प्रवाह की तरह अत्यंत गंभीर-सौम्य एवं सुन्दर है। विषय को प्रस्तावित करने की अद्‌भुत कला है। जिससे पाठक के हृदय में उत्पन्न शंकाओं का अपने आप निराकरण हो जाता है। पढ़ने से मन प्रसन्न हो उठता है। रसभरी रसवती का स्वाद खानेवाले को जो आनंद देता है। उससे भी अधिकतर आनंद इस ग्रन्थ का पठन-मनन एवं निदिध्यासन से प्राप्त होता है। वाचक बिना कहीं रूके प्रवाहबद्ध आगे-आगे पढ़ता ही जाय और अपने आपमें खो जाय ऐसे अपूर्व आनंद का अनुभव इस ग्रन्थ को पढ़ने से होता है।

ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ, वाक्य एवं शब्द पर हृदय की उर्मी के दर्शन

होते हैं। भाषा की भव्यता के और भव्यात्माओं को कुछ प्राप्त कराने की अनोखी तालावेली और तमन्ना के स्पष्ट दर्शन होता है।

'सवि जीव करु शासन रसी, इसी भावदया मन उल्लसी।'

यह पंक्ति जब जीवन में तानेबाने की तरह बुन गई हो तब ही हृदय की गहराई में से अंतर्नाद प्रगट होता है। द्रव्यानुयोग के जटिल, कठिन एव दुर्गम विषय का विशद वर्णन करना और प्रत्येक विषय पर प्रकाश डालना यह तब ही शक्य है जब लेखक को उस विषय का गहरा अनुभव हो, बुद्धि तीक्ष्ण हो, शास्त्रों का तलस्पर्शी ज्ञान हो, सतत-लगातार परिश्रम हो, हृदय में शुद्ध निष्ठा हो, माता शारदा की कृपा हो और गुरु की पूर्ण कृपा (आशीर्वाद) हो तब ही लेखक कामयाब होता है। सामान्य लेख लिखना एक अलग चीज है और तत्वज्ञान जैसे जटिल और गंभीर विषय पर और वह भी सिद्धांत के अनुरुप उनके हार्द तक पहुंचना और लोक भोग्य भाषा में उनको उतारना बड़ा ही कठिन एवं जटिल कार्य है। इसीलिये अनुभवीओं ने कहा है :—

" विद्वान एव हि जानाति, विद्वजन परिश्रमम्।
नहि वन्ध्या विजानाति, गुर्वी प्रसव वेदनाम्।"

साथ ही सरल स्वभावी पंन्यासजी महाराज ने इस ग्रन्थ के निर्माण में बड़ा घोर परिश्रम किया है। खूब ही विद्वतापूर्ण तलस्पर्शी विवेचन दत्तचित्त होकर किया है। इस विषय के जिज्ञासु महानुभावों को यह ग्रन्थ आशीर्वाद रुप होगा।

जिज्ञासुओं के लिये अति उपयोगी साबित होगा। और जैन-जैनेतर जगत में लोकप्रिय होगा। इतना ही नहीं बल्कि कितने ही आत्माओं के समकित निर्मल बनाने में और श्रद्धा को पक्का करने में महत्त्वपूर्ण कार्य करेगा। तदुपरांत निर्जरा का भी हेतु होगा।

ऐसा सुंदर विश्लेषात्मक द्रव्यानुयोग के निधिस्वरूप ग्रन्थके निर्माण

कारण विद्वान पंन्यासजीश्री हम सबके अभिनंदन के अधिकारी बने हैं। मैं पुनः पुनः उनका अभिनंदन करता हूँ। और उनके पांडित्यकी कद्र करता हूँ।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के निर्माण में वे पूर्ण यशस्वी और सफल हुए हैं। कहीं कहीं आपने लालबत्ती (Red Singnal) भी धरी है। और दुर्गम विषय को शक्य उतना सरल बनाने की कोशिश की है।

करीब दो वर्ष पहले जब भगवतीसूत्र सारसंग्रह का प्रथम भाग आपने मुझे सादर भेंट दिया था उस समय मैंने उपलक दृष्टि से ही उसका अवलोकन किया था। परन्तु जब मुझे दूसरे भाग की प्रस्तावना लिखने का सदभाग्य प्राप्त हुआ। तब मुझे उसको पढ़ना ही चाहिये तब ही मैं उस पर दो शब्द लिखने की क्षमता रख सकता हूँ दूसरा भाग पढ़ने के बाद मुझे यह भास हुआ कि पहला भाग मैंने नहीं पढ़ा यह ठीक नहीं किया और प्रथम भाग जल्दि पढ़ जाने का इस दूसरे भाग ने उत्तेजित किया।

श्री भगवतीसूत्र और उसकी व्याख्याएं :—

द्वादशाङ्गी में यह भगवतीसूत्र पांचवां अंग है। जिसका मुख्य नाम 'विवाह पन्नती' है। उसके पहिले ४१ शतक और दस हजार उद्देशाए थे। और दो लाख अठयासी हजार पद थे।

यहां पद याने 'विभक्त्यन्त पदं' नहीं समझना लेकिन यहां एक पद में करीब एक्कावन करोड़ श्लोकों का समावेश होता है। ऐसे दो लाख अट्ठाईस हजार पद हैं। वर्तमान में भी तीन भाग में १२००–१३०० पृष्ठ जितना है। जिसमें लब्धिनिधान श्री गौतमस्वामीजी अन्य साधु-साध्वीजी, श्रावक-श्राविका और अन्य तीर्थिकों के पूछे हुए छत्तीस हजार प्रश्नों का उत्तर भगवान श्री महावीर देव ने अपने श्रीमुख से दिये हैं। जिसमें छत्तीस हजार दफे भगवान महावीर और गौतमस्वामीजी का पुण्य नाम-

धेय आने के कारण यह भगवतीसूत्र अत्यंत पूजनीय एवं आदरणीय बना वर्तमान में भी जहां-जहां जब-जब विद्वान गुरुदेव श्री भगवतीसूत्र के उपर वाचना देते हैं तब भक्तगण अत्यंत भक्ति एवं आदरपूर्वक विधिविधान के साथ भगवतीसूत्र का श्रवण करते हैं।

श्री भगवतीजीसूत्र के उपर विवेचनात्मक अनेक ग्रंथ प्रकट हुए हैं। उनमें आगमोद्धारक पूज्य सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज द्वारा प्रकाशित भगवतीसूत्र पांडित्यपूर्ण सूत्रों का विशद स्पष्टीकरण के साथ श्रेष्ठ ग्रंथ है।

परम गुरुदेव पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजयलब्धिसूरीश्वरजी महाराज द्वारा लिखित भगवतीसूत्र दो भागों में प्रकाशित हुआ है। प्रथम भाग में मंगलाचरण के सिर्फ एक ही श्लोक पर विस्तार से चर्चा की है। जबकि दूसरे भाग में जयकुंजर हस्ती के साथ बराबरी करने में ही ५०० पृष्ठ पूरे होते हैं। वैसे ही पूज्य विद्वद्वर्य जैनाचार्य श्री विजय-धर्मसूरीश्वरजी महाराज ने भगवतीसूत्र के उपर दिये हुए व्याख्यानों का एक बड़ा ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। जो तत्त्वज्ञान से परिप्लावित अत्यन्त रसप्रद एवं साहित्यिक भाषा में लिखा हुआ है।

जबकि विद्वद्वर्य ऋजुस्वभावी पन्यासजी श्री पूर्णानंदविजयजी गणि (कुमार श्रमण) द्वारा प्रकाशित प्रथम खण्ड में तत्त्वज्ञान का खजाना ही उलट देने में आया है। जिसमें पांच शतक के अनेक उद्देशाओं का विशद एवं विस्तृत विवेचन है।

इस प्रस्तुत दूसरे खण्ड में छट्ठे शतक से ११ वें शतक तक के अनेक उद्देशाओं के विषय को मद्दे नजर रखकर बड़ा मार्मिक होते हुए भी सरल भाषा में विवेचन किया गया है। यह एक आकर ग्रंथ जिज्ञासु एवं तत्त्वपिपासु भव्य आत्माओं के लिये एक आशिर्वाद रुप है।

वास्तव में ये दोनों भाग अत्यंत उपयोगी एवं बोधप्रद हैं इसमें जरा भी शंका का अवकाश नहीं है।

इसप्रकार की पद्धति का अनुकरण करके आगे के भी भाग लिखे जायेंगे तो बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे।

भगवतीसूत्र के ११ शतक तक के दो भागों की भेट समाज़ के आगे रखकर पन्यासजी महाराज ने साहित्य की बड़ी सेवा की है।

मेरा बार बार आपको आशीर्वाद है कि आप अपने ध्येय को लक्ष्य में रखकर आगे के भाग भी तैयार करे।

अंत में सभी जीव मननपूर्वक इस ग्रंथ का अभ्यास करके जैन शासन के हार्द को समझे और अपना कल्याण करे यही अभिलाषा।

(गुजराती का हिन्दी में अनुवाद)

सं. २०३३, जेठ सुदि १३
सांताक्रुझ

पू. गुरुदेव विजयलक्ष्मणसूरि
शिष्याणु कीर्तिचन्द्रसूरि

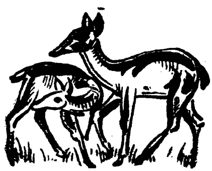

द्रव्य सहायक

५१००	भारतनगर जैन संघ ग्रान्ट रोड,
३०००	चुनीलालजी हीराचंदजी बाफना पेनवाले
२५००	प्रवीणचंद्र धनजी वीलेपार्ला (वेस्ट)
१५००	मद्रासवाले, एस. जोवतराज जैन
१५००	जतनराज, गुलराज, हीरालाल खीचीया घाणेराववाले.
३५००	सादडीवालो की तरफ से. हस्ते हरखचंदजी सेसमलजी.
७०१	शा. दीपचंदजी सजमलजी राठोड.
५००	चंदनमलजी कस्तूरचंदजी राठोड
५००	विमलचंदजी सागरमलजी राठोड
५००	शा. दौलतराम वनाजी राठोड पेण
४००	फूटरमलजी हिंमतमलजी बाफना सादडी
२५१	शा. नगराजजी मेघराजजी बाफना
२५१	शा. विमलचंदजी फूलचंदजी
२५०	सागरमल वीजयचंद
२००	भिकमचंद बछराज

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशकीय निवेदन ५
लेखकीय निवेदन ७
स्व. विजयधर्मसूरिजी का जीवनवृत १३
प्रस्तावना १७
विषयानुक्रमणिका २७
शुद्धिपत्रक ३५

शतक ६

वेदना, निर्जरा तथा करण १
जीव तथा करण १०
वेदना और निर्जरा १५
वेदना तथा निर्जरा का साहचर्य १५
जीव का आहार १७
महाकर्म तथा अल्पकर्म २१
पुद्गलों का उपचय प्रयोग से २४
जीव की सादि तथा सान्तता का विचार २८
कर्म तथा उनकी स्थिति २९
कर्मों के बंधक जीव ३३
पुरुषवेद ३८
स्त्रीवेद ३९
नपुंसक वेद ४०
वेदों का अल्प बहुत्व ४३
जीवों का सप्रदेशादि विचार ४४

प्रत्याख्यान और आयुष्य ४६
तमस्काय ५०
कृष्णराजी ५१
तमस्काय क्या है ? ५३
तमस्काय के पर्याय ५३
मारणांतिक समुद्घाती का आहारादि ५५
मरण समुद्घात ५६
अनाज की योनिएं कहां तक ? ५८
उपमेय काल की गिनती ५९
पृथ्वी के नीचे क्या है ? ६१
कर्म तथा देव की विकुर्वणा ६२
जीव ६५
सुखदुःख का अनुभव ६५

शतक ७

जीव किस समय में आहार बिना का होता है ? ६८
उपाश्रय में सामायिकस्थ श्रावक को क्रियाएँ लगती हैं ? ६९
अप्रशस्त लेश्या ही हिंसा का कारण बनती है ७१
व्रतधारी की भक्ति का लाभ कितना है ? ७२
सिद्ध की गति किस तरह और कैसी ? ७३
(बन्ध छेद, गति परिणाम, पूर्व प्रयोग)
दुःखी जीव ही दुःख से व्याप्त है ? ७४
उपयोग बिना चलनेवाला मुनि ७४
मुनि को क्या सुप्रत्याख्यान है ? ७९
पच्चक्खाणसंबंधी प्रश्नोत्तर ८०
जीव शाश्वत है ? अशाश्वत है ? ८४
(अन्य मतावलंबीओं से चर्चा)

वनस्पति के जीव अल्पाहारवाले कब ? ९०
नरकगति का जीव क्या अल्पकर्मी है ? ९१
छट्ठे आरे का भाव ९८
आश्रव तथा संवर का स्वरूप १०२
कामभोग आदि का स्वरुप १०३
शब्द तथा रूप काम है १०३
गन्ध, रस और स्पर्श भोग है १०४
अमनस्क का अकाम निकरण ११२
हाथी तथा किडी के जीव की समानता ११५
१० प्रकार की संज्ञा ११६
असंवृत अनगर की वैक्रियलब्धि १२०
चेटक तथा कोणिक का कथात्मक वर्णन १२०
(महावीरस्वामी के समय की ऐतिहासिक स्थिति)
अन्य मतावलंबीयों के साथ अस्तिकाय की चर्चा १२१

शतक ८

कर्मसत्ता की सर्वोपरिता १३४
शरीर के निर्माण में पुद्गलो की शक्ति १३५
स्वशरीर की माया १४२
हिंसा १४३
स्पर्शेन्द्रिय १४४
इन्द्रियों की प्राप्ति १४४
एकेन्द्रिय का कारण १४५
आशीविष १४१
छद्मस्थ दश पदार्थ को नहीं जानता १५०
ज्ञानविषय प्रश्नोत्तर १५०
हे प्रभो ! ज्ञान के कितने प्रकार हैं ? १५१

अज्ञान कितने प्रकार का है ?	१५३
लब्धिविषयक प्रश्न	१५८
ज्ञानलब्धि के पाँच प्रकार	१५८
दर्शनलब्धि	१५९
चारित्रलब्धि	१६०
चारित्राचारित्रलब्धि	१६०
दानलब्धि	१६१
लाभलब्धि	१६१
भोगलब्धि	१६२
उपभोगलब्धि	१६३
वीर्यलब्धि	१६४
चारित्रलब्धि के पांच भेद	१६५
वीर्यलब्धि के तीन भेद	१६७
इन्द्रियलब्धि के पांच भेद	१६८
वनस्पतिसंबंधी प्रश्नोत्तर	१६९
वनस्पति जीवों का उपकार	१७०
मानव की मानवता तथा दयालुता	१७१
जीवों की अभेद्यता	१७५
क्रियाओं का अल्पबहुत्व	१७७
मंखली गोशाल	१८०
प्राणातिपातादि की विरति	१८३
मुनिराजों की वैयावच्च का फल	१९१
श्रावकों के लिये दानधर्म की उपादेयता	१९१
दानादि धर्मो में कार्यकारणता	१९७
सेवित अकृत्य स्थानों की वक्तव्यता	२०१
क्रियाओं की वक्तव्यता	२०४

अन्य धर्मीओं के साथ की चर्चा	२०९
गतिप्रपात अध्ययन	२१४
गुरु आदि के प्रत्यनीक	२१६
इहलोक प्रत्यनीक	२१८
इन्द्रियें दुर्जेय क्यों है ?	२२०
उभयलोक प्रत्यनीक	२२२
पाँच प्रकार का व्यवहार	२२६
ऐर्यापथिक बंध	२१८
ऐर्यापथिक कर्म को कौन बांधता है ?	२२९
परिषहसंबंधी वक्तव्यता	२३४
जम्बूद्वीप के दोनों सूर्य की वक्तव्यता	२४२
पुद्गलों के बंध की विस्तृत विवेचना	२४५
भाजन प्रत्ययिक बंधन क्या है ?	२४९
कामण शरीर प्रयोग बंधन कितने ?	२५५
ज्ञानावरणीय कार्मण बंध	२५६
मोरनीय कार्मण शरीर बंध	२५१
नारकायुष्य कार्मण शरीर बंध	२५९
मनुष्यायुष्य कार्मण शरीर बंध	२५९
अन्ययूथिको के साथ चर्चा	२६०
(ज्ञानक्रिया की चर्चा)	
आराधना के भेद	२६४
(ज्ञानदर्शन चारित्रादि आचार चर्चा)	
पुद्गल परिणाम	२६९
आठकर्म	२१०
श्रीवभी फद्गल हैं क्या ?	२१३
जम्बूद्वीप (क्षेत्रोमें नदीओंकी संख्या)	२१५

सूने बिना भी धर्मादि प्राप्त करते है क्या ? २१९
(तीर्थंकर, जिन प्रज्ञप्त धर्म, बोधिलाभ
अनगारधर्म, ब्रह्मचर्य धर्म मैथुन के आठ प्रकार
संवरधर्म, पांच ज्ञान आदि की चर्चा तथा उनकी
प्राप्ति का मूल कारण
कर्मो का क्षयोपशम
बीमार, मूर्दा तथा उंघादिल २९२
अवधिज्ञान की वक्तव्यता २९६
जीवों के प्रवेश तक ३००
(चारे गतिओं के प्रवेश चर्चा)
गांगेयमुनि के दूसरे भी प्रश्न ३०६
ब्रह्मदत्त, देवानंदा तथा जमाली चरित्र ३१४
किल्बिशिक देवो का वर्णन ३२९
एक जीव के हत्यारे को दूसरे जीवों का वध लगेगा ? ३३१
अचित्त पानी किसलिए ३३२
ऋषि हत्या का पाप ३३३

शतक १०

दिशा के लिए कथन ३३६
दिशाओं में जीव की वक्तव्यता ३३१
शरीरों की वक्तव्यता ३४०
सिध्दों के शरीर नहीं हैं ३४०
ईश्वर कर्म की फलदाता नहीं ३४२
क्रिया संबंधी प्रश्नोत्तर ३४१
योनि विषयक प्रश्नोत्तर ३५०
वेदना कितने प्रकार की है ३५३
पानीकाय जीव का घात ३५५

तीसरे प्रकार की तीन वेदनाएँ	३५१
औपक्रमिकी वेदना	३५९
देवस्वशक्ति से कितने देवावासो का उल्लंघन करता है ?	३६०
देवावासो के उल्लंघन का नियम	३६२
घोडे के पेट का वायु	३६२
प्राणाधार में वायु की मुख्यता (पांच प्रकार के वायु का विचार)	३६२
विहार और निहार	३६४
स्वरोदय विज्ञान	३६४
चन्द्रनाडी में करने के कार्य	३६९
सूर्यनाडी में करने के कार्य	३७०
प्रज्ञापनी की भाषा	३७१
त्रायस्त्रिंश देव का अधिकार	३७५
इन्द्र अपनी सभा में दिव्य भोग करते हैं क्या?	३८०
शक्रेन्द्र की सभा कहाँ हैं?	३८३
उत्पलादि संबंधी विस्तृत चर्चा	३८६
शिवराज ऋषि की वक्तव्यता	४०९
सिध्द के जीव कौन से संघयण से मोक्ष जाते है? (छः प्रकार के संघयण की चर्चा)	४११
शरीर के बिना सुख कैसा?	४२५
लोकसंबंधी वक्तव्यता	४२८
भव्य शरीर नो आगम से द्रव्यलोक	४२९
सम्यकत्वरुप औपशमिक भाव	४३५
सम्यकचारित्र भाव	४३६
क्षायिक भाव	४३७
क्षायोपशमिक भाव	४३९
पारिणामिक भाव	४३९

लोक और अलोक का परिणाम	४४३
सुदर्शन सेठ का वर्णन	४४६
प्रमाणकाल	४४९
यथायु निवृति काल	४५१
मरणकाल	४५२
अध्दाकाल	४५२
सेठ के पूर्वभव का वृतांत	४५२
सुदर्शन सेठ की सिध्दिगमन की वक्तव्यता	४५६
महाविदेहादि क्षेत्र	४६१
ऋषि भद्र पुत्र तीसरे भव में मोक्ष	४६३
श्रमणोपासक कौन?	
साधु धर्म तथा गृहस्थ धर्म	
साधु धर्म की पूर्व भूमिका	
तीनो आश्रम का जीवनदाता गृहस्थाश्रम	
पुद्गल परिव्राजक की सिद्धि वक्तव्यता!	

शुद्धिपत्रक

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
काम अते	काम आते	१४	८
से कर	से	२२	२४
आगति सतद्दि	आगति से सादि	२९	५
की	सिध्द् गति की	२९	५
चराचर	०	३१	९
दुःखी से दुखो	दुःखों से दुखी	४२	९
प्रात्या	प्रत्या	४९	४
प्रत्या	प्रत्या	४९	५
सहस्त्र	सहस्त्र	५१	२१
संमूर्हित	संमूर्च्छित	५१	२३
भराहुए	भराहुआ	२९	१०
मुहूत	मुहूर्त	५८	१२
कयाष	कषाय	७१	१५
दुस्त्ज्य	दुस्त्याज्य	७३	६
से उंचे	उंचे	७४	१३
कमा	कर्मो	७४	१४
प्रत्याख्य	प्रत्याख्यान	१९	६
तिर्यंचों भी सर्व विरति को	तिर्यंचों को भी सर्वविरति	८३	२१
पापकमा	पापकर्मो	८७	३
की वाक्यता	की एक वाक्यता	८७	३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
रोजगार	रोजगार में	९८	११
स्वभि	स्वाभि	१०९	२
भगवान	भगवान ने	११९	२२
शूय	शून्य	१२४	१६
भायख	भाग्य	१२४	२४
सकरणीय	सत्करणीय	१३१	१६
गगित	गति	१३१	२४
पूर्णपर्याप्त	पर्याप्तिपूर्ण	१३९	७
जीत	जीव	१४६	१२
ज्ञान वरणी	ज्ञानावरणीय	१५३	१२
यादा	दाप्ता	१५५	९
आज्ञनी	अज्ञानी	१५९	२४
असंयम	संयम	१६०	२२
धन	भाव	१६१	१४
नीर्या	वीर्या	१६४	१९
तलास	तलाय	१९०	२२
हुणद्र	हुणड्	२१२	३
दुर्जय	दुर्जय	२२०	१४
ज्ञान	ज्ञानी	२२९	२०
सांय	सांप	२३४	२४
विडड	विड	२३६	९
संमय	संयम	२३८	३
पर	ऐसा	२३९	२४
गांसडीओं	गांसडिओं को तथा	२५१	१
आत्माने	आत्मा	२६४	१६
१३–१५ वीं लाइन का	०	२८२	१५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
भगाने के लिये तक			
सम्यन्	सम्यग्	२८८	३
आपरणों	आवरणों	२९१	३
मतज्ञान	मतिज्ञान	२९४	१३
क्षयोपम	क्षयोपशम	२९४	१७
देऋकर	देखकर	३१४	४
उपशय	उपशम	३२२	१६
हवते	हनते	३३२	१८
पौरण्य	पौरस्त्य	३३७	१
संगुली	अंगुली	३४६	५
रवि	रति	३४८	२५
का परस्पर	द्वारा	३५३	१५
भूमि को	भूमि की	३५३	१६
पूर्वभम	पूर्वभव के	४५३	१७
सेवा हर	से बाहर	३६८	२
जैनयार्थो	जैनाचार्यो	३६८	१८
मर्ग	मार्ग	३८१	२४
आहारक	अनाहार	३९१	१९
सक्षालक	प्रक्षालक	४१०	६
तपा	तया	४११	४
नदन	नंदन	४१२	११
बना	बनाकर	४१२	१४
खादिय	खादिम	४१२	१९
पांच	पात्र	४१४	३
कष्ठ	काष्ठ	४१७	७
न्योग्रोध	न्यग्रोध	४२०	२३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
शाश्वतकँ	शाश्वत	४२५	१२
वह	उसका	४३०	४
भृत	भूत	४३६	७
भरमाया	फरमाया	४४४	८
संगत	संगीत	४४५	११
ऋषभदत्त	ऋषिभद्रफम	४५८	१
विरस्कार	तिरस्कार	४५९	१७
क्षेत्र	क्षेत्रों से भरत	४६१	९

लेखक के बाफना कुटुंब का परिचय

भारत देश के राजस्थान प्रांत में, अरवली पहाड़ की तलेटी तथा राणकपुर महातीर्थ की छत्रछाया में पाली जिलान्तर्गत "सादड़ी" नाम का शहर है। उसमें वडावास अपने ढंग से निराला वास हैं। जिसमें 'डुंगाजी बाफना' का कुटुंब दयालु, दानी सत्यप्रेमी तथा सात्विक था ! उनके दो पुत्र थे (१) जेकाजी (२) भेराजी।

उसमें से जेकाजी के सखाजी, डोवरजी, रामचन्द्रजी, नेमीचंदजी तथा चन्दरभाणजी नाम के पांच पुत्र थे! डोवरजी के दो पुत्र चन्दनमलजी तथा हीराचंदजी। हीराचंदजी के पुत्र चुनीलालजी बाफना जो अपने पुरुषार्थ तथा सात्विक जीवन से पेण (कुलाबा) के प्रतिष्ठित नागरिक हैं। रामचन्दजी के पुत्र का नाम देवराजजी है। तथा नेमीचंदजी के भभूतमल, दलीचंद, पुखराज तथा फूटरमल ये चार पुत्र थे! उसमें से पुखराजने आज से ४२ वर्ष पूर्व, छोटी उम्र में ही शासनदीपक मुनिराज के चरणों में करांची (सिंध) में दीक्षित हुए, न्याय व्याकरण काव्य कोष तथा आगम शास्त्र के ठोस अभ्यासी बनने पाये ! और पूर्णानन्दविजयजी (कुमारश्रमण) के नाम से प्रसिध्द हुए, जो इस ग्रन्थ के लेखक हैं।

भभूतमलजी के मांगीलाल तथा जीवतराज दो पुत्र हैं। फूटरमलजी के पुत्र का नाम जयंतीलाल बाफना है।

भेराजी के पुत्र मूलचन्दजी उनके पुत्र करमचंदजी बाफना हैं। करमचंदजी के तीन पुत्र हमीरमल, फतेचंद तथा कपूरचंद। उसमें से फतेचन्दजी दीक्षित, शिक्षित हुए और जैनाचार्य श्री विजयह्रींकारसूरिजी के नाम से प्रसिध्द है। आप श्री व्याख्याता होने पर भी तपस्वी है।

कपूरचंदजी अच्छे तथा सात्विक व्यापारी है। हमीरमलजी बम्बई के सोने चांदी के व्यापार में प्रसिध्द हैं। जूदे जूदे स्थलोंपर सिध्दचक्र पूजन शान्ति स्नात्र संघयात्रा, तपस्वीओं के पारणे उपरांत स्वामी भाईओं के भी सहायक रहे है।

आज इस प्रस्तुत ग्रन्थ की २५० नकले श्रीमान चुनीलालजी बाफना ने अपने पूज्य पिताजी की पुण्य स्मृति में ली हैं एतदर्थ उनको तथा पू. पंन्यासजी के द्रव्य कुटुंब को धन्यवाद.

२०३५ आसो पूर्णिमा —प्रकाशक

वंश-परिचय

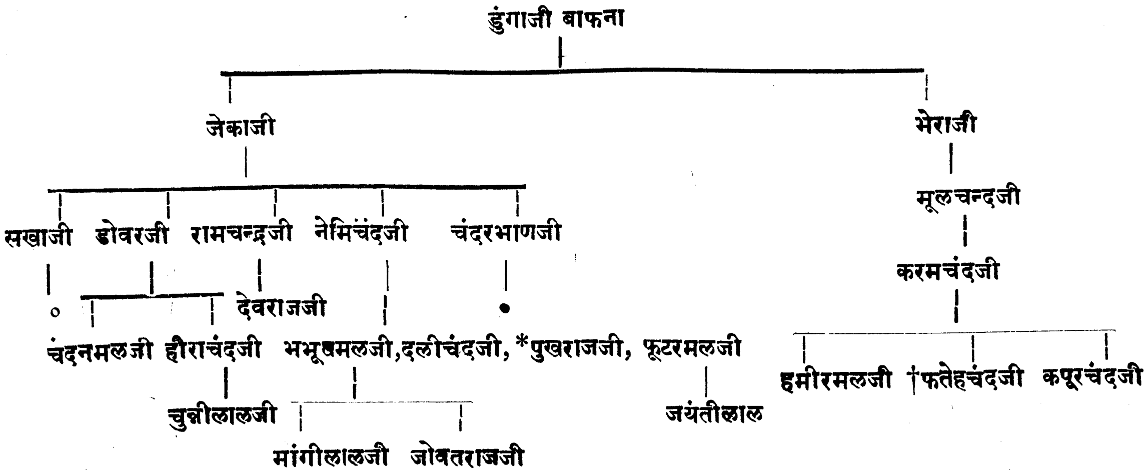

*(वर्तमान में प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक पं. श्री पूर्णानंदविजयजी (कुमार श्रमण)

†वर्तमान में ह्रीकारसूरीश्वरजी

॥ श्री ॥

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

श्री विजयधर्मसूरीश्वर गुरुदेवाय नमः

॥ श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह ॥

[भाग २]

शतक ६ उद्देशक—१.

वेदना, निर्जरा और करण :

इस उद्देशक में वेदना निर्जरा और करण आदि का वर्णन है। सार यह है :—

जो जीव महावेदना वाला हो वह महानिर्जरावाला होता है और जो महानिर्जरावाला हो, वह महावेदनावाला होता है। इसमें जो जीव प्रशस्त निर्जरावाला हो, वह उत्तम है।

छठी और सातवीं पृथ्वी में नैरयिकों अर्थात् नर्क के जीव बहुत वेदना वाले होते हैं तथा श्रमग निर्ग्रन्थो की अपेक्षा से अधिक निर्जरावाले नहीं होते हैं। ❖१

❖१ भगवतीसूत्र का यह छठा शतक प्रारंभ होता है जिसमे १० उद्देशक है। जगत के जीवों को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो; इसलिये गणधर श्री गौतमस्वामी के पूछे गये प्रश्नों के जवाब भगवान श्री महावीर स्वामी स्वयं अपने मुख से फरमाते हैं। प्रश्न इस तरह है :—

(१) क्या जो महावेदना भुगतने वाला हो, वह महानिर्जरावाला होता है ?

(२) जो महानिर्जरावाला हो, वह महावेदनावाला होता है ?

(३) महावेदना और अल्प वेदना के स्वामी में से जो प्रशस्त निर्जरा-वाला हो क्या वह उत्तम है ?

जीव स्वयं के किये हुए कर्मों के कारण रोग, शोक, संताप तथा आधि व्याधि और उपाधियों की भयंकर से भयंकर वेदना भुगतते है वे महावेदना वाले कहलाते है जिसमे निर्जरा की अल्पता और अतिअल्पता भी हो सकती है और तीव्र वेदना भी हो सकती है।

स्वयं की आत्म शक्ति के द्वारा कर्मों को विशेष प्रकार से क्षय करने वाला महानिर्जरक कहलाता है अर्थात् यहाँ वेदना की अल्पता भी संभावित हो सकती है और तीव्रता भी हो सकती है। जहाँ महावेदना हो वहाँ महानिर्जरा भी होती है। यह प्रश्नों का सारांश है।

अत्यन्त दुर्भेद्य कर्मों की बेड़ी मे फंसे हुए जीवात्मा को अति तीव्रतम मिथ्यात्व का उदयकाल चालू रहने से उसके प्रत्येक प्रदेश में मर्यादातीत मोहवासना का प्राचुर्य होता है। जिससे आत्मा के प्रदेशों में जीवन के अन्तिम सांस तक क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रगाढ़ अवस्था बनी रहती है। उसी से जीवात्मा के अध्यवसाय मानसिक परिणाम बहुत ही क्रूर, निर्दयी, हिंसक और निर्ध्वंस होते है। स्वार्थान्धता के कारण उसकी लेश्याओं में कृष्ण लेश्या अधिक मात्रा में होती है। ज्ञान और विवेक के दीपक करीब करीब बुझ गये होते है। ऐसी परिस्थिति में यह जीव जो क्रिया करता है उस में पूर्ण रूप से तल्लीन होने से उसको आगे-पीछे का लेशमात्र भी ध्यान नहीं रहता है। ऐसा मिथ्यात्वी जीव वैर के जहर में ज्ञानरहित बनकर निर्दयता से दूसरों की हत्या करेगा। मुझे झूठ बोलने से दूसरों को बहुत नुकसान होगा, भूखा मरना पड़ेगा तथा बेमौत मरना पड़ेगा उसकी भी उसको बिलकुल परवाह नहीं रहती है।

चोरी करनेवालों में भी कितने ही तो महाक्रूर और निर्दयी होते हैं।

एक गांव में से छः मनुष्य चोरी करने निकले हैं। सभी का इरादा चोरी करने का है, यह सत्य है, परन्तु सभी के मन के परिणाम समान नहीं होते हैं। उसमें से एक कहता है कि अपन सब गांव के चारों ओर सूखे कांटे, घास, लकड़ी आदि रखकर आग लगादे जिससे कोई बच नहीं सके और सभी का धन ले जाय और जो श्रीमंत बच गये हो उनके घर जाकर उनके बाल बच्चों, स्त्रियों और वृद्धों को बंदूक की गोली से मार डालें और उसका सर्वस्व लूट ले तथा जवान स्त्रियों को उठा ले जायें।

इस तरह इस भाई के विचारों में अत्यन्त क्रूरता और निर्दयता भरी हुई है। उसकी यह क्रूरता कितने ही जीवों की हत्या करेगी, मूक प्राणियों को मारेगी और स्त्रियों के ऊपर बलात्कार करेगी।

स्वयं के आनंद के कारण चोरी करनेवाले के इरादे हजारों लाखों और करोड़ों जीवों के साथ मे भयंकर से भयंकर बैर बांधने के कारण बनते हैं, क्योंकि किसी भी निमित्त से मरनेवाला जीव मारनेवाले का कट्टर वैरी बनता है और वह वैर की परम्परा कितने ही काल तक सतत् बनी रहती है।

मैथुन करने में आसक्त जीव के परिणाम भी देखने लायक होते है। वे सोचते है मेरे पास अत्यधिक धन है, सत्ता है, मै जवान हूँ, रुपवान हूँ ईश्वर ने मुझे भोग का आनंद लेने के लिये ही जन्म दिया है। मैं भोग में मस्त बनकर स्त्री को बीमारी या दूसरे दुःखों की भी लेशमात्र परवाह नहीं करुगां। एक मरेगी तो दूसरी तथा तीसरी शादी कर लूंगा। मेरे लिये स्त्रियों की कमी नहीं है क्यों कि भोग का आनंद लेने के लिये ही मै जन्मा हूँ।

स्त्री के शरीर की सुंदरता कायम रखने के लिये गर्भ हत्या करनी हो तो भी यह मेरे लिये असंभव नहीं है। बच्चे को भी शीशी के दुध पर रख लंगा परन्तु स्त्री की जवानी तथा स्तनों की कठिनता–सुंदरता हमेशा बनी

रहनी चाहिए। मैथुन में आसक्त जीव किसी बात की परवाह नहीं करता है अभी तो पहला बच्चा मां का स्तनपान कर ही रहा है तो भी वह स्त्री संभोग मे लीन बनकर वापस गर्भधारण करायेगा और मांस, अडे, शराब आदि अभक्ष्य भोजन का सेवन करेगा और बच्चों का भविष्य बिगाड़ेगा।

इस तरह जीव मैथुन कर्म में अन्धा बनकर असंख्य, जीव, स्वयं की संतान, स्त्री और अन्त में सभी सत्कर्मों का नाश करने के लिए तैयार हो जाता है।

जो मनुष्य परिग्रह को बढ़ाने में अंधा बना हुआ है उसके पास मानवता का लेशमात्र भी अंश नहीं रहता है। कहा है कि–"लोभाविष्टो नरो हंति मातरं पितरं तथा" लोभ में आसक्त बना हुआ मनुष्य माता-पिता की हत्या करते हुए भी हिचकिचाता नहीं है। संपूर्ण जीवन मोहराजा के साम्राज्य में समाप्त करता है और तीव्रतम कर्मों का उपार्जन करता है। ऐसे जीवों को स्वयं के कर्मों का फल कभी कभी तो दस गुना, सौ गुना, हजार गुना तथा करोड़ों गुना से भी अधिक भुगतना पड़ता है। उस समय उनके कर्मों की निर्जरा बहुत ही अल्प होती है।

इसलिए जिस जीवात्मा ने अत्यंन्त मलिन भाव से कर्मों का बंधन किया है वे कर्म इतने प्रगाढ़ और चिकने होते है कि उनको भुगतनेपर भी नाश नहीं होते है। जिस प्रकार रेशम की डोरी में दो चार गांठ लगाकर उसके दोनों सिरों को जोर से खींचकर तेल तथा गन्दे कीचड़ में डालकर उसको सुखा ले फिर उन गांठों को खोलने में बहुत प्रयत्न करे तो भी वे खुलनी कठिन लगती है उसी प्रकार प्रगाढ़ तथा चिकने बंधाये हुए कर्म बहुत मुश्किल से भी नाश नहीं होते है।

हलवाई या तेली के कपड़े इतने गन्दे हो जाते है कि उनको स्वच्छ करने के लिए सनलाइट की बट्टी भी काम नहीं आती है। कपड़ा फट जायगा परन्तु साफ नहीं होगा। उसी तरह महामिथ्यात्व से बंधे हुए कर्म भी उतने ही चिकने होते है।

(१) मिथ्यात्व के गहरे रंग में रंगे हुए जीव के हिंसक परिणाम भी महाक्रूर होते है।

(२) असत्य व्यवहार—व्यापार में भी वे निर्दयी होते है।

(३) चोरी का काम भी हमेशा दूसरों को हानि पहुंचाने वाला ही होता है।

(४) मैथुन कर्म भूंड और गर्दभ से भी बहुत भयंकर होता है।

(५) परिग्रह कर्म में राक्षस की तरह निर्ध्वन्स परिणाम होते है।

(६) क्रोध असुरों की तरह सत्यानाशी होता है।

(७) मान अजगर की तरह सर्वथा भयंकर होता है।

(८) माया काली नागिन की तरह अत्यन्त विकराल होती है।

(९) लोभ की मात्रा जंगल के दावानल की तरह महाभयंकर होती है।

(१०) राग और द्वेष का मालिक शहद की कटोरी में पड़ी हुई मक्खी की तरह संपूर्ण जिन्दगी तक इतना पागल बन जाता है कि उसकी रागान्धता तथा द्वेषान्धता जीवन के अन्तिम श्वास तक मिटती नहीं है।

रागी मनुष्य साधु का स्वांग कर सकता है परन्तु रागवृत्ति को नहीं छोड़ सकता है और छोड़ने का प्रयत्न भी नहीं करता है। द्वेषी मनुष्य की तो बात ही मत पूछो ? तुमने द्वेषी मनुष्यों को कभी देखा है ? वे सात लाख स्थान में रहे हुए पृथ्वीकाय के जीवों को तो मिच्छामि दुक्कड़म् देने को तो तैयार रहेगे परन्तु धन और विषय-वासना के लोभ में स्वयं के पिता, पुत्र, भाई, माता, सासु, जेठानी, देराणी, पड़ोसी आदि को मिच्छामि दुक्कड़ नहीं दे सकते है। इस प्रकार चुगली करनी, कलह करना, माया-मृषावाद का सेवन करना आदि पाप भी उतने ही तीव्र होते है।

एक सेठ के चार पुत्र थे और चारों की चार कुलवधुएं थीं। एक समय सबसे छोटी पुत्रवधु का सात दिनों के लिए रसोई बनोने की बारी आई। छोटी बहु बहुत स्वरुपवान थी तथा थोड़ी पढ़ी-लिखी थी। वह अपने

को बहुत होशियार समझती थी। उसकी वाणी में कडुवाहट थी तथा हाथ मे कृपणता का वास था, मस्तक में गर्व ने निवास किया था। हृदय में तुच्छता थी तथा पेट में छिछलापन था। एक दिन उसने सासु, ननंद तथा जेठानी के साथ बहुत ही अभद्र व्यवहार किया तथा बाद में रसोई बनाकर निवृत हुई। उस समय उसके मन में यह विचार आ रहे थे कि आज मेरे हाथों की बनाई हुई रसोई जीमकर जेठानी का गर्व चूर चूर हो जायगा, सासु और ननंद का बोलना बन्द हो जायगा और ससुरजी तथा जेठजी तो मेरी प्रशंसा करेगे। यह सोचती हुई उसने भोजन की परीक्षा करने के लिए सब्जी का थोड़ा सा अंश अपनी जीभ पर रखा। जीभपर रखते ही थू-थू करने लगी क्योंकि सब्जी भयंकर कड़वी थी तथा वह समझ गई की सब्जी कड़वी तुम्बी की बनी हुई है पर अब क्या करना चाहिए? उस साग को फेकने में कुछ बिगड़नेवाला नहीं था परन्तु मन की मलिनता तथा जीवन में गर्व की मात्रा अधिक होने से उसके मन में ये विचार उत्पन्न हुए :–

(१) यह सब्जी को सब खायेंगे तो मृत्यु की शरण में जायेंगे जो मुझे पसन्द नहीं है।

(२) सब्जी को फेंक देने में जेठानी का मजाक तथा ननंद का उपालंभ सहन करना पड़ेगा वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है।

(३) घी, हींग जीरा मसाला आदि की हानी होने से पति के व्यंग वचन सहन करने पड़ेगे।

(४) मेरी जानकारी तथा होशियारी पर पानी फिर जायेगा और मेरी पोल खुल जायेगी।

इसप्रकार आर्तध्यान में लीन बनी हुई वह विचार करती है कि कोई तपस्वी मुनिराज यहाँ पधारे तो उनको यह सब्जी वहोरा दूं जिससे मेरी धर्मिष्ठता की प्रसंशा होगी, लोग भी प्रसंशा करेगें तथा जेठानी से भी मेरी इज्जत ज्यादा बढ़ जायेगी।

ऐसे अति तीव्र अज्ञान के अन्धकार में वह स्त्री डूबी हुई है संयोग से उसी समय मासक्षमण के तपस्वी मुनिराज पारणे के लिए वहाँ पधारते है तथा वह स्त्री उस कड़वी तुंबड़ी के साग को वहोरा देती है। स्वयं की भूल छिपाने के खातिर साधु के प्राण लेने में भी उस स्त्री को लेशमात्र भी दया नहीं आई। साधु तो उस साग को खाकर अपने कर्मों की निर्जरा करते हुए मोक्ष में पधारते है। परन्तु उस नारी के मलिन अध्यवसाय आगे बढ़ते जाते हैं और भयंकर से भयंकर निकाचित कर्मो का बंध करती है। फलस्वरूप द्वादशांगी आगम में भी इस बात की साक्षी देते हुए कहते है "इस स्त्री का जीव एक-एक नरक में दो-दो बार गया, सातों नरक में चौदह बार गया तो भी उसके कर्मों की निर्जरा जैसी होनी चाहिए थी नहीं हुई और कितनी ही बार तिर्यन्च योनियों में जन्म लेकर भारी दुःख भुगत चुकी हैं"।

परदेश में बहुत धन कमाकर दोनों भाई अपने देश में आये और एक जगह जमीन में धन गाड़ दिया। बाद में दोनों भाईयों की लेश्या में मलिनता आ गई और धन को हड़पने की भावना उत्पन्न हो गई और गाडे हुए धन के स्थान पर दोनों भाई डंडे से घमासाम रूप लड़े तथा बेमौत मर गये। इस तरह नौ भव तक हिंसक योनी में जन्म लेकर मारपीट में भव पूर्ण किये और धन तो अपनी जगह पर ही रहा।

संपूर्ण जीवनभर सत्य बोलनेवाले वसुराजा को सिर्फ एकबार झूठी साक्षी देनी पड़ी क्यों कि संयोग से उस समय उनका विवेक रूपी दीपक बुझ जाने से उनको इतना भी विचार नहीं आया कि–"मैं सत्ताधारी और प्रभावशाली हूँ। मेरा एक-एक वचन अमूल्य होता है। मेरे से दाक्षिण्य-तावश ऐसी साक्षी देने पर संसार के मांसाहारी लोग इस बात को प्रमाण मानकर लम्बे समय तक असंख्य बकरे, पाड़े, कुकडे आदि जानवरों की हत्या करेगें" हुआ भी ऐसा ही कि वसुराजा की झुठी साक्षी से जानवरों को देवी के समक्ष कत्ल करने में आता हैं यह जानवरों की कत्ल की प्रथा

करोड़ो वर्षों' से आज तक चालू है इसप्रकार सिर्फ एकबार असत्य बोलने मात्र से वसु राजा को नरक में भयंकर वेदना भुगतनी पड़ रही है।

कुमारी अवस्था में कन्या तत्त्व के संरक्षण में सावधानी नहीं रखने से श्रीमंत की पुत्री रेवती ससुराल आने के बाद भी अपने सत्य और सदाचार धर्म को टीका नहीं सकती है। उसका पति शतक व्रतधारी होने से स्वयं की १३ स्त्रियों के साथ की मर्यादा पालने में रेवती का नम्बर १२ दिन बाद में आता था। ऐसी मर्यादा पालने में उसका पति सक्षम था उसी प्रकार रेवती को छोड़कर दूसरी १२ स्त्रीयां सत्य सदाचार और शील को ही स्वयं का धन और सर्वस्व समझनेवाली होने से उन्हें पति के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव उत्पन्न नहीं हुआ। जबकि रेवती को स्वयं के पति की इस शील सम्बंधी मर्यादा असह्य लगती थी जिससे उसके मानसिक परिणाम दिन प्रतिदिन बिगड़ते चले गये। ऐसे मलिन और हिंसक विचारों को रोकने की एक भी आत्मिक शक्ति उसमें नहीं होने से उच्च कुल में जन्म होने पर भी उसके विचारों में परिवर्तन आया। वह इस प्रकार है :—

"मैं श्रीमंत की पुत्री हूँ। दहेज में भी अगनित धन राशि लाई हूँ तो भी मेरे लिए वारा? पुरुष रोज मैथुन का सेवन करता है और स्त्री को जबरदस्ती शील पालना है? यह कहाँ का न्याय? मेरा पति मेरी माने या न माने परन्तु मेरे को तो अपना रास्ता सरल कर लेना चाहिए। "इस प्रकार दुर्ध्यान बढ़ता ही गया, रोम रोम में हिंसक भावना उछाला मारने लगी जैसा भी हो किसी तरह मुझे मेरी सभी सौत को यम के द्वार पर पहूँचा देनी चाहिए और मेरा मार्ग सरल बनाना चाहिए। संयोगवश एक दिन चारों स्त्रियों को उपवास के पारणे पर अपने यहां निमंत्रण देती है। पारणेकी सभी वस्तुओं में विष मिलाकर उनको पारणा कराती है जिससे चारों मृत्यु के शरण हो जाती हैं। बाकी आठ स्त्रियों को भी मार डालने में अपने पिता के घर से अत्यन्त गुप्त रूप से गुंडो को बुलाकर आठों सौत को घातक रूप से मरवा डालती हैं।

मैथुन कर्म में अत्यन्त आसक्त बनी हुई रेवती ने केवल स्वयं के वैषयिक सुख की तृप्ति के लिए अपनी सौतों को इस रीतसे मार डालने पर स्वछन्द बनी हुई रेवती का जीवन अत्यन्त कलुषित और मर्यादाहीन बन जाता है। एक पाप दूसरे पाप को आमंत्रण देता है, उस तरह रेवती के जीवन में शराब तथा मांसाहार आदि दुर्गुण भी उसमें आ गये तथा अन्त में मरकर नरक की मेहमान बनी।

परिग्रह बढ़ाने में अत्यन्त लोभी मनुष्यों के दृष्टान्त शास्त्रो में परिपूर्ण रुप से विद्यमान है। काले कामों को करनेवाला धवल सेठ, मक्खीचूस मम्मण सेठ, राज्य सत्ता के दुरुपयोग में ही धर्म माननेवाला दुर्योधन, संपूर्ण जीन्दगी तक दूसरों को लूटने में, उनके राज्यों पर अधिकार करने में, नयी नयी स्त्रियों के साथ शादी करके उनके साथ भोग विलास में जले मस्त बनकर अत्यन्त रौद्र-ध्यान में अपना जीवन व्यतीत करनेवाले सु-भूम तथा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती भी नरक के अतिथि बने।

मनुष्य लोक में जन्में हुए ऐसे मनुष्यों को भी हम देखते हैं कि जिसका शरीर ऐसे भयंकर रोगों से ग्रसित होता है कि जिसको देखने मात्र से ही अपने को दया आ जाती है। असाध्य रोगों से पीड़ित होकर वर्षोंतक तड़फते, रोते, रुलाते तथा भूखे मरते हुए बेमौत मरते हैं। मरते-मरते भी अपने जीवन में रहे हुए अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया तथा लोभ को छोड़ नहीं सकते हैं।

फलस्वरुप नर्क में गये बाद भी परभाधामीयों की असह्य वेदनाओं तथा अत्यधिक मार को सहन करते हैं। यमदुत के डंडे खाते हुए अपना जीवन पूर्ण करते हैं। इस लिए प्रश्नोतर का सरल अर्थ यह है किये क हुए कर्मों के फलरुप महावेदना भुगतते हुए भी जीव महानिर्जरा का मालिक नहीं बनता है, और बनता भी है।

छठवीं और सातवीं नरक भूमिओं में रहनेवाले जीवों को महावेदना

है परन्तु महानिर्जरा नहीं है। उसीप्रकार महानिर्जरा करते हुए जीव को महावेदना होती है और नहीं भी होती है।

गजसुकुमाल, खंधक मुनि, घाणी में पिलाते हुए खंधक मुनि के पांच सौ शिष्य, मेतारज मुनि, तथा महावीरस्वामी स्वयं भी महावेदना भुगतते हुए भी महानिर्जरा के मालिक बने हैं जब कि चंदनबाला, राजीमति, मरुदेवी माता जैसे भाग्यशाली जीव स्वयं के जीवन में अल्प वेदना ही भुगती है तो भी कर्मो को जड़ में से उखाड़कर केवलज्ञान रुपी लक्ष्मी का वरण किया है जो प्रशस्त निर्जरा हैं।

पूर्वभव के कर्मो की सत्ता अत्यन्त विचित्र होने से तथा वर्तमान भव की राग-द्वेष-मोह-वासना तथा माया प्रपंच की भावना भी विचित्र होने के कारण मनुष्य मात्र के अध्यवसाय में तीव्रता-तीव्रतरता और तीव्रतमता होती है। साधन अलग-२ होने से कर्मों के बंधन में तथा उदय में भी अन्तर पड़ता है जिससे किसी कर्म के उदयकाल में वेदना बहुत होती है परन्तु आत्मा की शक्ति दबजाने के कारण कर्मो की निर्जरा बहुत ही अल्प होती है।

किसी कर्मों के उदय में वेदना अत्यधिक भुगतनी पड़ती है तथा साथ-साथ आत्मजागृति संयम आराधना तथा ज्ञान मात्रा प्रचुर होने से कर्मो की निर्जरा भी बहुत होती है।

इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी ने फरमाया और साधक स्वयं के कर्मो की निर्जरार्थ विशेष प्रकार से साधना में सावधान बने।

करण चार प्रकार के होते हैं-मनकरण, वचन करण, काय करण और कर्म करण।

जीव और करण :

नैरयिकों को और पंचेन्द्रिय जीवों को चार प्रकार के करण होते हैं।

एकेन्दिय जीवों को दो करण होते हैं- काय करण और कर्म करण विकलेन्द्रियों को वचन, काय और कर्म ये तीन करण होते हैं।

नैरयिक, अपने करण से अशाता वेदन को वेदते या भुगतते हैं। असुर कुमार, अपने करण से शाता-वेदना का अनुभव करते हैं। इन असुरकुमारों को चार प्रकार के करण होते हैं।

इसी तरह यावत् स्तनितकुमार तक ही भुवनपति के लिए जानना।

विशेषता यह है कि शुभाशुभ करण होने से पृथ्वीकाय के जीव शाश्वद सुख-रुप और दुःखरुप वेदना का अनुभव करते है परन्तु करण के बिना तो अनुभव कर ही नहीं सकते है ❈२

❈२ किसी भी वृक्ष के पत्तों को हम जब ऊपर से देखते हैं तो वह एक समान लगते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने में आवे तो वृक्ष का एक भी पत्ता दूसरे पत्ते जैसा नहीं होता है। थोड़ा बहुत तो फर्क होता है। उसीप्रकार कर्म सत्ता के जाल में फंसे हुए जीव भी एक दूसरे से अलग होते है। क्योंकि जीवमात्र के कर्म अलग-अलग होते हैं। जिससे उसके फलों में भी अन्तर रहेगा ही। शरीर की दृष्टि से थोड़े बहुत मिलते हों तो भी भिन्नता तो रहेगी ही। स्वभाव में भी अन्तर जरुर मिलेगा। स्वभाव में एकता होगी तो शरीर के अंगोपांग में भिन्नता देखने को मिलेगी। दो जीवों की आँख समान होगी तो नाक में फर्क होगा, वजन और लम्बाई समान होगी तो रंगरुप में भिन्नता होगी।

इसप्रकार एक दूसरे से सर्वथा अलग अनंतानंत जीवों की सृष्टि हम प्रत्यक्ष रुप से देखते हैं इसका कारण केवल कर्म की विचित्रता ही है।

भवभवांतर में मोहवासना के वश में फंसकर जैसे-२ कर्मों का उपार्जन किया होता है उसका उदय भी उसीप्रकार से होने के कारण प्रत्येक जीवों की शक्ति अलग-अलग होती है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के अनंतानंत स्थावर जीवों को जिह्वेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के आवरण होने से उन जीवों को जीभ, नाक, आँख और कान इन्द्रियों का सर्वथा अभाव होता है। जबकि संसार में बहुत कम जीवों को जीभ, नाक, आंख और कान इन्द्रियों की पूर्णता नजर आती है जिसमें

भी किसी को मन नहीं मिलता और किसी को विचारशक्ति का अभाव होता है। किसी को कान और आंख मिली है तो पंचेन्द्रिय होते हुए भी गूंगा बनकर अवतरीत हुआ है। शुभाशुभ कर्मो के उदयकाल में सुख तथा दुःख भुगतने के लिए उत्कृष्टतम साधन रुप 'करणों' की प्राप्ति सभी जीवों को अलग-अलग होती है।

पूर्वभव के पुण्य तथा पाप के कारणों से जीवात्मा को इस भव में सुख और दुःख तो भुगतने ही हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि सुख और दुःख यह जीव किस साधनो द्वारा भुगतेगा ? क्यों कि आत्मा स्वयं अमूर्त (आकार-रहित) है।

संसार के स्वरुप को यथार्थ रुप से जानने वाले तथा उसी प्रकार से कहने वाले यथार्थवादी भगवान महावीर स्वामी ने कहाहै–जीवों को सुःख दुःख भुगतने के लिए चार करण होते हैं–(१) मन करण (२) वचन करण (३) शरीर करण और (४) कर्म करण। इन कर्मों के कारण से ही सूक्ष्म निगोद के जीव से लगाकर इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकर भी सुख दुःख के भोक्ता बनते हैं। कहा है :-

"यत्र यत्र कर्मणां कर्तृत्वं तत्र कर्मणां भोक्तृत्वमपि अस्त्येव" अत्यन्त पापकर्मी पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय, वायुकाय तथा वनस्पतिकाय के जीवों को चार करण में से केवल काय करण और कर्म करण ही होते है। दुसरे करण मन करण और वचन करण तो अनंतानंत जीवों के नहीं होता है इसी कारण से स्वयं की असह्य वेदना को जीभ के अभाव में किसी को कह भी नहीं सकते हैं। मन करण के अभाव में मानसिक विचार भी उनके पास नहीं होते हैं। इस प्रकार स्वयं के कर्मो के कारण हमेशा अस्पष्ट वेदना को भुगतते हुए उन जीवों को बहुत लम्बे समय तक वहां ही रहने का होता है।

बेईन्द्रिय, तेईन्द्रिय और चउरिन्द्रिय जीवों को निकृष्टतम पाप के उदय से मनःकरण का अभाव होने से बाकि के तीन करणों से प्रायः करके

अशुभ कर्म ही भुगतने होते हैं।

नरकभूमि में सभी जीवों को ये चार करण अशुभ कर्म भुगतने के लिए ही होते है जबकि औदारिक शरीर को धारण करनेवाले सभी मनुष्यों और तिर्यन्चों को ये चारों करण प्रायः शुभ तथा अशुभ फलों को भुगतने के लिए होते हैं।

कितने ही जीव शरीर करण द्वारा दुःख भुगतनेवाले होते हैं तब शरीर, हड्डियें, चमड़ी, दांत, आँख, नाक तथा रक्त के असह्य रोगों से पीड़ित वें मनुष्य अवतार में भी असह्य वेदना को भुगतते हैं। मनःकरण के द्वारा भयंकर से भयंकर मानसिक वेदना को भुगतते हुए बहुत से धनवान और सत्ताधारी को आपने देखा है? जानते हो? तिजोरी में अगणित धन तथा अशर्फिये उछाला मार रही हो तो भी उनको मानसिक रोग ऐसे लागू पड़ जाते हैं कि जिससे :–

१. दिन और रात का अधिक समय चिन्ता में ही व्यतीत होता है।

२. मानसिक पीड़ा रुपी सन्निपात में ही खाने को बैठते है परन्तु खाना अच्छा नहीं लगता है, प्यास लगती है, परन्तु पानी उनके गले में मुस्किल से उतरता है।

३. घर में चूहे धमाल करते हैं तो भी इन्कमटॅक्स के ऑफिसरों के विचार में अथवा दिल्ली दरबार के आफिसरों की याद के कारण वे बेचारे सुख से सो भी नहीं सकते है। पत्नी क साथ बराबर बात भी कर नहीं सकते हैं, एक पल में मद्रास तो दूसरी पल कलकत्ता भागते रहते है, तीसरे पल सभी बंधनो ले छुटकारा पाने के लिए वासक्षेप डलाने महाराज की शरण में जाते है कभी महुडी घंटाकर्ण की आराधना करते हुए दिखाई देते है तो कभी नाकोड़ा भेरुजी की शरण में जाते हैं।

४. मानसिक व्यथा जब मर्यादारहित हो जाती है तब उसमें से उत्पन्न हुए रोगों के कारण से श्रीमंत और सत्ताधारी केवल दलिये की खिचड़ी को भी नहीं पचा सकते हैं।

जबकि 'मनःकरण' के द्वारा शुभ फल भुगतना होता है तो गरीबी में जन्मे हुए तथा सूखी रोटी खाते हुए भी स्वयं के बच्चों के साथ आनंदपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं।

इस प्रकार करण के माध्यम से ही जीव सुख दुःख भुगतता है इसलिए 'भोगायतनं शरीरष्य' अर्थात शरीर ही कर्मों को भुगतने का साधन है। इतना ध्यान रखना है कि ये करण जड़ होने से स्वयं सुख या दुख नहीं है परन्तु कर्म फलों को भुगतने के साधन हैं।

कर्म करण की विद्यमानता में ही पहले के तीन करण भी विद्यमान होते है। ये 'कर्म करण' नये कर्मों के बंधन में काम ते हैं इसलिए मनुष्य अवतार मिलने के बाद इस जीव के संत समागम और आत्मोउन्नति लिए पुरुषार्थ बल नहीं होगा उनको अशुभ कर्मों की ही बंधन होगा जिससे मन, बचन और काया के तीनों करण द्वारा अशुभ फल भुगतने का होगा। पूर्व भव के कितने ही पाप कर्मों का उदय हो और जीवन महा दुःखदायी हो तो भी वह आत्मा स्वयं की जबरदस्त आत्मशक्ति द्वारा भूख के दुःख समय में तपश्चर्या द्वारा, रोग के आक्रमण के समय आत्म संयम द्वारा और आर्थिक दुःख के अभाव में संतोष भाव को धारण करके तथा कामदेव के सामने कठिन आत्म नियंत्रण आदि शुभ आराधना के प्रताप से आशुभ कर्मों का शुभ भाव में संक्रमण करेगा। यह सब कर्म करण का ही आभार है।

आत्मा की संपूर्ण शक्तियों को दबाने वाले घाति कर्मों का सर्वथा नाश होने के बाद केवल ज्ञानी भगवान को यह 'कर्म करण' सर्वथा कमजोर हो जाने से दूसरे करण भी कमजोर बनते हैं अर्थात उनकी सत्ता नहीं के बराबर ही होती है। शैलेशी अवस्था के बाद सिद्ध अवस्था प्राप्त होते ही सबसे प्रथम कर्म करण नाश होता है बाद में तीन कर्मों की सत्ता भी समाप्त हो जाती है।

अत्यन्त दुःखदायी कर्मों के पिंजड़े में से मुक्ति को पाना इसका

ही नाम अनंत सुख है। औदायिक भाव का संपूर्ण नाश करके क्षायिक भाव पाना ही अनंत सुख है अर्थात दुःख का नाश यही सुख है।

सिद्ध भगवान अनंत सुखी इसलिए हैं कि उनको एक भी करण नहीं है।

वेदना और निर्जरा :

जीवों में कितने ही जीव महावेदनावाले और महानिर्जरावाले होते हैं। कितने ही महावेदनावाले और अल्पनिर्जरावाले होते हैं। कितने तो अल्पवेदनावाले और महानिर्जरावाले होते है और कितने ही जीव अल्पवेदनावाले और अल्पनिर्जरावाले होते हैं।

प्रतिमाधारी साधु महावेदनावाला और महानिर्जरावाला होता है। छठी और सातवीं पृथ्वी में रहनेवाले नैरयिक महावेदनावाले और अल्पनिर्जरावाले होते है। शैलेशी प्राप्त अणगार अल्पवेदनावाला और महानिर्जरावाला होता है। अनुत्तरोपपातिक देव अल्पवेदनावाले और अल्पनिर्जरावाले होते है। ❖२

❖२ वेदना और निर्जरा का साहचर्य :

इन दोनों का साहचर्य इसलिए है कि वेदना निर्जरापूर्वक ही होती है और निर्जरा भी वेदनापूर्वक होती है। भुगते हुए कर्म आत्मप्रदेश से छूट जाय उसे निर्जरा कहते हैं।

गीले वस्त्र पर जिस प्रकार सभी दिशाओं से रजःकण और मैल लगता है, ज्यादा लगता है, तथा वस्त्र और मैल का अणु अणु में एकाकार हो जाता है उसी प्रकार आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर आठ प्रकार की कर्म वर्गणा प्रतिपल लगती रहती है। ज्यादा लगती ही जाती है और दूध तथा शक्कर की तरह एकाकार हो जाती है।

गन्दे वस्त्र को साबुन के पानी में डालिए और उसे कूटिये तो मैल अलग हो जायगा और वस्त्र स्वयं के शुद्ध स्वरुप में आ जायगा। उसी प्रकार कर्म के कारण से आत्मा को भयंकर वेदना भुगतनी पड़ती है। जो मोहवासित आत्मा है वह रोती विलखती, हाय हाय करती हुई कर्म को भुगतती हैं जबकि ज्ञानवासित आत्मा हंसते हंसते भुगतती है। पहली में छठी और सातवी नरक की आत्माएँ है जो भयंकर वेदना भुगतते हुए भी कर्मों की निर्जरा कम करनेवाली होती है दूसरे उदाहरण में प्रतिमा संपन्न मुनिराज है जो स्वयं के कर्मों की निर्जरा के लिए अधिक कष्ट जानकर सहन करते हैं जिससे उनको भी वेदना अधिक होती है साथ-साथ कर्म निर्जरा भी अधिक होते है। शैलेशी प्राप्त मुनिराज को वेदना बहुत ही अल्प होती है और निर्जरा अधिक होती है। अनुत्तरौपपातिक देव को वेदना भी अल्प और निर्जरा भी अल्प होती है।

॥ प्रथम उद्देश समाप्त ॥

शतक छठा उद्देश २

जीव का आहार :

यह उद्देशक आहार सम्बन्धी है परन्तु इस सम्बन्ध की हकीकत "प्रज्ञापना सूत्र" में देखने को कही है।

'प्रज्ञापना सूत्र' के २८ में आहार पद में जीवमात्र के आहार संबन्धी विस्तृत विवरण है। उदाहरण के रुप में—

पृथ्वी वगैरह के जीव जो पदार्थ खाते हैं वे सचित्त है ? अचित्त हैं ? कि दोनों प्रकार के ? जीवों के आहार की अभिलाषा, कौन-से जीव को कितनी-कितनी बार आहार की जरुरत पड़ती है ? आहार के लिए कौन-कौनसी चीज वापरने में आती है ? आहार करनेवाला जीव स्वयं के शरीर द्वारा आहार लेता है कि दूसरी तरह से ? खाने के लिए प्राप्त पुद्गल में कितना भाग खाने में आता है ? खाने के लिए मुँह में गये हुए सभी पुद्गल खाने में आते हैं कि उनमें से कितने गिर भी जाते हैं। खायी हुई चीजों के कैसे-कैसे परिणाम होते हैं ? जो जीव एकेन्द्रियादि जीव के शरीर का भक्षण करते हैं वे किस प्रकार से ? कैसे ? लोमाहार और रोमाहार कौन-सा ? कौन-कौन से जीव किस-किस प्रकार से आहार करते हैं ? अन्त में मन के द्वारा तृप्ति पाते हुए मनोभक्षी देव सम्बन्धी विवरण है। ❖४

❖४ चराचर संसार को स्वयं के ज्ञानचक्षु से प्रत्यक्ष करनेवाले, जीवमात्र की गती, आगति, कर्मवेदना, खुराक आदि के ज्ञाता, द्रव्यमात्र के गुणों तथा भूत-भविष्य और वर्तमान पर्यायों को जाननेवाले समवसरण में

विराजमान भगवान महावीर स्वामी को चार ज्ञान के स्वामी गौतमस्वामीजी ने नरकादि गतियों में बसे हुए जीवों के खुराक (आहार) संबन्धी प्रश्न पूछे हैं जिसको भगवतीसूत्रकार स्वयं 'प्रज्ञापना सूत्र' से जान लेने की सलाह देते हैं।

यें प्रश्नोत्तर राजगृही नगरी में हुए हैं। सातों नरक भूमि मे उत्पन्न हुए नैरयिकों का आहार आभोग निर्वर्तित (इच्छापूर्वक का आहार) तथा अनाभोगिक निर्वर्तित (इच्छा बिना का आहार) दो प्रकार का है। अचित्त पदार्थों के ही आहार करते-करते नैरयिकों को आभोग निर्वर्तित आहार असंख्य समय के अन्तर्मुहूर्त बाद होता है और दूसरे प्रकार का आहार हमेशा होता है। यह आहार अत्यधिक रुप से अनंत प्रदेश परमाणुवाला काले और नीले रंग के, दुर्गन्धमय, तीखे और कड़वे रसवाले, स्पर्श में भारी कर्कश, ठंडे और रूक्ष होते हैं। स्वयं के पास रहे हुए पुद्गलों को संपूर्ण शरीर से खाते हैं। जो पुद्गल खाने के हैं उसमें से असंख्य भाग को खाते हैं और अनंत भाग का सिर्फ स्वाद लेते हैं। खाये हुए आहार के परिणाम से उनकी पांचो इन्द्रियों में अनिष्टता, अकांतता और अमनोज्ञता ही उपजती है। इस तरह नर्क के जीवों के पापकर्म भारी होने से एक भी वस्तु का परिणमन उनके लिए शुभ नहीं बनता है। असुरकुमार से लगाकर वैमानिक देवों तक की बात करते कहा है कि :–असुरकुमारों को एकबार आहार करने के बाद इच्छापूर्वक का आहार एक अहोरात्री बाद होता है और अधिक से अधिक एक हजार वर्ष जाने के बाद होता है।

उनके भोग्य पुद्गल रंग में पीले और सफेद होते है। वे सुगंधी गंधवाले, खट्टे, मधुर रस, कोमल स्पर्श, हलके, चिकने और गर्म होते हैं। भोजन किया हुआ आहार शरीर और इन्द्रियों की सुन्दरता में परिणमता हैं। अनाभोग आहार हमेशा होता है।

अब आभोग निर्वर्तित आहार का जघन्य और उत्कृष्ट समय निम्न कोष्टक से जानना :—

स्वर्ग	जघन्य	उत्कृष्ट समय
सौधर्म	२ से ९ दिन बाद	२ हजार वर्ष बाद
ईशान	२ से ९ से अधिक समय	२ हजार वर्ष से ज्यादा
सनत्कुमार	२ हजार वर्ष बाद	७ हजार वर्ष बाद
माहेन्द्र	२ हजार वर्ष से अधिक	७ हजार वर्ष से अधिक
ब्रह्मलोक	७ हजार वर्ष बाद	१० हजार वर्ष बाद
लांतक	१० हजार वर्ष बाद	१४ हजार वर्ष बाद
महाशुक्र	१४ हजार वर्ष बाद	१७ हजार वर्ष बाद
सहस्रार	१७ हजार वर्ष बाद	१८ हजार वर्ष बाद
आनत	१८ हजार वर्ष बाद	१९ हजार वर्ष बाद
प्राणत	१९ हजार वर्ष बाद	२० हजार वर्ष बाद
आरण	२० हजार वर्ष बाद	२१ हजार वर्ष बाद
अच्युत	२१ हजार वर्ष बाद	२२ हजार वर्ष बाद

अनुतर विमानवासी की आखिरी से आखिरी आहार करने कि इच्छा ३३ हजार वर्ष बाद होती है। देव के पुण्यकर्म अधिक होने से स्वाभाविक रीती से आहार करने की इच्छा थोड़ी ही होती है।

पृथ्वीकाय के जीव निरन्तर आहार के अभिलाषी होते हैं। मध्य में अन्तर नहीं हो तो उसी प्रकार वनस्पतिकाय के जीवों के बारे में भी जानना।

बेईन्द्रिय जीव को असंख्य समय अन्तर्मुहूर्त आभोग निर्वर्तित आहार होता है वह आहार रोमाहर (रोम के द्वारा करने का आहार) करते हैं जो सभी खा जाते है। कवलाहार (कवल रुप से लेने का आहार) को असंख्य भाग में खाते हैं और बाकी नाश हो जाता है।

पंचेन्द्रिय तिर्यंन्चो को जघन्य से अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने के बाद आभोग निर्वर्तित आहार होता है और उत्कृष्ट से दो दिन बाद आभोग निर्वर्तित आहार होता है।

मनुष्य को उत्कृष्ट से तीन दिन बाद और जघन्य से एक अन्तर्मुहूर्त बाद आहार होता है

एकेन्द्रिय जीव, नैरयिक और देव रोमाहार से ही भोजन करते हैं जिससे उनको कवलाहार नहीं हैं। बेइन्द्रिय जीव से मनुष्य तक के जीव रोमाहार और कवलाहार करते हैं। नर्क के जीव को ओज आहार (संपूर्ण शरीर द्वारा आहार) होता है परन्तु वे मनोभक्षी नहीं हैं। इसी तरह से सभी औदारिक जीव के बारे में समझना जबकि सभी देव ओज आहार करनेवाले और मनोभक्षी होते हैं।

'हम मनोभक्षण करना चाहते है।' इसप्रकार की इच्छा मन में पैदा होती है और तुरन्त ही वे मनपसंद अणु आहार के लिए तैयार हो जाते हैं और शरीर की सुंदरता में उनका परिणमन हो जाता है। भोजन करने के बाद इच्छा मन निवृत्त होता है।

एकेन्द्रिय जीव अपर्याप्त अवस्था में ओज आहार और पर्याप्त दशा में रोमाहार और कवलाहार करते हैं।

॥ दूसरा उद्देश समाप्त ॥

शतक छठा उद्देश ३

इस उद्देश में महाकर्म और अल्पकर्म, कर्म का चय और उपचय, ोवों का सादि-सान्तादि विचार, कर्म की स्थिति, कर्म को बांधनेवाले ा अल्प-बहुत्व आदि विवरण है। सार यह है :—

जिस प्रकार धुले हुए अथवा दुकान से लाये हुए नए ताजे वस्त्र ऊपर धीरे-धीरे चारों तरफ से पुद्गल चिपकते हैं, सभी तरफ से द्गल का चय होता है। उसी प्रकार जो महाक्रियावाला, महाकर्मवाला, हाआश्रववाला और महावेदनावाला होता है उसे सब प्रकार से पुद्गल ा बंध, पुद्गल का चय, उपचय और निरंतर बन्ध होता है जिससे आत्मा रूप, दुर्वर्ण, दुर्गन्ध, दुरस, दुःस्पर्श, अनिष्ट, अकांत, अमनोज्ञ आदि शुभ परिणाम में परिणमती है।

जो आत्मा अल्पआश्रववाली, अल्पकर्मवाली अल्पक्रियावाली और ल्पवेदनावाली होती है वह धीरे-धीरे सभी तरह से शुभ और शुभ-र परिणाम में परिणमती है।

जिस प्रकार मैला गन्दा कपड़ा धोते-धोते स्वच्छ होता है उसी प्रकार सके अशुभ पुद्गल नष्ट हो जाते हैं, दूर हो जाते हैं। ✥५

✥५ नये अथवा धोकर पहने हुए वस्त्र के ऊपर प्रति समय चारों तरफ धूल के रजःकण लगते जाते हैं और बहुत दिनों तक उसे धोये नहीं तो क दिन वह वस्त्र सर्वथा काला, दुर्गन्ध और पहनने पर किसी को भी च्छा नहीं लगे इतना मैला हो जाता है।

इस प्रकार अनादिकाल से संसार में कर्मवश परिभ्रमण करती आत्मा

भी चार कारण से प्रतिसमय भारी होती जाती है। ये चार कारण निम्न प्रकार से हैं :—

(१) महाकम्मस्स—अर्थात् तीव्रातितीव्र प्रकार से उदय में आये हुए पापकर्मों की वासना से बंधे हुए और बंधाते हुए कर्मों में रस की तीव्रता, तीव्रतरता और तीव्रतमता भी बढ़ती जाती है। जिस प्रकार नीम के चार सेर रस में जो कड़वाहट होती है उससे भी उसको उबालकर उसमें से एक सेर रस जलाने के बाद बाकी रहे तीन सेर रस में पहले से अधिक कड़वाहट होती है। उसी प्रकार उबालकर बाकि रहे दो सेर रस में अधिक और एक सेर रस में तो सबसे अधिक कड़वाहट होती है। सारांश यह कि चार सेर रस में से एक सेर रस में बहुत अधिक कड़वाहट होती है। उसी तरह क्रोध मान, माया और लोभ के वश बंधे हुए पाप कर्मों के प्रति मन के परिणाम अधिक खराब होने से आर्तध्यान में से रौद्रध्यान में प्रवेश करते ही मन की क्लिष्टता एकदम बढ़ जाती है और उससे आत्मा के प्रदेश पर कृष्ण लेश्या की छाया पड़ते ही आत्मा के प्रदेशों में एकदम कालापन आ जाता है अर्थात् कर्म बांधते समय प्रारंभ में मन के परिणाम जितने क्लिष्ट होते है वे आगे बढ़ने पर क्लिष्टतर और क्लिष्टतम बनने पाते है और परिणाम स्वरुप उन कर्मों का बंध भी तीव्र तीव्रतर और तीव्रतम बनता जाता है और आत्मा के साथ कर्म के रहने की मर्यादा भी बढ़ती जाती है। कर्मों का रस भी वैसे ही तीव्र-तीव्रतर और तीव्रतम भुगतना पड़ता है।

अपनी संस्थाएँ, संघ या मंडल एक सामान्य बात को लेकर आपस में लड़ पड़ते हैं। आपस में बैर की भावना उत्पन्न हो जाती है तथा दो पक्षों में विभाजित हो जाती है। आपस में संघर्ष बढ़ता ही जाता है, बैर विरोध की भावना तीव्र-तीव्रतर और तीव्रतम बनती जाती है। सामनेवाले को जड़ से कर फेंक उखाड़ देने को भावनाप्रबल बनती है। दोनों पक्षों में मारामारी और खूनखराबी होती है। केस कोर्ट में चला जाता है और फैसला एक पक्षी होने के कारण सामनेवाले में बैर की भावना अधिक तीव्रतम बन

जाती है इस प्रकार बंधे हुए कर्मो को चिकने और लम्बी मर्यादावाले बनाने में आते है।

(२) महाकिरियस्स— मन वचन और काया को पाप, परद्रोह और हिंसक मार्ग में ले जाने में, मानसिक जीवन में सत्य और सदाचार न होने में उसका संपूर्ण जीवन पांचों क्रिया में लीन बन जाता है। पांचों क्रिया इस प्रकार है :– (१) कायिकी क्रिया (२) अधिकरणिकी क्रिया (३) प्राद्वेषिकी क्रिया (४) परितापनिकी क्रिया और (५) प्राणातिपतिकी क्रिया।

इन पांचो क्रियाओं से महाभयंकर कर्मो की उपार्जना होती है क्यों कि-परहत्या, परवंचकता, परस्त्रीगमन, मर्यादारहित परिग्रह, द्वेष और बैर से भरा हुआ मन यह सब पाप है-महापाप है और दुर्गति में ले जाने वाला घोर कर्म है।

(३) महासवस्स—लाखों करोड़ो वर्ष तक फिर से मनुष्य भव की प्राप्ति न हो ऐसे भयंकर कर्म की उपार्जना करने के मूलकारण महाआश्रव हैं जिससे मनुष्य मिथ्यात्व के नशे में महाहिंसक, महा असत्यवादि, महा-चोर, आजीवन मैथुन कर्म में आसक्त रहनेवाला, परिग्रह के प्रति अत्यन्त आसक्ति रखनेवाला और हजारो लाखों मनुष्यों के साथ बैर विरोध-कषाय क्लेश आदि कार्य करता है, कराता है और करनेवालों को आश्रय देता है। इस प्रकार स्वयं की आत्मा को कर्मो के भार से बहुत ही वजनदार बनाकर दुर्गति के गहरे गर्त में पहुँचा देता है जहां से वापस मनुष्य भव को पाना बहुत ही मुश्किल है।

(४) महावेयणस्सः—भव भवान्तरों के हिंसक कार्यों के फलस्वरुप मनुष्य अवतार पाने पर भी सर्वथा अशाता वेदनीय कर्म को लेकर शरीर के भयंकर रोगों को सहन करते-करते, रोते-रोते अपना जीवन पूर्ण करता हैं। इलाज से थक जानेपर भी वेदना से छुटकारा नहीं होने से फिर से वेदना-वश आर्तध्यान और रौद्रध्यान में जीवन पूर्ण करता है।

अर्थ और काम के साधन प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार से मानसिक वेदना भुगतनी पड़ती है। प्राप्त किये हुए अर्थ और काम के साधनों में बहुत ही कष्ट भुगतना पड़ता है और रौद्रध्यान में ही जीवन का अन्त आता है।

उपरोक्त चार महान कारण से कर्म की बेड़ी में फंसा हुआ जीव मनुष्य अवतार पानेपर भी उसके शरीर की हालत तो शास्त्र के अनुसार निम्नप्रकार की होती है :—

दुरुवत्ताए—शरीर अत्यन्त कद्रूप होता है।

दुवण्णत्ताए—शरीर का रंग खराब होता है।

दुगंधत्ताए—शरीर का पसीना, मलमूत्र आदि दुर्गंधी होते है।

दुरसत्ताए—पसीना आदि का रस बहुत ही खराब होता है।

दुफासत्ताए—किसी को भी स्पर्श करने की इच्छा न हो ऐसा उसके शरीर का स्पर्श उष्ण और कर्कश होता है।

अणिट्ठत्ताए—स्वयं को भी उसका शरीर पसन्द न हो ऐसा होता है।

अकंतत्ताए—शरीर में जरा भी सुन्दरता नहीं होती है।

अप्पियत्ताए—सभी को अप्रिय लगे ऐसा शरीर होता है।

असुभत्ताए—दूसरे को अमंगलमय लगता है।

अमणुत्ताए—अपने शरीर से अपना मन भी उदास रहता है।

पूर्वभव के कर्मों के कारण विपाक रूप में मनुष्य को उपरोक्त प्रकार के अति खराब शरीर की प्राप्ति होती है। उसमें भी उस जीव के शरीर के अंगोपांग, उसका चलना, उठना बैठना, सोना आदि शरीर की चेष्टाएँ। भी इतनी बेडोल होती है कि दूसरों को बिलकुल पसन्द नहीं आती है और अमंगलमय लगती है।

शरीर रचना का मूल कारण जैन शासन मान्य नामकर्म है जो दो प्रकार का है–शुभ और अशुभ। अशुभ नामकर्म बांधने के कारण ये है–हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करा, अब्रह्म सेवन करना, महापरिग्रह रखना, महारंभ

करना, कठोर वचन बोलना, आक्रोश करना, दूसरे के सौभाग्य को नष्ट करना, मजाक करना, वेश्या तथा असती स्त्री आदि को वस्त्र अलंकार आदि देना, दूसरे के घर में या जंगल में ईर्ष्या से आग लगाना, जिन मन्दिर की मूर्तियों को नष्ट करना, पन्द्रह कर्मादान के व्यापार को करना इत्यादि अनेक कारणों को लेकर अशुभ नामकर्म बंधता है।

इस प्रकार महाआश्रव आदि के मालिक रस और स्थिति को लेकर निकाचित चिकने कर्म बांधते है। जो अल्प क्रियावाला हो, अल्प कर्म वाला हो और अल्प वेदनावाला हो वे बंधे हुए कर्म को भी दूर हटाते जाते हैं यहांतक कि संपूर्ण कर्मों को नाश करने में भी तैयार रहते हैं।

पुदगलों का उपचय प्रयोग से :

वस्त्र के ऊपर पुद्गलों का उपचय प्रयोग से भी होता है और स्वाभाविक भी होता है परन्तु जीव को जो कर्म का उपचय होता है वह प्रयोग से ही होता है परन्तु स्वाभाविक रुप से नहीं होता है क्योंकि जीव को तीन प्रकार के प्रयोग बताये है—मन प्रयोग, वचन प्रयोग और काय प्रयोग। सभी पंचेन्द्रिय को तीन प्रकार का प्रयोग, पृथ्वीकाय को एक प्रकार का प्रयोग (वनस्पतिकाय भी) तथा विकलेन्द्रिय को दो प्रकार का प्रयोग वचन और काय होता है।

इन तीन में से कोई भी एक या. दो या तीन प्रकार के प्रयोग से आत्मा पुद्गलों का उपचय करती है।

वस्त्र को जो पुदगल का उपचय होता है वह सादि सांत होता है परन्तु सादि अनंत, अनादि सान्त तथा अनादि अनंत नहीं होता है परन्तु जीव को ऐसा नहीं है। कितने ही जीव का तो कर्मोपचय सादि सान्त होता है, कितने को अनादि सांत होता है और कितने ही को अनादि अनंत होता है पर किसी का भी कर्मोपचय सादि अनंत नहीं है। उदाहरण के रुप में ऐर्यापथ के बंधक का कर्मोपचय सादि सान्त होता है, भवसिद्धिक

का अनादि सान्त होता है और अभवसिद्धिक का अनादि अनंत होता है। ❁६

❁६ जीवमात्र को कर्मों का उपचय मन वचन और काय के प्रयोग से होता है। यदि स्वाभाविक रीत से कर्मों का उपचय स्वीकारे तो सिद्ध के जीवों को भी कर्मों का उपचय मानना पड़ेगा जो सर्वथा अनिष्ट है इसलिए कर्मों का बंधन स्वाभाविक नहीं है परन्तु प्रायोगिक है।

ये उपचय सादि सांत सादि, अनंत, अनादि सान्त या अनादि–अनंत है? यह प्रश्न है।

भगवान ने फरमाया कि–सादि अनंत यह दूसरे भांगे (प्रकार) को छोड़कर शेष तीन भांगो (प्रकारो) से कर्मा का उपचय सिद्धान्त मान्य है। सादि सान्त भांगे में ऐर्यापथिक आश्रव के स्वामी उपशांत मोह, क्षीण मोह और सयोगी केवली इन तीनों वीतराग का समावेश होता है क्योंकि कषाय भाव से सर्वथा रहित इन महापुरुषों को गमानागमन द्वारा जो कर्म बंधते है वे सादि होते हैं और अयोगि अवस्था में उन कर्मा का सर्वथानाश होने से सांत है।

भवसिद्धिक (भव्यत्व लब्धिवाले) महापुरुषों को प्रवाह की अपेक्षा से कर्मों की अनादि होती है और मोक्ष मिलते ही उनका अन्त हो जाने से वे अनादि सांत भांगे मे आते हैं। अभव सिध्दिक (भव्यत्व बिना के) जीवों को कर्म अनादिकाल से अनंतकाल तक रहने से वे अनादि अनंत भांगे में कहलाते हैं।

ऐर्यापथिक आश्रव के मालिक के जीवन में राग, द्वेष, मोह जन्य कर्मों की चिकनाहट सर्वथा समाप्त होने से वहां रजःकण चिपक नहीं सकते हैं।

वीतराग को छोड़कर दूसरे जीवों का जीवनव्यवहार कषाय की भावना के रंग में रंगा हुआ होने से उनकी प्रत्येक क्रिया रागात्मक तथा

द्वेषात्मक ही होती है। अतः उनके लिए हर समय सातों कर्म के द्वार खुले ही रहते हैं।

किसी परिस्थिति को लेकर किसी समय उनका कषाय भाव दबा हुआ प्रतीत होता है तो भी आन्तरिक जीवन में क्रोध, मान, माया और लोभ स्वयं की सत्ता जमाकर बैठा हुआ होने से उन भाग्यशालीयों का खाना, पीना, सोना, उठना, लिखना, हंसना, रोना आदि सभी क्रियाएँ कषाय भाव से व्याप्त ही होती है।

मानले कि कोई साधक आत्मा की अनेक क्रियाओं में क्रोध, मान तथा माया नाम के कषाय दृष्टिगोचर नहीं होते है तो भी गुप्तवेशधारी की तरह लोभसत्ता तो देखने में आती ही है। कहीं पर धन का लोभ, तो दूसरा सत्ता का लोभ, तीसरा मान-प्रतिष्ठा का लोभ कहीं पर पुत्र–शिष्य का लोभ, कहीं सूक्ष्म प्रकार से विषय वासना का लोभ। जिस तरह नाटक मंडली में एक ही नट अलग–अलग रुप से आता है उसी प्रकार से लोभ नाम का जबरदस्त नट भी अलग–अलग रुप में अवतरित होकर मनुष्य को स्वयं के अधीन करता है अर्थात् मानवमात्र जो कुछ करता है उसमें लोभ का अंश जरूर रहता ही है। जहां लोभ होता है वहां प्रच्छन्न रुप से क्रोध की संभावना भी इन्कारी नहीं जा सकती है।

"लोभात् क्रोधः संजायते"

लोभ से क्रोध होता है। क्रोधी मानव मान–अहंकार–से मदयुक्त बनता है और अहंकारी आत्मा को माया का जाल चारों तरफ से जकड़ कर रखता है।

इस प्रकार तीन भांगो से कर्म की स्थिति होती है। सादि अनंत भांगा इसलिए शक्य नहीं है कि जो सादि होता है वह अनंत नहीं होता है।

जीव की सादि सांतता का विचार :

वस्त्र स्वयं सादि सांत है पर सादि अनंत या अनादि अनत नहीं है। उसी प्रकार जीव सादि सांत है, सादि अनंत है अनादि सांत है और अनादि अनंत भी है। नैरयिक, तिर्यन्च, मनुष्य और देव गति–आगति सादि सांत है। की अपेक्षा से सिद्ध सादि अनंत है। संसार की अपेक्षा से अभव्य सिद्ध अनादि अनंत हैं। ❈७

❈७ वस्त्र और जीव की सादि सांतता का विचार :

वस्त्र अनादि भी नहीं होते और अंत बिना के भी नहीं होते है इसलिए सादि सांतता वस्त्र की है जबकि जीव के विषय में चारों भांगें सिद्ध होंगे जो निम्न है :–

(१) सादि सांत—चार गति के जीव, गति और आगति की अपेक्षा से सादि सांत है। मनुष्य मरकर देवरुप में बने हुए जीव की मनुष्य गति सांत हुई और देवगति की आदि हुई।

(२) अनादि सांत—भव सिद्धिक स्वयं की भव्यत्व लब्धि के कारण अनादि है और मोक्ष में जाते ही वह लब्धि सांत बनती है।

(३) अभव्य सिद्धक—संसार की अपेक्षा से अनादि है और अभव्यत्व उनका किसी काल में नाश होनेवाला नहीं है इसलिए अनादि अनंत कहलाते हैं।

(४) सादि अनंत—भूतकाल में सिद्धगति सिद्ध बिना की नहीं होती उसी से जिन भाग्यशाली को सिद्ध गति प्राप्त हुई उस अपेक्षा से ही सिद्धों की सादिता मान्य रहेगी शायद कोई काल में सिद्ध बिना की सिद्ध शिला रही हो तो प्रश्न हो सकता है कि सिद्ध में सबसे पहले सिद्ध कौन हुआ ?

जवाब में भगवान ने फरमाया है कि सिद्ध तथा सिद्धि अनादिकाल के होने से किसी समय भी सिद्ध बिना की सिद्ध शिला नहीं होती है।

जिस तरह अनंत संसार में अपनी आत्मा ने सबसे पहले कौन सा अवतार धारण किया होगा? अनंतानंत अहोरात्रि व्यतीत होने के बाद सबसे पहली अहोरात्रि कौन सी? इस तरह सिद्ध बिना की सिद्ध शिला कभी भी थी ही नहीं। इस वचन के अनुसार सिद्धत्व प्राप्ति की अपेक्षा से सादिता और अनादिकाल की मर्यादा होने से अनंतता। इसी से आनंदघनजी ने महाराज प्रथम प्रभु के स्तवन में कहा है:—

"................................भागे सादि अनंत रे"।

कर्म की प्रकृति और उसकी स्थिति :

कर्म की प्रकृति आठ है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय, वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य। ❖८

❖८ कर्म और उसकी स्थिति :

बंधे हुए कर्म आत्मा के साथ कितने समय तक रहेगें? यह प्रश्न है। उसकी स्पष्टता करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि निश्चित हुई स्थिति में से अबाधाकाल को छोड़कर शेष स्थिति को कर्मनिषेक काल कहते हैं उसका विवेचन और कोष्टक पहले भाग में दिया है। बहुत समय पहिले के बंधे हुए कर्म सोये हुए अजगर की तरह कुछ भी लाभ हानि किये बिना वैसे के वैसे आत्मा के प्रदेशों में पड़े रहते हैं और वह अबाधा काल पूर्ण होते ही वे ही कर्म अनुभव—विपाक के योग्य बनते हैं। प्रति समय बंधते हुए वे कर्म जिसके साथ जिस पद्धति से और वैर के अध्यवसायों से बांधे होते है जैसे—किसी. समय चंपकलाल के साथ जोरदार क्लेष किया। आधे घंटे बाद मोतीलाल के साथ झगड़ा किया और थोड़े समय बाद घरवाली का पक्ष लेकर छोटे भाई के साथ डंडे से युद्ध किया।

इस तरह एक घंटे में तो कितनों ही के साथ गाली गलोज, निंदा, मार पीट, आक्रोश—विक्रोश आदि पापमय और वैरमय अध्यवसाय द्वारा

सीत्तर कोड़ाकोडी की उत्कृष्ट मर्यादावाला मोहनीय कर्म अलग–अलग प्रकार से बांधा और फिर बैर कर्म जितनी अबाधाकाल की स्थिति से बांधा है वह समय पूर्ण करके उस कर्म का उदय में आने की प्रक्रिया चालू होती है। जिसके साथ बैर कर्म बांधा है वह व्यक्ति भी स्वयं के बैर का बदला लेने के लिए जन्म जन्मान्तर में भी अपने साथ ही उत्पन्न होता है और बैर का बदला लेता है। जिस प्रकार कमठ और पार्श्वनाथ, अग्निशर्मा और गुणसेन बैर की गांठ में बंधने के बाद प्रत्येक भव में कमठ ने पार्श्वनाथ के जीव को और अग्निशर्मा ने गुणसेन के जीव को बैमोत मारा है। अपने लिए भी अपन समझले कि–जोरदार बांधे बैर कर्म के विपाक में एक भव का बैरी इस भव में अपना छोटा भाई बनकर उत्पन्न हुआ और बड़े भाई को बहुत सताता है। अन्त में दूसरो के पास से बड़े भाई को मार डालने का षडयंत्र रचता है। छोटे भाई के कारण से कष्ट पर कष्ट बढ़ता जाता है और दुःख की परम्परा को भुगतते जब कर्मों के निषेक का रसोदय काल पूर्ण होता है तब छोटे भाई के हाथ से बड़े भाई की निर्दयतापूर्वक मृत्यु होती है।

कम मर्यादावाला यह कर्म होगा तो इस भव में ही पूर्ण हो जायगा नहीं तो कितने ही भव तक कष्ट भुगतने की परम्परा चालू रहेगी जब तक कर्मों का अंत न हो जाय।

इस प्रकार अनंतानंत बैर–कर्म की वर्गणाएँ जीवात्मा के साथ विपाक के योग्य सत्ता में पड़ी हुई है परन्तु दोनों जीव संसार में रखड़ते–रखड़ते जब एक स्थान में इकट्ठे होते है तब उन कर्म का उदय तीव्रता से आता है। जैसे त्रिपृष्टवासुदेव ने शय्यापालक के कान में गर्म शीशा डलवाया उसके बाद दोनो जीव ८० सागरोपम समय व्यतीत होने के बाद एक ही स्थान पर मनुष्य भव में इकट्ठे होते है। त्रिपृष्टवासुदेव का जीव भगवान महावीर के रुप में अवतरीत है और शय्यापालक का जीव ग्वाला के रुप में। भगवान महावीर के कान खींले ठोककर अपना बदला लेता है।

यहां भी ८० सागरोपम का काल निषेककाल जानना। कर्म में फल देने की योग्यता थी पर वैरी मिलनेपर ही बैर का बदला लिया जाता है। शास्त्रकार फरमाते है—राग, द्वेष, बैर, विरोध, क्रोध, लोभ, माया आदि भयंकर पाप स्थानक हैं। जिसके कारण थोड़े समय के लिए सुख भोगा और लम्बे समय तक दुःख भुगतने पड़े। गृहस्थाश्रम की थोड़ी सुख शांति मिली या न मिली तो अपने ही बनाये हुए गृहस्थाश्रम के सभी सदस्य माता–पिता, भाई–भाभी आदि सभी अपने दुश्मन बनकर असह्य दुःख को देनेवाले बनते हैं।

मोह राजा के दो पुत्र है–राग और द्वेष। राग बड़ा भाई है और अनंत शक्ति का मालिक है जबकि द्वेष छोटा भाई है। राग जीवात्मा का हाड़बैरी और दुर्भेद्य दुश्मन है। जहां राग है वहां द्वेष भी हाजिर है। सामने वाला जीव अपने इस भव का हाड़बैरी है तो किसी समय अपने साथ राग के सम्बन्ध से संबंधित बना होगा। जिस समय और जिस स्थान में स्वार्थ के कारण हम दूसरे जीव के साथ मोह या लोभ के वश बनकर स्नेह के सम्बन्ध के साथ जुड़े फिर वह व्यक्ति अपने को इतना अधिक प्यारा लगता है कि मानो उसको छोड़कर दूसरे के साथ बोलने का मन भी नहीं करता है। सिर्फ उसका ही सहवास अच्छा लगता है। बार बार उसको ही मिलने का मन होता है और स्वार्थ पूर्ण राग के नशे में अच्छे बुरे का विवेक भूलकर उसके साथ राग का नियाणा (निदान) बांधने को तैयार हो जाते हैं। वह इस प्रकार :—अगले भव में दोनों मित्र बनेगें, पति–पत्नि बनेगें, तू मेरी पत्नि बनना, मैं तुझे मिलने के लिए तपस्या करुंगा। इत्यादि विचारों में अगले भव को सुखी बनाने में मृगजल जैसे इरादे अज्ञानता से उसके साथ बांधते जाते हैं। इन सभी संबंधों के मूल में, मोहवासना, स्वार्थ-साधना, विषय वासना आदि होने के कारण उस स्वार्थ साधना में जरा भी कमी पड़ते ही दूसरा कोई अपनी इच्छा को पूरी करनेवाला स्वरुपवान पात्र मिलते ही पहिले की मित्रता को तिलांजली देकर दूसरे के साथ मैत्री

जोड़ने को तैयार हो जाते हैं। तथा पहलेवाले व्यक्ति के साथ द्वेष भावना होते ही वह सम्बन्ध अपन तोड़ लेते हैं। उस समय सामने का व्यक्ति पुरुष हो या स्त्री हो अपने साथ द्वेष का नियाणा बांधता है। हम भी द्वेष भावना से उसके साथ द्वेष का नियाणा बांधते है।

इस तरह एक ही स्वार्थवश से बंधे हुए दोनों नियाणों को साथ लेकर भव–भवान्तर में भमते भमते वह हाड़बैरी भी अपने साथ शत्रु रुप में अवतरीत होगा। पहले तो वह राग सम्बन्ध से अपनी साथ जुड़ेगा फिर गत भव का द्वेषपूर्ण नियाणा उदय में आते ही वह भाई, भाभी, मां–बाप, पति–पत्नी परिस्थितिवश अपने बैरी बनते है और अपना जीवन असह्य क्लेषमय बन जाता है। अन्त में तीव्रतम वैर का बंध उदय में आते ही उसके हाथ से तड़फ तड़फकर मृत्यु की शरण में जाना पड़ता है।

अब अशाता वेदनीय कर्म के उदयकाल को भी समझ लें जो स्वयं के अबाधाकाल के बाद में उदय में आते ही अपने मुँह में रही दाढ़ स्वयं के मूल स्थान से हिलते ही भयंकर वेदना खड़ी होती है। रसोदय भी शामिल मिलते ही वह वेदना सर्वथा असह्य बन जाती है। उस समय चाहे जितने पुण्योदय से मिला हो खाना बंद, पीना बंद, और नींद भी उड़ जाती है। गप्पे मारने में भी मजा नहीं आती है तथा इन्द्रिय सुख भुगतना भी अच्छा नहीं लगता है तो भी कर्म की स्थिति के कारण दाढ़ निकालने की सलाह देनेवाले को या दाढ़ निकालनेवाले डॉक्टर की अनुपस्थिति के कारण वह वेदना कितने ही समय तक भुगतनी पड़ती है। इसप्रकार उदय में आये हुए अशाता वेदनीय कर्म के साथ दूसरा शाता वेदनीय कर्म उदय में आने से थोड़े समय के लिए दाढ़ का दुःख शांत हो जाता है। पुनः वह कर्म हटने से विपाक उदय में रहा हुआ अशाता वेदनीय कर्म फिर जोर पकड़ता है हम परेशान हो जाते हैं। इस तरह जब अशाता का उदय हुआ तो कर्म निषेक हुआ। उसमें रसोदय के अनुसार दुःख कम–ज्यादा होता रहता है। जब कर्म की निर्जरा होने की तैयारी होगी तब दाढ़ का दर्द स्वयं कम हो

हो जायगा या डॉक्टर के पास निकलवाने के बाद उसको शाता होगी। इस प्रकार के कर्म जो विचित्र प्रकार से बांधे हैं वे प्रकारान्तर से उदय में आते हैं और जीवात्मा सुखदुःख का भोक्ता बनता है।

कर्मों को बांधनेवाले जीव :

ज्ञानावरणीय कर्म को स्त्री, पुरुष और नपुसंक तीनो बांधते हैं पर नोस्त्री नोपुरुष ये कभी बांधे या न भी बांधे। इस तरह आयुष्य को छोड़कर सातों कर्म प्रकृति के लिए जानना।

आयुष्य कर्म को स्त्री बांधे या न भी बांधे। ऐसे ही पुरुष और नपुसंक के लिए जानना। नोस्त्री नोपुरुष या नोनपुसंक वे तो आयुष्य कर्म को नहीं बांधते हैं। सयंत ज्ञानावरणीय कर्म कभी बांधे या न भी बांधे। असयंत बांधते हैं। संयतासंयत बांधते हैं।

नोसंयत, नोअसंयत नोसंयतासंयत वे नहीं बांधते हैं।

इसी तरह आयुष्यकर्म को छोड़कर सातों कर्मप्रकृतियों के बारे में जानना।

आयुष्यकर्म संयत, असयंत तथा संयतासंयत बांधे या न भी बांधे जबकि नोसंयत, नोअसंयत नोसंयतासंयत अर्थात सिद्ध नहीं बांधते हैं।

सम्यग्दृष्टी-ज्ञानावरणीय कर्म को कभी बांधे या न भी बांधे। मिथ्यादृष्टी ज्ञानावरणीय कर्म को बांधते हैं। सम्यग् मिथ्यादृष्टी-ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं।

आयुष्य के सिवाय सातों कर्म प्रकृति के लिए ऐसा जानना।

आयुष्यकर्म-सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टी कभी बांधे या नहीं भी बांधे और सम्यग् मिथ्यादृष्टी (सम्यग् मिथ्यादृष्टी की दशा में) नहीं बांधता है।

संज्ञी—ज्ञानावरणीय कर्म कभी बांधे या न भी बांधे।

असंज्ञी—ज्ञानावरणीय कर्म को बांधते हैं।

नोसंज्ञी, नोअसंज्ञी ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बांधते हैं ऐसे ही वेदनीय और आयुष्य को छोड़कर छः कर्म प्रकृति के बारे में समझना।

वेदनीय—संज्ञी और असंज्ञी बांधे।

नोसंज्ञी—नोअसंज्ञी कभी बांधे या न भी बांधे।

आयुष्य—संज्ञी, असंज्ञी कभी बांधे या न भी बांधे। नोसंज्ञी नोअसंज्ञी नहीं बांधते हैं।

भवसिद्धिक—ज्ञानावरणीय कर्म कभी बांधे या न भी बांधे।

अभवसिद्धिक—ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं।

नोभवसिद्धिक—नोअभवसिद्धिक ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बांधते हैं।

आयुष्य सिवा सातों प्रकृति के बारे में जानना।

आयुष्यकर्म—भवसिद्धिक अभवसिद्धिक कभी बांधे या न भी बांधे।

नोभवसिध्दिक—नोअभवसिध्दिक नहीं बांधते हैं।

चक्षुदर्शनी अचक्षुदर्शनी अवधीदर्शनी, केवलदर्शनी में से, चक्षुदर्शनी अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनी ज्ञानावरणीय कर्म बांधे या न भी बांधे। केवलदर्शनी नहीं बांधते हैं।

इसतरह वेदनीय सिवाय सातों कर्म प्रकृति के बारे में जानना।

वेदनीयकर्म—चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनी बांधते हैं। केवलदर्शनी कभी बांधे या न भी बांधते है।

पर्याप्त—ज्ञानावरणीयकर्म को विकल्प से बांधते हैं कभी बांधे या न भी बांधे।

अपर्याप्त—ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं।

नो पर्याप्त—नो अपर्याप्त अर्थात सिद्ध नहीं बांधते हैं।

इसतरह आयुष्य को छोड़कर सातों कर्मप्रकृति के लिए समझना।

आयुष्य—पर्याप्त, अपर्याप्त विकल्प से बांधते हैं।

नोपर्याप्त—नोअपर्याप्त नहीं बांधते ।

भाषक–अभाषक-ज्ञानावरणीय कर्म विकल्प से बांधते हैं इस तरह वेदनीय को छोड़कर सातों कर्म के बारे में समझना।

वेदनीय कर्म—भाषक बांधते हैं। अभाषक विकल्प से बांधते हैं।

परित्त—एक शरीरवाला एक जीव ज्ञानावरणीय कर्म को विकल्प से बांधता है।

अपरित्त—ज्ञानावरणीय कर्म बांधता है। नोपरित्त, नोअपरित्त, सिद्ध ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बांधते हैं।

आयुष्य को छोड़ सातों कर्म प्रकृती के लिए जानना।

आयुष्यकर्म–परित्त—अपरित्त दोनों भजना से बांधते हैं। नोपरित्त–नोअपरित्त सिद्ध नहीं बांधते हैं।

मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्यवज्ञानी ज्ञानावरणीय कर्म विकल्प से बांधते हैं। केवलज्ञानी नहीं बांधते हैं।

इसप्रकार वेदनीय कर्म को छोड़कर सातों प्रकृति के लिए जानना।

वेदनीय कर्म—मति, श्रुत, अवधि, तथा मनःपर्यवज्ञानी बांधते है।

केवलज्ञानी—विकल्प से बांधते हैं।

मति अज्ञानी श्रुतअज्ञानी, विभंग, ज्ञानी आयुष्य को छोड़कर सातों कर्म प्रकृति बांधते हैं और आयुष्य विकल्प से बांधते है।

मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी ज्ञा नावरणीय कर्म भजना से बांधते हैं। अयोगी नहीं बांधते हैं।

इसप्रकार वेदनीय को छोड़ सातों कर्म प्रकृति के लिए जानना।

वेदनीय कर्म-मनयोगी वचनयोगी और काय योगी बांधते हैं। अयोगी नहीं बांधते हैं।

साकार उपयोगवाले और अनाकार उपयोगवाले आठों कर्मप्रकृति को विकल्प से बांधते हैं। आहारक और अनाहारक जीव ज्ञानावरणीय कर्म को विकल्प से बांधते हैं।

इसप्रकार वेदनीय और आयुष्य सिवाय की छः प्रकृति के बारे में जानना।

वेदनीय–आहारक बांधते और अनाहारक भजना से बांधते हैं।

आयुष्यकर्म–आहारक भजना से बांधते और अनाहारक नहीं बांधते हैं।

सूक्ष्मजीव–ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं।

बादरजीव–बांधे या न भी बांधे।

नोसूक्ष्म–नोबादर नहीं बांधते हैं।

इसतरह आयुष्य को छोड़ सातों कर्म प्रकृति के लिए जानना।

आयुष्य कर्म–सूक्ष्म और बादर भजना से बांधते है।

नोसूक्ष्म–नोबादर नहीं बांधते।

चरम जीव या अचरम जीव आठों कर्मप्रकृति को विकल्प से बांधते हैं और वेदकर्म की दृष्टि से बांधते हैं। ❖९

❖९ वर्षाऋतु में भरपूर भरी हुई नदियों का बहाव दो तरह का होता है। एक नदी का बहाव तो इतना तूफानी होता है कि जिस-२ गांवों के भाग में से जाती है उस-२ गांवो के झाड़ों आदि को उखेड़ती, तोड़ती हुई जाती हैं।

दूसरी नदी शांत और गंभीर रुप से बहती है और किसी को भी हानि किये बिना उलटी स्वयं के जल से सभी को पवित्र करती हुई जाती है।

इसीतरह ज्ञानमात्रा और उसके मालिक भी मिथ्याज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी के रुप में दो प्रकार के होते हैं।

मिथ्याज्ञानी मनुष्य पंडित, महापंडित, विद्वान, वक्ता, लेखक और कवि भी हो सकते हैं परन्तु उनके ज्ञान में मिथ्यात्व, स्वार्थन्धता, विषय भाव और कषायों की बहुलता होने से उनका ज्ञान संसार, समाज, कुटुम्ब और स्वयं के व्यक्तित्व को भी अधःपतन के गर्त में डालनेवाला होता है जिससे हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये पांच महापापों की भेट देनेवाला बनता है जिससे समाज और देश को बहुत हानि होती है।

दूसरी सम्यकत्वधारी आत्मा सम्यक्त्ववान्, समताशील, पाप भीरु, विरोधी तत्वों का त्यागी और परमार्थी होने से पूरे संसार को चराचर, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील और संतोषरूपी अमूल्य पाँच रत्नों की भेंट देकर सुखशांति और समाधि देनेवाला बनता है।

मिथ्यात्वयुक्त ज्ञान चाहे जितना हो तो भी वह अज्ञान ही कहलाता है। अज्ञानी आत्मा बारबार ज्ञानावरणीय कर्म का उपार्जन करता रहता है। ज्ञानावरणीय कर्म आँख के ऊपर लगा हुआ पट्टा जैसा होने से उस जीव को स्वयं का, आत्मीयता का और अन्त में परमात्म तत्व का ज्ञान नहीं होने देता है। ऐसी परिस्थिति में आज हम संपूर्ण संसार को प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि :—

(१) संस्कृत जैसी देव भाषा का धारावाही वक्ता भी मांसाहारी और शराब पीनेवाला होता है, वेश्यागामी और परस्त्री लंपट होता है तथा जुआंरी और शिकारी होता है।

(२) वेद और वेदांत के मंत्रों का स्पष्ट उच्चारण करनेवाला भी मछली खानेवाला और मद्यपान करनेवाला होता है।

(३) अंग्रेजी, उर्दू और फारसी भाषा के विद्वान भी राजनीति में पारंगत बनकर संसार को संघर्ष के चक्कर में ले जानेवाले होते हैं।

(४) पाली, प्राकृत, अर्धमागधी भाषा विशारद भी अपनी व्यक्तिगत बुरी आदत या समाजघातक प्रवृत्तिओं को छोड़ नहीं सकते हैं।

(५) आज के विज्ञानी, कूटनीतिज्ञ, और राजनीति निपुण एटमबम्ब जैसे भयंकर अस्त्र–शस्त्र का उत्पादन कर संसार को मौत की घाटी में में उतारने की प्रवृत्तियों में रचेपचे हैं।

इन सभी में अज्ञान का प्रत्यक्ष चमत्कार देखने में आता हैं।

इसी कारण से दिव्य चक्षुके मालिक, जगत के जीवों के कल्याण करने वाले भगवान गौतम स्वामी देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी से पूछते हैं कि–ऐसा अज्ञानमय ज्ञानावरणीय कर्म कौन बांधता है ?

पुरुष या नोपुरुष ?

स्त्री या नोस्त्री ?

नपुसंक या नोनपुसंक ?

इस जबाब में महावीर स्वामी फरमाते है कि :–पुरुष–स्त्री और नपुसंक आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं परन्तु नोपुरुष, नोस्त्री और नोनपुसंक आत्मा इस कर्म को कभी बांधते है या नहीं भी बांधते हैं।

अब प्रश्न का हार्द अपन पकड़े उसके पहले पुरुषलिंग और पुरुष वेद, स्त्रीलिंग और स्त्रीवेद तथा नपुसंकलिंग और नपुसंकवेद की मीमांसा करना जरुरी है।

शैलेशी प्राप्त कर संपूर्ण कर्मों का नाश करके मोक्ष अवस्था प्राप्त करने के बाद ही यह आत्मा शरीर विना की बनती है। उसके पहले तो प्रत्येक आत्मा को शरीर धारण किये बिना छुटकारा है ही नहीं। शरीरधारी आत्मा कर्मों के भार से वजनदार बन जाने से मदिरा के नशे के समान मोहनीय कर्म में मस्त बनकर भवान्तर के लिए पुरुषवेद स्त्रीवेद या नपुसंकवेद के कर्मों का उपार्जन करता है वह इस प्रकार है:—

पुरुषवेद :

(१) सम्यग्ज्ञान की रुचिवाला होकर स्वयं की आत्मा को जीतने वाला होता है।

परस्त्री का त्यागी और स्वस्त्री के प्रति संतोषी तथा मर्यादावाला होता है।

(३) दूसरों के प्रति ईर्ष्या और विरोध बिना का होता है।

(४) कषायों को मन्द करने की प्रवृत्तिवाला होता है।

स्वयं के आचार–विचार तथा सत्कार्यों से खानदान शोभे वैसा आचरण-वाला होता है और सरल परिणामी होता है।

ये पांच प्रकार के जीव अगले भव के लिए पुरुषवेद कर्म का उपार्जन कर पुरुषलिंग शरीर को धारण करता है। शरीर की कठोरता, दाढ़ी, मूछ और जननेन्द्रिय का महापुरुष को शोभे जैसा दैर्ध्य और स्थौल्य होता है। इस तरह स्वयं के पुरुषवेद को भुगतने के लिए पुरुषलिंग अर्थात् पुरुषवेद को भोगने के लिए पुरुष अंगोपांगवाला पुरुष शरीर धारण करता है। जिसके द्वारा स्त्री को भोगने की इच्छा हो वह पुरुषवेद कहलाता है।

'पुरुषं वेदयति–मोहयति–मूढ़ी करोतीति पुरुषवेदः'।

घास के ढेर में जैसे आग लगते देर नहीं लगती और लगी हुई आग को बुझते भी देर नहीं लगती उसी प्रकार से पुरुष को पुरुषवेद के नशे में चढ़ते देर भी नहीं लगती और नशा उतरते भी देर नहीं लगती है।

स्त्रीवेद :

(१) पुरुष शरीरधारी होने पर भी जो अत्यन्त ईर्ष्यालु हो अर्थात् गुणवान या पुण्यशाली जीव को देखकर उसके मन में असहिष्णुता या अरुचि उत्पन्न हो उसको ईर्ष्यालु कहते हैं।

(२) प्राकृतिक या अप्राकृतिक विषयवासना और भोगविलास में जो अत्यन्त आसक्त होता है।

(३) स्वार्थ या स्वार्थ बिना भी जो मृषावादी हो।

(४) मन, वचन और काया के व्यापार कुटिल हो।

(५) स्वभाव से हठाग्रही और जिद्दी हो।

(६) परस्त्री के प्रति गमन करने की भावनावाला हो।

ये छः प्रकार के जीव मात्र स्त्रीवेद नाम के मोहकर्म को उपार्जनकर स्त्रीशरीरधारी बनते है। कोमल शरीर, मृदु आवाज, मंदगमन और स्त्री शरीर के संपूर्ण अंगोपांग प्राप्त होते हैं। स्त्रीवेद पाप कर्म के उदय से प्राप्त होता है इससे स्त्री के गुप्तस्थान, स्तनस्थान और गाल में तीव्र, मध्यम और अल्पशक्तिवाले कीड़ें होते है। कंडे में आग लगते थोड़ी देर लगती है और बुझते भी बहुत देर लगती है उसी प्रकार स्त्रीवेद को उदय में आते थोड़ी देर लगती है।

"स्त्रियं वेदयति–मोहयति–मूढ़ीकरोतीति स्त्रीवेदः।" पुरुषको भोगने की इच्छा जिसके मन में हो उसे स्त्रीवेद कहते है।

नपुंसकवेद :

(१) वर्तमान भव में पुरुष या स्त्रीशरीरधारी होने पर भी दूसरे पुरुष या स्त्री, बालक या बालिका के शरीर के साथ भोगविलास के मलिन भावों को धारणकर रात–दिन उन दोनों के साथ विषय–वासना सहित उसके भोगविलास में भूंड की तरह अत्यन्त आसक्त हो।

(२) बिना कारण या अल्प कारण से जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ रुपी कषाय सर्वथा प्रज्जवलित् होते हो।

(३) खाते, पीते, सोते, उठते और चाहे जिसके साथ वार्तालाप करते मानसिक विचार काममय भावनावाले हो।

(४) साध्वी, सती, कुलिन कन्या आदि पवित्र स्त्रियों को लोभ तथा लालच देकर या स्वयं की वाक्पटुता में फँसाकर उनके शील को लूटने का प्रयत्न करनेवाले हों।

ये चार प्रकार के जीव अगले भव के लिए नपुंसकवेद को उपार्जन करते है। तथा उसको भुगतने के लिए निकृष्टतम नपुंसक लिंग धारण करते हैं। जिसमें थोड़े अंग पुरुष के और थोड़े स्त्री के होने से स्वयं के महापाप कर्म के उदय से न तो पुरुष को और न स्त्री को भोग सकते हैं। अत्यन्त गन्दी भावना और रात दिन घृणात्मक विचार बने रहते हैं।

भांग या शराब पीने के बाद उसका नशा धीरे-२ चढ़ता है और थोड़ा समय जाने के बाद उसका नशा स्वयं के पूर्ण स्वरूप में चढ़ता है और वापस धीरे-२ उतरता है। अन्त में जीव स्वयं के मूल स्वरूप में आ जाता है।

उसी प्रकार के नशे को चरितार्थ करता हुआ पुरुषवेद या स्त्रीवेद कर्म का नशा भी पुरुष के या स्त्री के शरीर में बाल्यकाल व्यतीत होने के बाद युवावस्था के प्रारंभ में धीरे धीरे चढ़ने लगता है। जब पुरुष या स्त्री के अंग पूर्ण रुप से भोग कर्म के लायक बन जाते हैं तब वेदकर्म का नशा पूर्णरुप से चढ़ता है। उस समय पुरुष को स्त्री के शरीर का और स्त्री को पुरुष के शरीर का सहवास पसन्द आता है। जब दोनों को पूर्ण नशा चढ़ जाता है तब दोनों के शरीर एक होकर स्वयं की वासना पूर्ण होने पर उनका नशा समाप्त होता है और उस समय के लिए नशे का वेग कम होता है। इस तरह पुरुष वेद का मालिक स्त्रीभोग में आसक्त बनकर और स्त्रीवेद का मालिक पुरुषभोग में मस्त बनकर बारबार ज्ञानावरणीय आदि को बांधनेवाला होगा।

जिन भाग्यशाली जीवात्मा को गुरुकुलवास प्राप्त हुआ हो और स्वंय की अदम्य मोक्ष पुरुषार्थ की शक्ति का विकास साध लिया हो वे नररत्न या स्त्रीरत्न स्वयं की सत्ता में पड़े हुए मोहकर्म (वेदकर्म) का ज्ञानाभ्यास, एकान्तवास, ध्यानप्रक्रिया, छोटी-बड़ी तपस्या आदि सदनुष्ठान द्वारा उपशम करने के लिए भी समर्थ बन सकती है। अपूर्व सम्यग् ज्ञान द्वारा आत्मा को पुरुषार्थी बनाकर कुक्रिया का त्याग करता है।

सम्यग्दर्शन से पाप की भावनाओं का परिहार करता है और सम्यक्-

चरित्र द्वारा पाप की भावनाओं के द्वार बन्द करता है। ऐसी परिस्थिति में मोह को उपशम करके भाग्यशाली स्वयं के वेदकर्म को यथाशक्य स्वयं के आधीन करता हुआ उतने अंश में उस समय के लिए वह वेदरहित बनता है, उस समय अत्यन्त स्वरुपवान उर्वशी जैसी स्त्री और रुप के अवतार के समान युवापुरुष अनुकूल होते हुए भी स्वयं के जीवन में रत्तिमात्र पाप भावना उद्भव नहीं होती है। वेदकर्म को सर्वथा क्षय कर देने पर पुरुष का पुरुष शरीर और स्त्री का स्त्रीशरीर सर्वथा अकिंचित्कर बनने लगता है। उस समय वह नोपुरुष, नोस्त्री और नोनपुसंक कहलाता है और वह ज्ञानावरणादि कर्मों को बांधता नहीं है।

नवमें और दशमें गुणठाणे में ज्ञानावरणीय कर्म बांधता है क्योंकि इस स्थान के जीव छः या सात कर्मों के बंधक हैं। ११-१२-१३-१४ गुण-स्थान के जीव ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बांधते हैं क्योंकि वहाँ वह एक ही शाता वेदनीय कर्म का बंधन होता है।

पूर्वभव से नपुसंक शरीर की उपार्जना करके नपुसंक रीती से जन्मा हुआ पुरुषार्थी जीव भी स्वयं के कर्मों को सर्वथा क्षय करने के लिए जब भाग्यशाली बनता है तब नपुसंकवेद बिना का वह नोनपुसंक भी ज्ञाना-वरणीयादि कर्मों को बांधते नहीं है।

आयुष्य कर्म को भी नोपुरुष, नोस्त्री और नोनपुसंक बांधते नहीं है। दूसरे बांधने के काल समय में बांधते हैं क्योंकि यह कर्म जीवन में एक ही बार बांधा जाता है।

नोसयंत, नोअसयंत और नोसंयतासंयत अर्थात् केवल ज्ञानी को ज्ञानावरणीयादि कर्म बांधने का एक भी कारण नहीं है जबकि सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुध्दि और सूक्ष्म संपराय ये चार संयत शायद ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं। यथाख्यात संयत उपशांत तथा क्षीण-मोहवाला होने से इस कर्म को नहीं बांधता है। इस अपेक्षा से पहले के

चार संयमी भी कभी कर्म बांधते है और पांचवें संयमी कर्म नहीं बांधते हैं।

असंयमी और देशविरति संयमी कर्म बांधते हैं और आयुष्य भी बांधने के समय बांधते है।

मनःपर्याप्ति का स्वामी वीतराग हो तो कर्म बंधन नहीं करता जबकि सरागी कर्म बंधन करता है।

मनःपर्याप्ति बिना के असंज्ञी जीव तो निश्चय रुप से कर्मों को बांधने वाले होते है।

अयोगी और सिद्ध जीवों को छोड़कर बाकि सभी वेदनीय कर्म को बांधते हैं।

भवसिद्धिक यदि छद्मस्थ हो तो कर्म बंधन है। चक्षु दर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन के स्वामी छद्मस्थ हो तो कर्मबंधन है और वीतराग हो तो शातावेदनीय को छोड़ दूसरे कर्मो का बंधन नहीं है।

भाषा लब्धि के मालिक भाषक वीतराग हो तो कर्म नहीं बांधते, दूसरे बांधते हैं।

नहीं बोलनेवाले अभाषक सिद्ध कर्म नहीं बांधते हैं परंतु पृथ्वीकायिक अभाषक कर्म बांधते हैं।

"सबसे कम पुरुषवेदक जीव है उससे संख्येय गुण स्त्रीवेदक है। अवेदक अनंत गुण है और नपुसंकवेदक अनंतगुण हैं।"

"इस तरह सभी भेदों को विचारना।" ❀१०

❀१० वेदकों का अल्प बहुत्व–संसार भर के अनंतानंत जीवों में पुरुषवेद में रहे हुए जीव सबसे कम है उससे स्त्रीवेद के जीव संख्यात गुण ज्यादा है। अवेदक अर्थात सिद्ध के जीव उससे अनंतगुण ज्यादा है और सिद्ध के जीव करते भी नपुसकवेद के जीव अनंतगुणा ज्यादा है।

देवगति के देवों से देवीयाँ बत्तीस गुणी अधिक है। मनुष्य से स्त्रियाँ सत्तावीश गुणी अधिक है। तिर्यंच नर से तिर्यंच मादा की संख्या तीन गुणी अधिक है।

॥ तीसरा उद्देशक समाप्त ॥

शतक छठा उद्देशक–४

जीवों का सप्रदेशादि का विचार :

इस उद्देशक में भिन्न भिन्न दृष्टि से गिनायें हुये जीवों का सप्रदेश-अप्रदेश वैसे ही प्रत्याख्यान और आयुष्य सम्बन्धी विचार है। सार यह है :-

जीव कालादेश द्वारा निश्चय सप्रदेश हैं। ऐसा ही सिद्ध तक के जीवों के लिए जानना।

नैरयिक जीव कालादेश से सप्रदेश है और शायद अप्रदेश है। जीव कालादेश से नक्की सप्रदेश है। नैरयिक जीवों में कालादेश से—

(१) सभी ही सप्रदेश होते हैं।

(२) कितने ही सप्रदेश और एकाद अप्रदेश होते हैं।

(३) कितने ही सप्रदेश और अप्रदेश होते हैं।

इस प्रकार स्तनितकुमार तक के जीवों के लिए जानना।

पृथ्वीकाय के जीव सप्रदेश भी हैं और अप्रदेश भी है। इसी तरह वनस्पतिकाय तक जानना।

इस प्रकार भिन्न–भिन्न जीवों का सप्रदेश–अप्रदेश सम्बन्धी विचार विस्तार से है। ❈११

❈११ काल की अपेक्षा से जीव की सप्रदेशता और अप्रदेशता की चर्चा है। वैसे तो जीवमात्र के असंख्य प्रदेश जैनागम को मान्य है। परन्तु इस प्रदेशों की यहाँ बात नहीं है। काल की अपेक्षा से सप्रदेश और अप्रदेश किस प्रकार हो सकता है ? इसका विचार प्रस्तुत प्रश्न में किया है।

भगवान समाधान करते हुए फरमाते हैं कि–अनादिपन को लेकर जीव अनंत समय की स्थितिवाला होने से वह सप्रदेश है और जो एक समय की स्थितिवाला हो वह अप्रदेश है। एक से ज्यादा समयवाला हो वह सप्रदेश है। नरकगति में गया हुआ जीव जिस समय नरक में उत्पन्न होता है उस समय तक वह अप्रदेश होता है बाद में सप्रदेश होता है।

इस प्रकार सभी में ऐसा जानना।

जीव प्रत्याख्यानी भी है, अप्रत्याख्यानी भी है तथा मिश्र भी है।

नैरयिक अप्रत्याख्यानी है यावत् चउरिन्द्रिय जीवों तक जानना।

पंचेन्द्रिय, तिर्यन्च योनी के अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी भी है।

मनुष्य प्रत्याख्यानादि तीनों प्रकार के है। ❈१२

१२ प्रत्याख्यान और आयुष्य :

जीव तीन प्रकार के होते हैं :--

प्रत्याख्यानधर्मी, अप्रत्याख्यानधर्मी, प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानधर्मी। अब उनकी व्याख्या को समझले।

प्रत्याख्यान शब्द व्याकरण की दृष्टि से प्रति और आङ् उपसर्ग से ख्यांक धातु को भाव में 'अनट्' प्रत्यय लगाने से बनता है।

जीव अनादिकाल से मोह, माया, क्रोध, लोभ, मैथुन आदि कर्मों की वासना से वासित होने से उसके रोम रोम में पाप बसा रहता है। पाप की भावना भरी होने से माया के चक्कर में आकर या दूसरों के साथ अज्ञानवश गन्दे वातावरण में फंसकर प्रतिक्षण इस जीवात्मा की भी ऐसी ही मलिन भावनाएँ होती है। जैसे कि "तेरे पांव तो मूल में से ही उखेड़ डालूंगा। जरा भी मेरे सामने आया तो तुझे जेल में भेजकर तेरे बाल--बच्चों को गली-गली में भूखे मरते हुए कर दूंगा। तू जाहे जितनी धमाल करे तो भी मैं परस्त्री के तो पास जाऊंगा। भले ही मैं नर्क में जाऊं, पर अच्छी कमाई होवे ऐसे धंधे, व्याजवटा, झूठे नापतोल का व्यापार मेरे से छूटेगा नहीं।"

ऐसी बुरी भावनाओं में जिसका मन प्रतिक्षण डुबकी मारकर बैठा रहता है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान में ही संपूर्ण जीवन पूर्ण होता हो। बार बार किये हुए पापों की गठड़ी से बहुती ही भारी बना हुआ हो ऐसा जीव अनंत संसार में (Play Ground) 'प्ले ग्राउन्ड' के फुटबाल की तरह भटकता रहता है।

बबूल के बीज जैसे बबूल के झाड़ तथा कांटों को ही उत्पन्न करता है उसी प्रकार से पूर्वभव की वासना इस भव में भी साथ में आने के कारण सारा जीवन पेट भरने के लिए, मकान, भोगविलास और धन इकट्ठा करने में ही पूर्ण होता है। शहद की मक्खी जिस तरह शहद में से बाहर नहीं

निकल सकती है। उसी प्रकार माया तथा वासनारुपी शहद में से यह जीव भी सत्कर्म के मार्ग पर नहीं आ सकता है। आता भी है तो स्थिर नहीं रह सकता है और कभी स्थिर रहने का प्रयत्न भी करे तो कामदेव नाम का गुंडा, क्रोध रुपी भूत, मानरुपी अजगर, मायारुपी नागिन और लोभ नाम का राक्षस जीव के चारों तरफ चक्कर लगाता रहता है तथा जीव को वापिस माया के चक्कर में धकेल देता है।

जीव की ऐसी स्थिति होने पर भी राधावेध की तरह किसी क्षण संसार के दुःखी से दुःखों होकर थोड़ी पुरुषार्थ शक्ति का संचय करता है। तब सबसे पहले पापों के द्वार को बंद करने का प्रयत्न करता है और सबल पुरुषार्थ के द्वारा स्वाध्याय और तपस्या का आश्रय लेता है,

तब आत्मा में सम्यग्ज्ञान का प्रकाश धीरे धीरे बढ़ता है, और उस प्रकाश में अज्ञान का अंधकार, मिथ्याज्ञान का भ्रमजाल पदार्थज्ञान की विपरीतता के साथ संशयज्ञान भी चला जाता है और निश्चयात्मक, यथार्थ, स्वपर प्रकाशक ज्ञान प्राप्त होते ही संसार तथा उसकी माया पापोत्पादक, पापवर्धक, पापफलक और पापपरंपरक जैसी लगते ही उस भव्यात्मा के पापों की प्रवृत्ति के त्याग की भावना आगे बढ़ती है और पापों का द्वार सर्वथा बंद करने के लिए सर्वविति धर्म, समितिगुप्ति धर्म; निर्ग्रन्थ धर्म स्वीकार करने के लिए पूर्णरुप से तैयार होता है।

पापों के मार्ग पर प्रस्थान किया हुआ और पापों का आख्यान (कथन) की प्रवृत्ति करनेवाला आत्मा एक दिन प्रति-आख्यान अर्थात करे हुए, कराये, हुए और अनुमोदना के पापों से 'प्रति' वापस लौटता है। उसको भगवती सूत्रकार ने 'प्रत्याख्यान धर्म' कहा है।

सामने के शत्रु की व्यूह रचना, शस्त्र सामग्री, सैनिकों की वीर शक्ति और उनका उत्साह देखने के बाद युद्ध का आह्वान करने में आता है। उसी प्रकार आत्मा के प्रबल शत्रु पापस्थानक की पहचान, उनकी शक्ती मोहराजा के सैनिको की चालबाजी, इन्द्रियों के भोग विलास में आत्मा को फंसाने

की अद्‌भूत शक्ति का माप निकालना और उनके भयंकर मायाजाल को समझने के लिए आत्मा की तैयारी को सूत्रकार ने "ज्ञ-परिज्ञा" रुप में बताया है। मोहराजा की संपूर्ण मायाजाल को तोड़ डालने के लिए आत्मा के प्रबल पुरुषार्थ को 'प्रात्यारख्यान परिज्ञा' रुप में बताया है। इस तरह 'ज्ञ—परिज्ञा' से पापों को जानने तथा 'प्रच्यारुयान परिज्ञा' से छोड़ने वह प्रत्याख्यान धर्म सर्व—विरति धर्म हैं।

ऐसा उत्कृष्ट धर्म ८४ लाख जीव योनी के जीवों में से केवल १४ लाख मनुष्य योनि में जन्मे हुए मनुष्य ही स्वीकार कर सकते हैं।

उसमें भी अल्प कषायी होनेपर भी भोग—विलास में पूर्ण मस्त बने हुए युगलिक मानव तथा संमूर्च्छिम मानव को तथा अपर्याप्त मानव के भाग्य में धर्म नहीं हैं।

अनार्य जाति में जन्मे हुए के अनार्य संस्कार, म्लेच्छ कुल में जन्मे हुए के म्लेच्छ संस्कार, हिंसक जातिवालों के हिंसक संस्कार यदि नियन्त्रण में नहीं आये हो तो उनको भी महाव्रत प्राप्त नहीं हो सकता है।

अब उच्च खानदान, आर्यकुल, आर्यजाति वैसे ही शरीर के अंगोपांग सुंदर प्राप्त होनेपर भी स्वयं के आर्य संस्कारों को जिसने पाले नहीं हो उनको भी जैन धर्म प्राप्त नहीं हो सकता है। शायद कुल को लेकर जैन जरूर गिनायेगा परन्तु जैन धर्म के मूल प्राण "जैनत्व" से तो उसकी आत्मा हजारो मील दूर रहेगी।

चार निकाय के सम्यग् दृष्टि देवों की तीर्थंकर पर संपूर्ण श्रद्धा होनेपर भी महाव्रत या अणुव्रत स्वीकारने में समर्थ नहीं होते है। इसीलिए प्रत्याख्यान धर्म—महाव्रत धर्म की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है।

स्कूल में विद्यार्थियों की कक्षा एक समान नहीं होती उसी प्रकार। संसार के जीवो की शक्ति भी एक समान नहीं होती है। श्रद्धा और भावना में थोड़ी कमी होने से दूसरे नम्बर के जीव प्रत्याख्यानाऽप्रत्याख्यान

अर्थात् सर्व पापों की निवृत्ति भी नहीं कर सकते उसी प्रकार सर्व निरर्थक पापों के द्वार खुले रखने की भावनावाले भी नहीं होते इसलिए उनको देशविरति धर्म, श्रावक धर्म, विरताविरत धर्म, संयतासंयत धर्म और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान धर्म का उदय आता है। स्वयं के जीवन में अप्रत्याख्यान कषाय ऊपर थोड़े अंश में या सर्वांश में संयम लाता है तब श्रावक धर्म की प्राप्ति होती है। उस समय महापाप नहीं करने की भावना उत्पन्न होते ही ज्ञानपूर्वक गुरु के सन्मुख श्रावक धर्म अर्थात् सम्यक्त्वपूर्वक बारह व्रत को स्वीकारता है और श्रद्धा से उसका पालन करता है।

महाव्रतधारी और देशविरति को छोड़कर बाकि के सभी जीव अप्रत्याख्यानी होते हैं। उनको पाप का ख्याल और उसे छोड़ने की भावना भी नहीं होती है। वह संसार की माया के वश होकर छोड़ नहीं सकता है।

इसप्रकार पापों के सेवन में, सेवने की भावना में, भोगे हुए भोग की स्मृति में और भविष्य में भी अर्थ और काम को भोगने की लालसा में ही उनका पूरा जीवन व्यतीत होता है।

महावीर स्वामी के जीवन के प्रति जिसको श्रद्धा हो, तथा श्रद्धा के बल से जैन धर्म की मान्यता में विवेक प्रगटा हो तो महाव्रत या बारह व्रत स्वीकार कर स्वयं के मानव जीवन को सफल बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिये यही एक सच्चा मार्ग है।

जिसके जीवन में जैन धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा नहीं, जैनत्व प्राप्त करने की लेशमात्र भी तमन्ना नहीं, अहिंसा धर्म का राग नहीं। हिंसा पाप आदि छोड़ने की भावना नहीं, दुर्जनों के सहवास में आनंद आता है, सज्जनों का द्वेषी है ऐसे मिथ्यात्व के गहन अंधकार में और सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुए जीवों में अविरति, कषाय, प्रमाद और योगवक्रता निश्चय रहनेवाले हैं। इसलिए ऐसे मिथ्यात्व में रही हुई आत्मा भवान्तर के लिए जब आयुष्य बांधेगी तब नरक गति, स्थावरगति और विकलेन्द्रिय का ही आयुष्य बांधेगी जहां अप्रत्याख्यान अर्थात् अविरति धर्म ही रहेगा।

८४ लाख जीवयोनी में से ६२ लाख जीवयोनी के जीव मिथ्यात्व के कारण से ही ऐसा स्थान प्राप्त करते हैं ।

॥ चोथा उद्देशक समाप्त ॥

शतक छठा उद्देशक–५

तमस्काय :

इस उद्देशक में तमस्काय, कृष्णराजीऐं और लोकांतिक देव सम्बन्धी विवरण है ।

सार यह है–तमस्काय यह पानीतमस्काय कहलाता है । यह तमस्काय जम्बूद्वीप की बाहर तीर्छे असंख्य द्वीप समुद्रों को पार करने के बाद, अरुणवर द्वीप की बाहर अरुणोदय समुद्र के ४२ हजार योजन को पार करे तब उपरितन जलांत आता है उसके एक प्रदेश की श्रेणी से तमस्काय समुत्थित है ।

तमस्काय का आकार कोड़ी के नीचे के भाग जैसा और ऊपर से कूकड़े के पिंजड़े के समान है।

तमस्काय दो प्रकार के है (१) संख्येय विस्तृत और (२) असंख्येय विस्तृत। पहला संख्येय योजन सहस्र है और दूसरा असख्येय योजन सहस्र के विष्कंभवाला है।

तमस्काय में बड़े मेघ संस्वेद होते हैं और बरसते हैं। यह क्रिया देव, असुर और नागकुमार भी करते हैं। तमस्काय में बादर स्तनित शब्द और बिजली है उसको भी देव, असुर और नागकुमार करते हैं।

तमस्काय का वर्ण महाकाला है। उसके १३ नाम हैं–(१) तम (२) तमस्काय (३) अंधकार (४) महा अंन्धकार (५) लोकांधकार (६) लोक-तमिस्र (७) देवांधकार (८) देव तमिस्र (९) देवारण्य (१०) देवसमूह (११) देव परिघ (१२) देव प्रतिक्षोभ (१३) अरुणोदक समुद्र।

तमस्काय यह पानी का परिणाम है, जीव का परिणाम है और पुद्गल का परिणाम भी है।

इस तमस्काय में सर्व प्राण, भूत, जीव, सत्व, पृथ्वीकाय के रुप में यावत् त्रसकाय रुप में अनेक बार तथा अनंतबार उत्पन्न हुए है परन्तु बादर पृथ्वीकाय रुप में और बादर अग्निकाय रुप में उत्पन्न नहीं हुअें।

कृष्णराजीअें:—इसी प्रकार विस्तार से कृष्ण राजी के सम्बन्धी प्रश्न हैं।

कृष्णराजी आठ हैं वह सनत्कुमार, महेन्द्रकल्प में और नीचे ब्रह्म-लोक कल्प में आरिष्ट विमान के पाथड़े में हैं। उसका आयाम असंख्येय योजन सहस्त्र, विष्कंभ संख्येय योजन सहस्त्र और परिक्षेप असंख्येय योजन सहस्त्र है।

इन कृष्णराजीयों में महामेघों का संस्वेदन होता है, संमूर्छित होते हैं

और वर्षा बरसती है। यह क्रिया देव करते हैं असुर या नाग नहीं करते। ये कृष्णराजी रंग से महाकाली है।

उसके नाम–कृष्णराजी, मेघराजी, मघा, माघवती, वातपरिघा, वातपरिक्षोभा, देवपरिघा और देवपरिक्षोभा यह आठ है।

कृष्णराजी यह पृथ्वी का परिणाम है, जीव और पुद्गल का भी परिणाम है।

कृष्णराजी में अनेकबार तथा अनंतबार प्राण, भूत, जीव, सत्त्व उत्पन्न हुए हैं परन्तु बादर–अप्काय, बादर अग्निकाय और बादर वनस्पतिकाय के रुप में उत्पन्न नहीं हुए।

इन आठ कृष्णराजीयों के आठ अवकाशान्तर में आठ लोकांतिक विमान हैं उनके नाम ये हैं–अर्ची, अर्चीमाली, वैरोचन, प्रभंकर, चन्द्राभ, सूर्याभ, शुक्राभ और सुप्रतिष्ठाभ यह आठ हैं।

उत्तरपूर्व के बीच में अर्ची, पूर्व में अर्चीमाली, बहुमध्य भाग में रिष्ट विमान है। ऐसे भिन्न–भिन्न दिशा में दूसरे जानना। उसमें आठ जात के लोकांतिक देव रहते हैं। यह इस प्रकार–सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और आग्नेय। मध्य में रिष्ट देव है।

सारस्वतदेव अर्ची विमान में, आदित्यदेव अर्चीमाली में इस तरह अनुक्रम से जानना।

लोकांतिक विमान वायु प्रतिष्ठित अर्थात् वायु के आधार पर हैं।

इन विमानोंसम्बन्धी सारा विवरण 'जीवाभिगम' सूत्र के देव उद्देशक में कहा हुआ है। ब्रह्मलोक की वक्तव्यता के प्रमाण से जानना।

लोकांतिक विमान की आठ सागरोपम की स्थिति है।

लोकांतिक विमान से असंख्य हजार योजनों के पश्चात् लोकांत आता है। ❖ १२

❀१३ तमस्काय किसको कहते है ?

गाढ़ अन्धकार की राशि को तमस्काय कहते हैं। यहाँ किसी खास तमस्काय की विवक्षा होने से वह पृथ्वीरज का स्कंध या पानी रज का स्कंध हो सकता है। पानी रज का स्कंध अप्रकाशी होने से और तमस्काय भी अप्रकाशी होने से यह प्रस्तुत तमस्काय पानी रज का स्कंध ही है। इसमें बादर पृथ्वीकाय और बादर अग्निकाय नहीं होते हैं क्योंकि पृथ्वीकाय तो रत्नप्रभादि आठों पृथ्वी में, गिरिओ में और विमानो में ही होता है और अग्निकाय केवल मनुष्य लोक में ही होने से इन दोनों का तमस्काय में निषेध है।

यह तमस्काय भयानक काला रंग का होने से देव भी डर के कारण वहाँ जाने को तैयार नहीं होते हैं कभी जाय तो अत्यन्त शीघ्र गति से उसे पारकर वापिस लौट जाते हैं।

तमस्काय के पर्याय :

(१) तम—अंधकार रुप में होने से।

(२) तमस्काय--अंधकार के समूह रुप में होने से।

(३) अंधकार--तमोरुप होने से।

(४) महाअंधकार--महातमोरुप होने से।

(५) लोकांधकार, लोकतमिस्र--लोक में इसप्रकार का दूसरा अंधकार नहीं होने से।

(६) देवांधकार, देवतमिस्र--उद्योत का अभाव होने से देव को भी अन्धकार रुप होता है।

(७) देवाख्य—बलवानदेव को भी भय लगे ऐसा होने से।

(८) देवव्यूह—देवको भी दुर्भेद्य होता है।

(९) देवपरिघ–देव को भी भयोत्पादक होने से उनके गमन के लिए विघात रुप होने से।

(१०) देवप्रतिबोध–देव को क्षोभ का कारण है।

(११) अरुणोदकसमुद्र--अरुणोदक समुद्र का विकार होता है।

ऐसे तमस्काय में बादर वायुकाय, बादर वनस्पतिकाय और त्रस जीव उत्पन्न होते हैं। शेष जीव का वहाँ स्थान नहीं है।

वायु और वनस्पतिकाय की उत्पत्ति अप्काय में संभवित हैं।

॥ पांचवा उद्देशक समाप्त ॥

शतक छठा उद्देशक—६

मारणान्तिक समुद्‌घाती की आहारादि

इस प्रकरण में मुख्य दो बातें हैं। पृथ्वीयाँ, पांच अनुत्तर विमान तथा मारणान्तिक समुद्‌घात, जिसका सार यह है :-

पृथ्वी सात है रत्नप्रभादि, विजयादि और पांच अनुतर विमान सम्बन्धी विवरण पहले आ चुका है। अब मारणान्तिक समुद्‌घात से समवहत हुए जीवसम्बन्धी विवरण है। सार यह है :-

मारणान्तिक समुद्‌घात से समवहत हुआ निरयावासी कोई जीव भी निरयावास में जाय तो ऐसे समुद्‌घात करनेवाले जीव वहाँ जाकर ही आहार करते हैं। तथा शरीर बनाते हैं। कोई जीव वहाँ से वापिस यहाँ आकर फिर से मारणान्तिक समुदघात से समवहत होकर किसी एक निरया वास में उत्पन्न होकर आहार करता है तथा शरीर बनाता है।

असुरकुमार में भी उत्पन्न होनेवाले के लिए ये दो भेद जानना—

मारणान्तिक समुद्‌घात द्वारा समवहत होकर पृथ्वीकाय के आवासो के किसी में भी उत्पन्न होनेवाले हो तो ज्यादा लोकांत तक जाते हैं। वहां जाकर आहार करने में परिणत करने में और शरीर बनाने में उन जीवों के उपरोक्त ही दो भेद हैं। कितने ही वहाँ जाकर आहार करते हैं और कितने ही वापिस आकर फिर से समुद्‌घात द्वारा पृथ्वीकाय के किसी आवास में पृथ्वीकाय के रुप में जन्मकर आहार करते हैं।

दो इन्द्रियों के आवास में भी उत्पन्न होनेवाले के लिए नैरयिकों की तरह जानना और इसी प्रकार पांच अनुत्तर विमान या और किसी में उत्पन्न होनेवाला हो तो भी ऐसा ही समझना। ❈१४

❈१४ मरण समुद्घात :

अदम्य पुरुषार्थशक्ति के द्वारा लगभग मृत्युंजय जैसे महापुरुषों को छोड़कर दूसरे सभी के लिए मृत्यु की अवस्था अत्यंत दुःखमयी होती है क्योंकि जीवनभर के कर्मो का विवरण चित्रपट के समान मृत्यु शय्यापर पड़े हुए मनुष्य के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है।

बाल्यकाल की अज्ञानदशा में तथा गधा पच्चीसी के समान युवावस्था में तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान उत्पन्न करानेवाली प्रौढावस्था में जो कुछ अशुभ कर्म किए हो, वे सभी एक के बाद एक याद आते हैं। अपना जीव बीत गये क्षणों के लिए भयंकर अफसोस व पश्चाताप करता हुआ सर्वथा अलङ्घ्य मानसिक वेदनाओं को भुगतता है।

ऋषि महर्षि कहते हैं--उस समय की वेदना इतनी ज्यादा तीव्र होती है कि बोलने की इच्छा होनेपर भी बोल नहीं सकता है, परिवार को कुछ कहने की इच्छा होनेपर भी कह नहीं सकता है, एक दूसरे के सामने एकटक आँखे फाड़कर देखता है, चारों तरफ बिखरी हुई स्वयं की माया को टुकर टुकर देखता है तथा आँखों में से पानी बहाता जाता है।

असह्य वेदनाएँ जब अधिक बढ़ जाती है तो सन्निपात में आये हुए जीव की वेदना को केवली भगवान के सिवाय कोई जान नहीं सकता है। मरने वाले को मालूम हो गया हो कि मेरा जीवन दीप बुझ रहा है ऐसी स्थिति में लाचार बनी हुई आत्मा को संसार का कोई भी मनुष्य दुःख मुक्त नहीं कर सकता है।

कर्मो की तीव्रता हो और वेदना असह्य बन गई हो तब उस अवस्था

को 'मरण–समुद्घात' कहते हैं। भवान्तर के लिए बेड़ी जैसा आयुष्यकर्म न बांधा हो तो मृत्यु समय भी बांधना ही पड़ता है इसके बिना छुटकारा नहीं है। इसी से ही मरते हुए बहुत से जीवों को अपन देखते हैं कि जीवन दीपक बुझने के समय पर ही क्षणभर के लिए सांस अवरोध होता है और आसपासवाले सोच लेते हैं कि भाई मर गये हैं और थोड़े से समय में ही श्वास वापिस चलने लगता है उस समय अपनी पहले की मान्यता झूठी हो जाती है पर ऐसा होता जरुर है।

केवली भगवंत के शासन के आधार–से अपने को मालूम पड़ती है। कि, आयुष्यकर्म का उपार्जन करने के बाद स्वयं को जहाँ जन्म लेना है उस स्थान को आत्मा मरण समुद्घात द्वारा देख आती है और वापिस मूल शरीर में आकर अशाता को भुगतते इस भव का अन्तिम सांस पूर्ण करके जहाँ जन्म लेना है वहाँ उसी समय या चार समय में पहुँच जाती है। वहाँ आहार ग्रहण करके भोजन को पचाती हुई यह आत्मा शरीर का निर्माण करती है।

इस भव की माया को छोड़ने की इच्छा न होनेपर भी छोड़नी पड़ती है और आगे दूसरे भव की माया का श्रीगणेश हो जाता है। कर्मसत्ता के सामने सर्वथा रांक बनी हुई आत्मा स्वयं परवश बनकर कर्मों का नाटक करती है।

महान पुण्योदय के योग से मिले मनुष्य भव में इस संसार की माया चिकनी भूमि के समान होती है, जैसे कि बिना परिश्रम करोड़पति होने की भावनावाला मनुष्य बम्बई के सट्टाबाजार में आता है। पहले तो चिकनी भूमि जैसा यह सट्टाबाजार थोड़ा फायदा करता है और बाद में तो–शकुनि के साथ जुआं खेलने के लिए बैठा युधिष्ठर एक के बाद एक दाव हारता जाता है वैसे आत्मा भी दुर्बुद्धि वश, असद् विवेक का स्वामी बनकर समुद्र के पानी के एक बूंद के जितना प्राप्त करता है और बहुत हार जाता है।

अन्त में पूर्वभव के करे हुए सत्कर्मों, साधुसेवा, दान, पुण्य आदि को संसार की मायाजाल में सब गवां देता है और दुर्गति के महागर्त में पड़ा हुआ रखड़ता रहता है।

॥ छठा उद्देशक समाप्त ॥

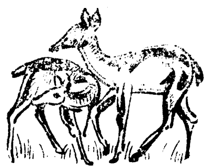

शतक छठा उद्देशक—७

अलग अलग अनाज की योनी कहां तक रहती है ?

इस उद्देशक में अलग-अलग जात के अनाज की योनी सचित्त कितने समय तक रहती है वह बताने के बाद गणनीय काल और उपमेयकाल का वर्णन किया है। सार यह है :—

कोठार में भरा हुए घास के पाले से ढँका हुआ, माचा के माला में रखा हुआ, राख से लिपटा हुआ तथा अत्यन्त सावधानी से रखा हुआ शाली व्रीही, गेहूँ, यव और यव–यव की योनी कम से कम अन्तर्मुहूर्त और

ज्यादा से ज्यादा तीन वर्ष तक कायम रहती है उसके बाद वह योनी नाश हो जाती है। बीज अबीज (अचित) हो जाता है।

उपरोक्त प्रमाग से ही संभाले हुए कलाय, मसूर, मूंग, उड़द, वाल, कलथी, चावल, तुअर और गुड़ चना इन अनाजों की योनि ज्यादा ज्यादा पांच वर्ष रहती है।

इसीप्रकार अलसी, कुसुंभ, कोद्रवा, कांग, बरट-बंटी, शण, सरसों और एक जात के सब्जी के बीज इन सबकी योनी ज्यादा से ज्यादा सात वर्ष रहती है।

इसके बाद गणनीय काल इसप्रकार है। ❁१५

❁१५ उपमेयकाल की गिनती-तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा सुई के अग्रभाग द्वारा न भेद सके उस परमाणु को सर्व प्रमागो में आदि भूत प्रमाण कहते हैं। वह इस तरह है :—

अनंतपरमाणु के समुदाय बराबर	१ उत्इलक्ष्ण
८ उश्लक्ष्ण श्लेक्षिणका	१ श्लक्षण श्लक्षिणका
८ श्लक्ष्ण श्लक्ष्णिका	१ उर्ध्वरेणु
८ उर्ध्वरेणु	१ त्रसरेणु
८ त्रसरेणु	१ रथरेणु
८ रथरेणु	१ देवकुरु उत्तरकुरु युगलिकों का वालाग्र
८ वालाग्र	१ हरिवर्ष रम्यक युगलिको का वालाग्र
८ वालाग्र	१ हेमवंत ऐरवत युगलिको का वालाग्र
८ वालग्र	पूर्व महाविदेह युगलिकों का वालाग्र

८ वालाग्र	१ लिक्षा
८ लिक्षा	१ यूका (जु)
८ यूका	१ जव मध्य
८ जववध्य	१ अंगूल
६ अंगूल	१ पाद
१२ अंगूल	१ वेंत
२४ अंगूल	१ हाथ
४८ अंगूल	१ कुक्षि
९६ अंगूल	१ दंड धनुष्य युगनालिका
२००० धनुष्य	१ गाऊ (कोश)
४ गाऊ (कोश)	१ योजन

इसके आगे का कोष्टक दूसरी जगह पर दिया है।

॥ सातवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक छठा उद्देशक—८

पृथ्वी के नीचे क्या है ?

इस प्रकरण में पृथ्वी के नीचे क्या है ? आयुष्य के बंध का प्रकार, लवण समुद्र का स्वभाव आदि विवरण है ? सार यह है :—

यहाँ पृथ्वी की संख्या आठ की बतायी है। रत्नप्रभा से लेकर इषत् प्राग्भारा। रत्नाप्रभा के नीचे गृह और गृहापन, ग्रामों या सन्निवेश बादर, अग्निकाय, चन्द्र तारे तथा चन्द्र का प्रकाश या सूर्य का प्रकाश नहीं है परन्तु बड़े मेघ बनते हैं, संमूर्च्छते हैं और बरसात बरसती हैं बादर स्तनित शब्द है और वह क्रिया देव; असूर या नाग करते है ।

दूसरी तथा तीसरी पृथ्वी में भी ऐसा ही है अन्तर इतना है कि तीसरी पृथ्वी के ऊपर की क्रिया देव करते हैं, असुर करते हैं परन्तु नाग नहीं करते हैं। चौथी पृथ्वी में अकेले देव करते हैं इसप्रकार सभी नीचे की पृथ्वी में समझना है ।

सौधर्म और ईशान कल्प के नीचे गृह या गृहापन नहीं है पर महामेघ है । इन मेघ को देव या असुर करते हैं। इसी तरह स्तनित शब्द के लिए भी जानना । वहाँ बादर पृथ्वीकाय या बादर अग्निकाय नहीं है तथा चन्द्र, ग्राम आदि नहीं है ।

ऐसा ही सनत्कुमार और महेन्द्र देवलोक में भी जानना विशेष यह कि वहां अकेले देव करते हैं। ऐसा ही ब्रह्मलोक में और ब्रह्मलोक के ऊपर जानना।

आयुष्य बन्ध का प्रकार :

आयुष्य का बंध छः प्रकार से है—

(१) जातिनाम निधत्तायु। (२) गतिनाम निधत्तायु। (३) स्थितिनाम निधत्तायु (४) अवगाहना नाम निधत्तायु (५) प्रदेशनाम निधत्तायु (६) अनुभाग नाम निधत्तायु।

जीव उपरोक्त आयुष्यवाले होते हैं इसपर थोड़े प्रश्नोत्तर है परन्तु करीब समान ही है। भावार्थ यह कि जीव जातिनाम निधत्त है। यावत् अनुभागनाम निधत्तायुष है। ये बाहर दंडक हैं।

लवण समुद्र का स्वभाव :

लवण समुद्र उछलता हुआ पानीवाला, तथा क्षुब्ध पानीवाला है पर समजलवाला या अक्षुब्ध पानीवाला नहीं है। (इस सम्बन्धी जीवाभिगम सूत्र में विशेष कहा है)। बहार के समुद्र पूर्ण, पूर्ण प्रमाणवाले और समभर घट रुप में रहते हैं। संस्थान से एक प्रकार के स्वरुपवाले, विस्तार से अनेक प्रकार के स्वभाववाले, द्विगुण प्रमाण। यहां तक कि तिर्यग्लोक में असंख्य द्वीप समुद्र, स्वयंभूरमण समुद्र पर्यंत कहे हैं।

इन द्वीप समुद्र के नाम, लोक में जितने शुभनाम, शुभरुप, शुभगंध, शुभरस, शुभस्पर्श है इतने है, इतने शुभनाम द्वीप समुद्र के है। इस प्रकार उद्धार, परिणाम और उत्पाद जानना।

॥ आठवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक छठा उद्देशक—१

कर्म तथा देव का विकुर्वण :

इस प्रकरण में कर्म और जीव, देव की विकुर्वण शक्ति और दूसरे देव को जानना तथा देखना यह विवरण है। सार यह हैं—

ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता हुआ जीव छः, सात और आठ प्रकार से कर्मों को बांधता हैं। (यहां प्रज्ञापना सूत्र का बंध उद्देशक जानना)

महर्धिक देव बहार के पुद्गलों को ग्रहणकर एक वर्णवाला, एक आकारवाला स्व-शरीर आदि का विकुवर्ण करने में समर्थ है। देवलोक में रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण करके विकुवर्ण करते है। इस तरह (१) एक वर्णवाला एक आकार को (२) एक वर्णवाला अनेक आकार को (३) अनेक वर्णवाला एक आकार को अनेक वर्णवाला अनेक आकार के विकुवर्ण करने में समर्थ होते हैं।

इसी प्रकार काले पुद्गल को नीलपुद्गल में और नील पुद्गल को काले पुद्गल में परिवर्तित करने में भी बहार के पुद्गल का ग्रहण करना ही चाहिए।

रंग के परिवर्तन के समान ही गंध, रस, स्पर्श के परिवर्तन के लिए गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि परिवर्तन के लिए भी जानना। बहार के पुद्गल को ग्रहण करके कर सकते हैं।

(१) अविशुद्ध लेश्यावाला अनुपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(२) अविशुद्ध लेश्यावाला अनुपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(३) अविशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(४) अविशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(५) अविशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(६) अविशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(७) विशुद्ध लेश्यावाला अनुपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(८) विशुद्ध लेश्यावाला अनुपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्ध लेश्यावाले देव को जानते और देखते हैं।

(९) विशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्यावाले देव को जानते और देखते हैं।

(१०) विशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्ध लेश्यावाले देव को जानते और देखते हैं।

(११) विशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्तानुपयुल्क आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(१२) विशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानता और देखते हैं।

॥ नौवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक छठा उद्देशक—१०

जीव :

इस उद्देशक में जीवों का सुख दुःख, जीव का प्राणधारण, भव्यत्व एकान्त दुःख वेदन, आत्मा द्वारा पुद्गलों का ग्रहण और केवली यह विवरण है। सार यह है:-

कोई कहते हैं कि राजगृह में जितने जीव हैं उतने जीवों का बेर की गुठली, वाल, चावल, उड़द, मूंग, जूं और लीख जितना भी सुख दुःख को निकालकर बतलाने में समर्थ नहीं है परन्तु महावीर स्वामी कहते है कि सर्वलोक के सभी जीवों के सुख दुःख को निकालकर बतलाने में कोई भी समर्थ नही हैं।

जीव निश्चय चैतन्य स्वरुपी है और चैतन्य भी निश्चय जीव हैं।

नैरयिक निश्चय जीव है पर जीव तो नैरयिक भी होते अनैरयिक भी होते हैं। असुरकुमार नियम से जीव है। जीव असुरकुमार भी होते और न भी होते। ऐसा ही वैमानिक तक जानना।

प्राणधारण करे वह नियम से जीव कहलाता है पर जो जीव हो वह प्राण धारण करे या न भी करे, नैरयिक निश्चय से प्राण धारण करते है। पर प्राण धारण करनेवाला नैरयिक भी हो और अनैरयिक भी हो सकता है। ऐसा वैमानिक तक जानना।

सुख दुःख का अनुभव :

भवसिद्धिक भव्य नैरयिक भी होते हैं और अनैरयिक भी होते।

नैरयिक भवसिद्धिक भी होते और अभवसिद्धिक भी होते। ऐसा वैमानिक तक जानना।

कितने ही ऐसा कहते हैं कि सर्व प्राण, भूत, जीव, सत्व एकांत दुःखरुप वेदना भुगतते हैं यह असत्य है। कितने ही प्राण, भूत, जीव, सत्त्व एकान्त दुःखरुप वेदना वेदते हैं और शायद सुख को भी वेदते है। कितने ही एकांत सुखरुप वेदना को वेदते हैं और शायद दुःख को वेदते हैं। कितने ही विविध प्रकार से वेदना वेदते हैं अर्थात् कभी सुख को वेदते हैं कभी दुःख को वेदते हैं। पहली कोटी मे नैरयिक है, दूसरी कोटी में भवनपति वानव्यंतर से ज्योतिष्क और वैमानिक हैं। तीसरी कोटी में पृथ्वीकाय से लेकर मनुष्य तक के जीव आ जाते हैं।

नैरयिक आत्मशरीर क्षेत्रावगाढ़ पुद्‌गलों को आत्मा द्वारा ग्रहणकर आहार करते हैं। वे अनंतर क्षेत्रावगाढ़ पुद्‌गलो को आत्मा द्वारा ग्रहण कर आहारते नहीं है वैसे ही परम्परा क्षेत्रावगाढ़ पुद्‌गलो को आत्मा द्वारा ग्रहणकर आहारते नहीं है। ऐसा ही वैमानिक तक जानना।

केवली भगवान सर्वत्र मित अमित सब जानते हैं। इन्द्रियों के द्वारा जानते तथा देखते नहीं है पर ज्ञान से जानते और देखते हैं। केवली का दर्शन निर्वृत हैं।

॥ दसवां उद्देशक समाप्त ॥

"समाप्ति वचन"

जगत्पूज्य, शास्त्र विशारद, जैनाचार्य, स्व. १००८ श्री विजयधर्म सूरीश्वजी महाराज के शिष्य शासन दीपक, महान लेखक, वक्ता, कवि, संगीतकार स्व. श्री विद्याविजयजी महाराज जिन्दगी के अंतिम क्षण तक शासन की सेवा और समाज की चिन्ता में मग्न थे।

संस्थाओं के संचालन में पूर्ण मस्त होनेपर भी भगवतीसूत्र के छः शतक तक लिखने का कार्य कर पाये। वे आगम के भी ज्ञाता थे। पाँच शतक तक प्रथम भाग प्रकाशित हो गया है जबकि दूसरे भाग में छठे शतक का उनके शिष्य पंन्यास श्री पूर्णानंदविजय (कुमार श्रमण) महाराज ने अपनी अल्पमति के अनुसार यथाशक्य विवेचन करके यह शतक पूर्ण किया है।

॥ सर्वे जीवाः सुखिनः सन्तु ॥

॥ छठा शतक समाप्त ॥

शतक सातवां उद्देशक–१

इस सातवें शतक में दस उद्देशक हैं और उसमें निम्न विषय आते हैं :-

(१) आहार, आहारक और अनाहारक। (२) अप्रत्याख्यान (३) स्थावर वनस्पति का कथन (४) संसारी जीव की वक्तव्यता (५) पक्षी सम्बन्धी (६) आयुष्य सम्बन्धी (७) साधुओं की चर्चा (८) छद्मस्थ जीव (९) प्रमादी साधु (१०) कालोदायी आदि अन्य तीर्थिको के प्रश्न।

प्रश्न–हे प्रभु ! जीव किस समय आहार बिन का होता है ?

जवाब में भगवान ने फरमाया कि–जीवमात्र को दो प्रकार का आहार होता है। अनाभोग निवर्तित और आभोगनिवर्तित । इसमें उत्पत्ति के प्रथम समय से जिन्दगी के अन्तिम सांस तक अनिच्छा से औदारिकादि पौद्गलिक आहार होता रहता है जो अनाभोगिक आहार कहलाता है। दूसरे प्रकार का आहार इच्छापूर्वक होता है। ऋजुगति से दूसरे शरीर को धारण करने के लिए पहले का चालू शरीर छोड़ना और दूसरे शरीर के लिए आहार लेना वह दोनों एक ही समय में होता है अतः एक समय की ऋजुगति में संसारी जीव अनाहारक नहीं है और सिद्ध का जीव अनाहारक है।

वक्रगति से भवांतर करने के लिए दो समय लगते हैं, उसमें पहला समय अनाहारक, दो वक्रगति करनी हो तो जीव को स्वस्थान में उत्पन्न होने में तीन समय लगते हैं। पहले के दो समय अनाहारक और तीन वक्रगति से चार समय लगते हैं। पहले के तीन समय आहार बिना के होते हैं।

तीन समय में विग्रहगति इस तरह होगी। त्रस नाड़ी की बाहर विदिशा में रहा हुआ कोई जीव जब अधोलोक से उर्ध्वलोक त्रस नाड़ी के बाहर विदिशा में उत्पन्न होता है तब वह अवश्य प्रथम समय में विश्रेणी से समश्रेणी में आयेगा। दुसरे समय में त्रस नाड़ी में प्रवेश करेगा, तीसरे समय में उर्ध्वलोक में जायेगा और चौथे समय में लोकनाड़ी से बाहर होकर उत्पत्ति स्थान में उत्पन्न होगा। यहां आदि के तीन समय विग्रह गति के होते है।

जो नारकादि त्रस जीव मरकर त्रस योनी में उत्पन्न होगें। उसका त्रस नाड़ी से बाहर जाना आना नहीं होता इसलिए तीसरे समय में वह जीव अवश्य आहारक होता है।

जिस तरह कोई मत्स्यादि भरत क्षेत्र के पूर्व भाग से ऐरावत क्षेत्र के पश्चिम भाग के नीचे नरक में उत्पन्न होता है। वह जीव एक समय में भरत के पूर्व भाग से पश्चिम भाग तरफ जाता है, दूसरे समय में ऐरावत के पश्चिम भाग तरफ जाता है और तिसरे समय में नरकभूमि में जाता है उत्पन्न होने के पहले समय में और भव के अन्तिम समय में जीव अल्पाहार-वाला होता है

प्रश्न—उपाश्रय में सामायिक करनेवाले श्रावक को क्या ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है? या सांपरायिक क्रिया लगती है।

मन, वचन और काया में वीर्यान्तराय के क्षयोपशय को लेकर शुभ या अशुभ जो कोई परिस्पंदन (हालचाल) होता है वह क्रिया कहलाती है।

राग द्वेष का सर्वथा क्षय होने के बाद या आत्मा का उस प्रकार की वीतराग अवस्था प्राप्त होने के बाद उन महापुरूषों की क्रिया अैर्यापथिकी क्रिया कहलाती है शेष जीवों की क्रिया सांपरायिकी कहलाती है।

जवाब में भगवान ने फरमाया है कि—श्रावक कितना ही त्यागी, तपस्वी या व्रतधारी हो तो भी वह गृहस्थ ही है तथा गृहस्थी सर्वथा पत्नी, पुत्र,

पौत्र, व्यापार और संसार के व्यवहारों से ओतप्रोत होता है अतः उसकी आत्मा कषाय भाववाली होने से उसको सांपरायिक क्रिया लगती है।

क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार कषाय हैं। क्रोध पर काबू करना सरल हो सकता है परन्तु मान अजगर जैसा भयंकर है और माया को नागिन जैसी कहा है। अजगर को वश करना सरल है परन्तु नागिन को वश करने में अच्छे अच्छे भटक जाते हैं और लोभ को राक्षस की उपमा दी है। संसार के जितने भी पाप है उन सबका बाप लोभ है। इसकी सत्ता दसवें गुणस्थानक पर्यंत विद्यमान है इसलिए श्रमणोपासक गृहस्थी होने के कारण से, कषाययुक्त होते है अतः इच्छा या अनिच्छा से भी सांपरायिक क्रिया का स्वामी बनता है। यद्यपि हर समय में वह कषाय में नहीं रहता है परन्तु उसका खाना, पीना, सोना, उठना, लिखना और बोलना प्रायः कषाययुक्त ही होता है तथा प्रवृत्ति भी कषायवाली होती है।

थोड़ी देर के लिए मानले कि श्रावक बहुत सी प्रवृत्तियों में क्रोध नहीं करता है पर मान–अभिमान या मद की मात्रा तो जरुर होती है क्योंकि उस समय भी श्रमणोपासक स्वयं की क्रिया के प्रति स्वयं के याद किये हुए सूत्रों के प्रति तथा दूसरे किसी को न आता हो तो उसके अन्दर अभिमान की मात्रा जरुर दृष्टिगोचर होगी। "मैं हूँ तो गांव में थोड़ी बहुत धर्म प्रवृत्ति दिखती है। मेरे जैसी स्नात्र पूजा और किस को आती है? मेरे जैसे स्पष्ट सूत्र किसको बोलना आता है"? ऐसी भावना के कारण अन्दर का अहंकार जरुर प्रतीत होता है।

कभी किसी भाग्यशाली को इतना अभिमान नहीं हो तो वह प्रतिक्रमण करते स्वयं की शिथिलता को–प्रमाद को, प्रमादयुक्त क्रिया को छुपाने की भावना उसमें दिखती है। स्वयं भले ही नींद में प्रतिक्रमय करता हो पर उस बात को छुपाने के लिए ऐसा ढोंग रचेगा कि मानो वह ध्यान में बैठा हो। यह माया कषाय का ही चमत्कार है।

कभी किसी भाग्यशाली को इतनी माया भी न हो तो उसमें लोभ का दर्शन होगा। "मैं ट्रस्टी हूँ। मेरा हक आगे बैठने का है। प्रतिक्रमण में भी हवावाली खिड़की के पास बैठूंगा। अमुक सूत्र बोलने के लिए साधु महाराज को आदेश देना ही पड़ेगा। इस तरह सत्ता में पड़ा हुआ लोभ स्पष्ट नजर आता है अतः भगवतीसूत्र में कहा है कि–श्रमणोपासक को सांपरायिक क्रिया ही होती है।

कषाय भाव ही आत्मा के अधिकरण हैं। जैसे तलवार, बंदूक, छुरी लकड़ी, कलम, जीभ आदि शस्त्र द्रव्य अधिकरण कहलाते हैं क्योंकि इनसे द्रव्य हिंसा होती है जबकि कषायों से भाव हिंसा होती है भाव हिंसा से आत्मा के गुण दया, सरलता, नम्रता का नाश होता है। द्रव्य हिंसा करते भाव हिंसा अति भयंकर होती हैं।

इतना स्पष्ट ज्ञान होने के बाद श्रमणोपासक श्रावक तथा श्राविका सम्यग्ज्ञानपूर्वक ४८ मिनिट के लिए सामायिक में अपनी इन्द्रियों को वश में कर, मौन का पालन व किसी के साथ बात करना छोड़कर, एक आसन में स्थिर रहकर ध्यान में बैठेंगे तो अनेक कयाय भाव से बच जायेंगे क्योंकि कषाय का तथा प्रमाद का त्याग करना और निस्पृह भाव तथा अनासक्ति अवस्था पाने के लिए ही सामायिक करने की होती है।

अप्रशस्त लेश्या ही हिंसा का कारण बनती है :

प्रश्न—कोई श्रमणोपासक 'त्रस जीवों को न मारना' ऐसा प्रत्याख्यान लेने के बाद पृथ्वी को खोदते या जोतते त्रस जीव मर जाय तो उसकी प्रत्याख्यान प्रतिज्ञा में अतिचार लगेगा ?

किसी भी वनस्पति की हत्या न करना, ऐसा प्रत्याख्यान लेकर भी पृथ्वीकाय को खोदते समय वृक्ष की जड़ को उखेड़ दें, तोड़ दें तो उसके प्रत्याख्यान में अतिचार लगेगा ?

दोनों प्रश्नों का जवाब देते हुए भगवान ने फरमाया है कि क्रिया होनेपर भी ली हुई प्रतिज्ञा मे अतिचार नहीं लगता है। कारण यह है कि श्रावक को संकल्पपूर्वक जीव हिंसा न करनी ऐसी प्रतिज्ञा होती है और ली हुई प्रतिज्ञा पालने मे वह सावधान होता है। वैसे ही त्रस जीव को या वनस्पती को मारने का संकल्प है ही नहीं। अतः अतिचार नहीं लगता है। सारांश यह कि परिणाम से कर्मों का बंध होता है। क्रिया करते हुए आत्मा का जैसा परिणाम होता है वैसा ही कर्म का बंध होता है।

बालक खेलते हुए वह हाथ मे से गिर जाता है और मर जाता है तो उसमे हत्या का इरादा नहीं होने से वह निरपराधी होता है और उसपर केस नहीं चलता है। जबकि मारने के इरादे से हाथ मे तलवार लेकर दूसरे मनुष्य के पीछे दौड़ता है। अभी उसने तलवार मारी नहीं है तो भी हत्या का अपराध स्पष्ट होने से पुलिस उसको गिरफ्तार करती है तथा जेल भेजती है।

इसी तरह हृदय मे दया भाव है। जीवन अहिंसामय है। अतः ली हुई प्रतिज्ञा मे पूरी सावधानी होने से साधक निरतिचार है तथा कर्म से लिपटता नहीं है।

व्रतधारी की भक्ति का लाभ कितना है ?

प्रश्न—पंच महाव्रतधारी मुनिराज तथा साध्वीजी को प्रासुक (निर्जीव) ऐषनीय (दोषरहित) अन्न-पानी देनेवाले श्रावक को क्या फल मिलेगा ?

जवाब मे भगवान ने फरमाया है कि श्रमणो को अन्नपानी देनेवाले श्रावक को समाधि प्राप्त होती है। सारांश कि मुनि भगवंतो को आहार-पानी देने से, गोचरी के लिए घर बताने से और वैयावच्च सेवा करने से अगले भव मे ऐसे पवित्र कार्य करनेवाले श्रावक को समाधि, समता, शांति और संतोष प्राप्त होता है।

मुनिराज को गोचरी-पानी देनेवाले श्रावक को निम्न वस्तुए प्राप्त होती है।

(१) जीवन निर्वाह के लिए अति परिश्रम से इकट्ठा किये हुए धन के प्रति त्याग भावना जागृत होती है। धन की मूर्च्छा घटती है और सत्य कार्य में धन का व्यय होता है।

(२) अन्न–वस्त्र आदि यद्यपि दुस्त्यज्य होते हैं तो भी उसको त्यागने की भावना होती है श्रद्धापूर्वक सात क्षेत्र में स्वयं के द्रव्य को खर्चता है।

(३) अनंत संसार में परिभ्रमण करते जो अमूल्य वस्तुएं कभी प्राप्त नहीं की है वह भी मुनिराज के संपर्क में आते ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान प्राप्तकर पुण्यानुबन्धी पुण्य के प्रताप से उनकी प्राप्ति सुलभ बनती है अन्त में सम्यक् चारित्र और केवलज्ञान भी प्राप्त करने में समर्थ बनता है?

सिद्ध की गति कैसी और कौनसी है?

प्रश्न--एक स्थान से दूसरे स्थान जाने के लिए गति (गमन) कर्माधीन होती है तब शैलेशीकरण करने के बाद सिद्धगति को प्राप्त करनेवाले सिद्ध के जीव मोक्ष में जाने के लिए कौनसी गति से जायेंगे?

यथार्थवादी भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि--निःसंग, निराग, गति परिणाम, बंध विच्छेद और पूर्व प्रयोग इन पांच कारण से गति होती है। निःसंग और निराग गति इस तरह होती है जैसे पानी के ऊपर तरने के स्वभाववाले, छिद्रबिना के सूखे तूंबड़े पर आठ बार मिट्टी का लेप करने के बाद बहुत भारी हो जाने से वह स्वयं ही पानी की सतह में बैठ जाता है। वहां रहते रहते पानी के संग से जैसे जैसे मिट्टी घुलती जाती है तथा तूम्बे से अलग होती जायगी वैसे वैसे तूम्बड़ा उसके मूलस्वभाव में आता है। जब मिट्टी सर्वथा अलग हो जायगी तो निःसंग और निराग होने से स्वयं ही पानी के ऊपर आ जायगा। वैसे ही यह जीव अनादिकाल के कर्मों

के संग तथा राग से अलग हो जाने के बाद स्वयं ही संसार समुद्र से सर्वथा अलग होकर सिद्धशिला के ऊपर विराजमान होता है।

गति परिणाम से :

छः द्रव्यों में जीव और पुद्गल की ही गति मानी है इसमें पुद्गल द्रव्य नीचे की तरफ जाते हैं और जीव द्रव्य ऊँचे जाते है। यह स्वाभाविक गति है जबकि स्वभाव विरुद्ध गति प्रयोग से होती। जैसे पत्थर आदि भारी द्रव्यों को फेकें तब वे ऊपर जाते है, उसी प्रकार कर्मों के प्रयोग से जीवात्मा नीचे जाता है। परन्तु जिसको संग का अभाव होता है वे द्रव्य स्वयं की गति करते हैं। इस तरह कर्मा के संग से मुक्त बना जीव उर्ध्वगति करके एक ही समय में सिद्धशिला पर पहुँच जाता है।

बन्ध का छेद होने से :

जैसे मटर, मूंग, उड़द, एरंड की फली धूप में रखने से सूख जाती है तब बीज उसको फोड़कर से उँचे उछलकर दूसरी जगह गिरते है वैसे ही कर्मा के बन्ध का विच्छेद होने से कर्म रहित जीव भी उसी समय (अर्थात् जिस शरीर से शैलेशीकरण किया है उसी शरीर से छूटना और मोक्ष प्राप्त करने का समय एक होता है।) सिद्धशिला की तरफ गति करता है।

धुएँ की गति प्रतिबन्ध के सिवाय उर्ध्व होती है वैसे ही जीव की गति उर्ध्व होती है।

पूर्व के प्रयोग से :

चाक मे डाले हुए डंडे को कुम्हार जोर से घुमाता है और चाक तेज गति से घूमता है उसी समय कुम्हार डंडे को निकाल लेता है तो भी चाक पहले के वेग से चलता रहता है वैसे ही अनादिकाल के शरीर को छोड़ने

के लिए इस आत्मा ने जो विशेष प्रयत्न किया था उसके बल से ही कर्म रहित बना हुआ जीव सिद्धशिला तरफ गति करता है और वहां स्थिर हो जाता है

सिद्ध के जीव सिद्धशिला तक ही जा सकते है क्योंकि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय यहां विराम पाते है इसलिए जीव आगे नहीं जा सकता है।

प्रश्न–दुःखी जीव ही दुःख से व्याप्त होते है। दुःखी दुख से व्याप्त हैं दुःखी जीव ही दुःख को ग्रहण करते है, दुःखी जीव दुःख को उदय में लाते है, दुःखी दुःख को वेदते है और दुःखी दुःख की निर्जरा करते है।

इस तरह की स्थिति नर्क से लेकर चार गति के जीवों की भी समझनी। प्रश्न–उपयोग बिना चलने में, खड़े, होने में सोने में, बैठने में, वस्त्र पात्र कम्बल और रजोहरण ग्रहण करने में मुनि को सांपरायिकी क्रिया या अैर्यापतिकी क्रिया लगती है ?

जवाब में भगवान ने कहा है कि–जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ क्षीण नहीं हुए है उन मुनि को सांपरायिकी क्रिया लगती है और सूत्रानुसार चरित्र पालनेवाले साधु को अैर्यापथिकी क्रिया लगती है क्योंकि उनकी आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभ से दूर रहती है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के उपयोग में रहनेवाले साधु की क्रिया सूत्रानुसार ही होती है।

द्रव्य–क्षेत्र–काल और भाव की विचित्रता को लेकर तर–तम भाव से भी मुनि में तीन रत्न विद्यमान होते हैं वह चाहे जैसी स्थिति में हो तो भी वह उत्सूत्र अर्थात सूत्र विरुद्ध चलनेवाले नहीं होते है। ऐसी स्थिति में जैन–शासन को प्राप्त किये हुए संप्रदाय के प्रवर्तक महाव्रतधारी हो, तपस्वी हो और आश्रव मार्ग को छोड़कर संवरभाव में विद्यमान हो ऐसे किसी भी जैन संप्रदाय को उत्सूत्र प्ररुपक कैसे कह सकते हैं ?

अहिंसा, संयम और तप में रमण करनेवाले कि क्रियाएँ अलग अलग हो सकती है। क्रियाकांडो की एकरूपता तो तीर्थंकर की हाजरी में भी नहीं होती है। कहा है कि-"ऐकरूप्यं न सर्वत्र क्रियाकांडेषु संभवी।" क्रिया की विधी के भेद हमेशा रहे हैं अतः क्रिया के भेद को लेकर परस्पर राग-द्वेष बढ़ाना ही उत्सूत्रता है।

सम्यग्दर्शनादि आत्मा के गुण है, जिसका कोई भी आत्मा आराधन कर सकती है उनको भी मिथ्यात्वी या नास्तिक कह देने में एकान्त उत्सूत्र है अपनी प्ररुपणा को ही जैन-शास्त्रानुसार मनाकर दूसरे महापुरुषों को उत्सूत्र प्ररुपक कहना यह भी मिथ्यात्व हैं। चाहे जैसी अच्छी प्रवृति करते भी जो साधक को क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय रहता हो तो सूत्रानुसारी साधक को ऐसी प्रवृति छोड़ देनी चाहिए और मौन रहकर आत्म साधन में मस्त रहना चाहिए। गृहस्थ की माया-प्रपंच की बातों में रस नहीं लेने वाला साधु ही सूत्रानुसार चारित्र पालकर स्वयं की आत्मा को उन्नत बना सकता है। सूत्रानुसारी की यही व्याख्या जैनागम को मान्य है।

प्रश्न-'मुच्छिए' आहार के प्रति अत्यन्त रागवान होने से और चरित्र में लगे दोषों की अनभिज्ञता होने से।

'गिद्धे'-आहार में विशेष प्रकार की आकांक्षा रखनेवाला।

'गढ्ढिए'-आहार के प्रति स्नेह तंतुओ से लिपटा हुआ।

अज्झोववन्ने-आहार के प्रति एकाग्रता को प्राप्त क्रिया हुआ निर्दोष भोजन पानी लाकर वापरनेवाले मुनिराज को मांडली के दोषों में अंगार दोष, धूम दोष और संयोजना दोष जो कहे है इसका अर्थ क्या है?

जवाब में भगवान ने फरमाया कि-अंगारदोष-महावैराग्यपूर्वक संपूर्ण गृहस्थाश्रम का त्याग करने के बाद तपस्या, स्वाध्याय, जाप आदि विधि विधान से स्वयं की आत्मा को चन्दन के लकड़ी के समान सुगंधी बनाने के बाद भी गोचरी में आये हुए भिन्न भिन्न प्रकार की मिठाईयां आदि आहार

को गृद्धरूपी अत्यासक्तिपूर्वक आहार करने रूप अग्नि से चारित्र को अंगारे जैसा करना अंगार–दोष कहलाता है।

इस दोष से चारित्ररूपी इमारत जलकर कोयले के समान हो जाती है।

धूमदोषः—गोचरी में नापसन्द वस्तु आजाने से उसके प्रति तथा देनेवाले के प्रति जो द्वेष की भावना आ जाती है उस द्वेषरूपी धुएँ से चारित्रशाला काली हो जाती है।

संयोजना-दोष गोचरी में आये हुए बिना स्वाद के द्रव्य को मसाला, काली मिर्च, शक्कर गुड़ आदि मिलाकर स्वादवाली बनाने की क्रिया को संयोजना दोष कहलाता है।

अनादिकाल से आहार संज्ञा के गुलाम बनी हुई आत्मा को आहार के प्रति अधिक माया ममता होने से उसका लक्ष्य संसार की शुभ प्रवृति करने के बाद भी आहार के प्रति ही रहेगी उसके खास कारण यह है :—

(१) अनादिकाल से आहार संज्ञा जोरदार होने से।

(२) खाने के पदार्थों में अधिक आसक्ति होने से।

(३) खाने–पीने का मिथ्याज्ञान होने से।

(४) खाने–पीने से ही तपस्या अच्छी होती है ऐसा विचार मन में जम जाने से।

इन चार कारण से आत्मा के साथ दुश्मन बनी आहार संज्ञा को स्वाधीन करने के लिए आत्मा समर्थ नहीं बनती है परिणामस्वरूप वह साधक निर्जरा तत्त्व से दूर रहता है अर्थात् स्वाद की लोलुप आत्मा कर्म की निर्जरा नहीं कर सकती है।

बाह्य तप करते आभ्यन्तर तप इसलिए श्रेष्ठ है कि उसमें आत्मा प्रतिक्षण जागृत रहती है। आभ्यन्तर तप में भी स्वाध्याय बल श्रेष्ठ होता

है जिससे साधक आहार संज्ञा को मार भगाने में समर्थ बनता है । जिसको अभ्यास या स्वाध्याय का रस या रुचि जागृत होती है उसको आहार का रस उड़ जाता है और परिणामस्वरुप उसकी तपस्या संवर और निर्जरा तत्व को प्राप्त करनेवाली होती है ।

मुनिधर्म के साथ स्वाध्याय का घनिष्ट सम्बन्ध माना है । इसी कारण से ही स्वाध्याय संपन्न मुनि स्वयं के आत्मगुणों में आगे बढ़ता जाता है और अनादिकाल की बुरी आदतो और कुसंस्कारों को आधीन करता जाता है ।

जो स्वाध्याय बल से सर्वथा कमजोर है अर्थात् आत्मध्यान में जिसका मन बिलकुल नहीं लगता है ऐसी आत्मा स्वयं के मन और इन्द्रियों को वश मे नहीं कर सकता है ।

प्रत्येक प्रसंग उसके आर्तध्यान का कारण बनते है । ऐसी आत्मा साधुता की कट्टर बैरी होती है इसलिए जितना बन सके उतना ज्ञानबल, स्वाध्याय बल और ध्यानबल को प्राप्त करना सर्वथा उचित हैं ।

॥ पहला उद्देशक समाप्त ॥

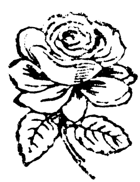

शतक सातवां उद्देशक—२

प्रश्न—हे प्रभु ! 'सभी जीवों में मैंने हिंसा त्याग का प्रत्याख्यान किया है।' ऐसे बोलनेवाला की सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान है ?

भगवान ने कहा कि—प्रत्याख्यान करनेवाले को जहांतक 'यह जीव है, यह अजीव है। यह त्रस जीव है, ये स्थावर है' एसा ज्ञान ही नहीं हो तो हे गौतम ! वह साधक सुप्रत्याख्य नहीं है पर दुप्रत्याख्यानी है क्योंकि लिये हुए प्रत्याख्यान के नियम का ज्ञान नहीं होने से उसको पाल सके एसा नहीं है अर्थात् ज्ञान के अभाव में ली हुई प्रतिज्ञा का पालन नहीं हो सकता है। सुप्रत्याख्यान का अभाव होनेपर भी मैंने प्रत्याख्यान किया है ऐसे बोलनेवाले साधक असत्यवादी होते हैं।

इस तरह सभी प्राणों में और सत्त्वों में त्रिविध—

असंजय—संयम रहित होने से।

अविरय—विरति रहित होने से क्योंकि पापकर्मों का त्याग या प्रत्याख्यान किया नहीं होने से।

सक्रिय—कर्मों के बंध सहित होने से।

असंवृत्त—संवर तत्त्व रहित होने के कारण दूसरे जीवों को दंड देने वाला होने से अज्ञ है इससे दुष्प्रत्याख्यानी हैं। जो भाग्यशाली जीव आदि तत्त्वों को जानता है वह सुप्रत्याख्यानी है, सत्यवादी है और संवर धर्म-वाला है।

जैन शासन मे सभी आगमों का संग्रहात्मक आगम श्री दशवैकालिक सूत्र है। इसमे 'पढमं नाणं तओ दया' का विधान हैं क्योंकि ज्ञान बिना का जीव किसकी दया पालेगा ? इसलिये जीवादि का सम्यगज्ञान ही आत्मकल्याण का साधक है।

पच्चक्खाण सम्बन्धी प्रश्नोत्तर :

पच्चक्खाण—प्रत्याख्यान अर्थात् सम्पूर्ण या आँशिक पापों के द्वार बन्द करना वह पच्चक्खाण कहलाता है। वह दो प्रकार का है—

(१) मूलगुण पच्चक्खाण। (२) उत्तरगुण पच्चक्खाण।

मूलगुण पच्चक्खाण भी दो प्रकार के है (१) सर्वमूलगुण पच्चक्खाण (२) देशमूलगुण पच्चक्खाण।

सर्वमूलगुण पच्चक्खाण अर्थात् पाँच बड़े पापों को अलग-अलग रूप से त्यागना। वह निम्न है :—

(१) सव्वाओ पाणा इवायाओ वेरमणं।

(२) सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं।

(३) सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं।

(४) सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं।

(५) सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।

अर्थात् मन, वचन और काया से सम्पूर्ण जीवों की मैं हत्या नहीं करूंगा और करनेवालों का साथ भी नहीं करूंगा।

इस तरह सर्व असत्यवाद का सर्व अदत्तादान का त्याग करता हूँ। सर्व प्रकार का मैथुन का मन, वचन और काया से त्याग करता हूँ और सभी तरह के परिग्रह का त्याग करता हूँ।

(२) देश से मूलगुण प्रत्याख्यान भी पाँच है :–

(१) थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं।

(२) थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं।

(३) थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं।

(४) थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं।

(५) थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं।

अर्थात् जिनका आत्मबल कर्मों के कारण दब गया हो वे भाग्यशाली सूक्ष्म प्रकार की हिंसा आदि का त्याग करने में अशक्त होने से उनके लिए स्थूल रुप से पांच प्रकार के पापों को त्याग करने की प्रतिज्ञा होती है।

उत्तरगुण पच्चक्खाण भी दो प्रकार के हैं—

(१) सर्वोत्तरगुण प्रत्याख्यान (२) देशोत्तरगुण प्रत्याख्यान। सर्वोत्तर गुण प्रत्याख्यान के १० भेद हैं—

(१) अनागत तप–पर्युषण पर्व आनेपर जो तप करना चाहिए वह कारणवश पहले न किया हो।

(२) अतिक्रांत–कारणवश पर्युषण बाद किया हो।

(३) कोटिसहित–एक तप जिस दिन पूरा होता हो उसी दिन दूसरा तप चालू करना।

(४) नियंत्रित--विघ्न आनेपर भी उसी दिन तप करना।

(५) साकार तप--आकार (महत्तरागारे आदि) आकार के साथ तप करना।

(६) अनाकार--आकार--अपवाद रहित तप करना।

(७) कृतपरिणाम--थाली मे या पात्र मे एक साथ रखा हुआ आहार करना।

(८) निरवशेष--चारों प्रकार के आहार का त्याग करना।

(९) संकेततप--मुष्टि, वस्त्र, गांठ आदि का संकेत करके तप करना।

(१०) अद्धा–पोरसी, लाढ़पोरसी आदि तप करना।

देशोत्तर गुणप्रत्याख्यान तप सात प्रकार का है। तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत और अपश्चिममारणान्तिक अर्थात् संलेखना तप।

तीन गुगव्रत–स्थूल व्रतों मे अधिक छूट हो उसे संक्षेप करना गुणव्रत कहते हैं अर्थात् लिये हुए व्रत मे मददरूप बने वह गुणव्रत है।

(१) दिग्परिमाणव्रत–प्रयोजन बिना गमन और आगमन संयमित करना।

(२) अनर्थदंड विरमण व्रत–सर्वथा निरर्थक पाप और पाप भावनाओं पर संयम रखना।

(३) भोगोपभोग विरमणव्रत भोग अर्थात् एक ही बार उपभोग में आनेवाली वस्तुयें जैसे अन्न, जल, दूध दही आदि। उपभोग अर्थात बारबार काम में आनेवाली चीजे जैसे वस्त्र, मकान, जेवर आदि। इन दोनों वस्तुओं की मर्यादा करनी श्रेष्ठ है।

हमेशा अभ्यास करने के व्रत अथवा अज्ञानी जीवों को सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र की शिक्षा प्राप्त करावे उसको शिक्षाव्रत कहते है। जो चार प्रकार हैं—

(१) सामायिक–दो घड़ी के लिए समभाव में स्थिर रहना तथा आत्मा, मन और इन्द्रियों को वश में करना।

(२) देशावगासिक–दस सामायिक एकसाथ अथवा अलग-अलगकर जीवन को संयमित बनाने की आदत डालनी।

(३) पौषधोपवास–उपवास या एकासना करके २४ घंटे या १२ घंटे तक संसार की सभी माया छोड़कर साधुता स्वीकारना।

(४) अतिथि संविभाग–पुण्य प्रभाव से प्राप्त हुए पुद्गलिक पदार्थों को अतिथि अर्थात् व्रतधारी के लिए विभाग करना, तथा श्रद्धा पूर्वक उनको देना वह यह व्रत है।

अब संलेखना व्रत कहते हैं--मृत्यु का समय पास में आने का मालूम होते ही भवभीरु आत्मा स्वयं के शरीर को तथा कषायों को कम करने के लिए संसार की असारता का ख्याल करके किये हुए पापों को वोसरा दे। उसी प्रकार शरीर को वेदना होनेपर भी आत्मा को दृढ़ बनाकर चार प्रकार का आहार तथा स्नेहीजनों या कुटुम्ब का स्नेह छोड़कर अरिहंत के ध्यान में मन को जोड़ दें वह संलेखना व्रत है।

यह व्रत सर्वोत्तम गुणवाले को सर्वोत्तम गुणरुप होता है और देशोत्तर गुणवाले को देशोत्तर गुण रुप होता है। देशोत्तर गुणवाला श्रावक श्राविका को भी स्वयं की परिस्थिति और आत्मा की शक्ति को ध्यान में लेकर गुरुमहाराज के समक्ष करना उचित है।

इस तरह जीव मूलगुण प्रत्याख्यानी भी है, उत्तर गुण प्रत्याख्यानी भी है और अप्रत्याख्यानी भी हैं।

नारक, देव और एकेन्द्रिय से लेकर चउरिन्द्रिय के जीव अप्रत्याख्यानी होते हैं।

मनुष्य और तिर्यन्च जीव भी तीन प्रकार के होते है। तिर्यपन्चेन्द्रिय जीव देश से मूलगुण प्रत्याख्यानी होते हैं क्योंकि उनको सर्वविरति का अभाव होता है।

कहा है कि-"तिर्यन्चे पंचेन्द्रिय जीवों को सर्व विरति का अभाव है तो भी महाव्रतोच्चारण सुनाते हैं।"

इस प्रसंग में यह भी कहते हैं कि-"उनको महाव्रतो की सद्‌भावना होनेपर भी अनेक गुणी पंचेन्द्रिय तिर्यचों भी सर्व विरति को चारित्र का परिणाम नहीं होता है।"

साध्वीजी को देखकर मोहवासना के कारण अनेक जन्म के बाद हाथी के अवतार में रुद्रसेन भी स्वयं के भाव का परिवर्तन कर सका है।

तिर्यंच पंचेन्द्रिय देश व्रतधारी हो सकते है। महाहिंसक जटायु पक्षी का

मुनिराज के सान्निध्य में कष्टसाध्यव्रत लेने का जैनरामायण में उल्लेख है।

महावीर स्वामी के चरणों में चंडकौशिक नागराज भी देश संयमी बना है आदि उदाहरण शास्त्र में देखने को मिलते हैं।

मूलगुण प्रत्याख्यानी जीव सबसे कम है। उत्तरगुण प्रत्याख्यानी जीव असंख्यगुण अधिक है और अप्रत्याख्यानी जीव अनंतगुणे हैं।

इन सूत्रों से जानने को मिलता है कि महापुण्योदय हो, भव भवान्तर में जैनधर्म मिलनेवाला हो ऐसे भाग्यशालीयों को प्रत्याख्यान धर्म उदय में आता है, या जानबूझकर ज्ञानपूर्वक स्वयं के पुरुषार्थ बल को दृढ़ करके प्रत्याख्यान को उदय में लाते हैं।

भोग और उपभोग में आनेवाले पदार्थों में से जो पदार्थ रक्त, मांस चमड़ी, शुक्र तथा धार्मिक मर्यादा को बिगाड़नेवाले हो उनका त्याग समझदारी से करने में शरीर का आरोग्य बना रहेगा। पाप भीरुता बनी रहेगी, त्याग की भावना उत्पन्न होगी और अरिहंत के त्याग प्रधान धर्म के प्रति श्रद्धा बनी रहेगी तथा बढ़ेगी।

प्रश्न–जीव शाश्वत है या अशाश्वत?

भिन्न-२ जगह से जो जो विचारधाराएँ श्री गौतमस्वामी के कर्णगोचर हुई थी उन सभी बातों को लक्ष्य में रखकर भगवान महावीरस्वामी के मुँह से उसका निर्णय करने के लिए ये सभी प्रश्न पूछने में आये थे। उस समय पशु हत्या, पक्षी हत्या, मद्यपान, परस्त्रीगमन आदि पाप अपनी सीमा का उलंघन कर चुके थे। शूद्रों का तिरस्कार और स्त्रियों की अवहेलना भी कदम कदमपर होने लगी थी। दार्शनिक वाक्युद्ध आगे बढ़ कर डंडाडंडी तक पहुँच चुका था। भगवान महावीर स्वामी के केवलज्ञान होने के बाद आचारसंहिता कुछ लाइन पर आई थी परन्तु विचार क्रांति के बिना आचारसंहिता दृढ़ कैसे बने? इसीलिए भगवान ने स्याद्वाद् के माध्यम से जन समुदाय में एक जबरदस्त क्रांति पैदा की और लोगों को

सत्य मार्ग पर ला खड़ा किया। पंडितों के मस्तिष्क में जो बुरे या असत्य विचार भरे हुए थे उनको भी अनेकान्त रुपी अमृत के पान से निर्मल बनाकर स्वयं के अनुयायी बना दिये थे।

संसार के प्रत्यक्ष अनुभूत सुख-दुःख, संयोग–वियोग आदि व्यवहारों को अलग रखकर सिर्फ बुद्धि कल्पना के घोड़े दौड़ाने में कौनसा हेतु सिद्ध हो सकता था ?

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह के पापो से भरे हुए इन्सान को स्वर्ग और मोक्ष का पाठ पढ़ाने से सांत्वना कैसे मिलेगी ? इन सभी बातो को प्रत्यक्ष करने के बाद ही भगवान महावीर स्वामी ने स्याद्‌वाद की विचारणा तथा अहिंसा की संपूर्ण स्थापना द्वारा सभी पाखंडो का भंडा फोड़कर एक जबरदस्त क्रांति करके सभी को सत्य का ज्ञान कराने में संपूर्ण सफल बने।

वास्तविकता यह है कि भगवान पार्श्वनाथ के निर्वाण के पश्चात् थोड़े समय के बाद 'वेद विहित हिंसा ने स्वयं का तांडव नृत्य फिर से शुरु कर दिया था।' मांसाहार, सुरापान तथा सुंदरी का सहवास बढ़ चुका था। इन तीनों के सहवास में पंडित, महापंडित श्रीमंत और सत्ताधारी भी फँस चुके थे। जहां मानव समाज का चित्रण ही कद्रूप हो वहां शास्त्रीय ज्ञान और तर्क भी कद्रूप बनकर मानव समाज को किंकर्तव्यमूढ़ बना देता है। उसी समय भगवान महावीर स्वामी की उपस्थिति में अपने स्वयं को तीर्थंकर रुप में माननेवाले छः व्यक्तियो ने अपनी अपनी अनुयायी मंडली में धर्म के सिद्धांतो को बहुत ही विकृत बना दिये थे।

कथित तीर्थंकरो के नाम निम्न हैः—

(१) पूरण कश्यप (२) अजित केशकंबली (३) प्रकुधकात्यायन (४) संजय वेलट्टी पुत्र (५) मंखली पुत्र गोशाला (६) बुद्धदेव।

इन छः में से पहले के पांच तो अभी उनके नाम ही शेष रहे है।

बुद्धदेव का बौद्धशासन अभी विद्यमान है और उनकी मान्यता क्षणिकवाद की है।

नैयायिक आत्मा को सर्वथानित्य मानते थे उनकी मान्यता थी की आत्मा आकाश पदार्थ की तरह एकांत नित्य होने से उसमें किसी प्रकार का फेरफार नहीं है। सुख दुख की कल्पना प्रकृति में तथा माया में ही संभावित हो सकती हैं।

इस तरह आत्मा को एकान्त नित्य मानना या एकांत क्षणिक मानना इत्यादिक चर्चा या वितंडावाद में ही भारत के महापंडित उलझन में फंस रहे थे। किसी समय तो चर्चा का इतना उग्रस्वरुप हो जाता की हाथापाई हो जाती थी। राजसत्ता भी इन पंडितों के चक्र में फंसी थी। हार तथा जीत की शर्तें भी बड़ी भयंकर तथा हिंसक होती थी। देश के नागरिक भी किंकर्तव्य अवस्था में थे।

पूरण कश्यप की मान्यता यह थी कि "मनुष्य जो कुछ करता है वह आत्मकृत नहीं है। छेदन, भेदन, मरना-मारना, चोरी, मैथुन आदि में पाप नहीं है तथा दान-पुण्य आदि में धर्म नहीं है। इस अनुकूल मान्यता को लेकर अधिकाँश जनता का वर्ग पूरणकश्यप का भक्त बन गया था परन्तु वह बुद्धदेव का प्रभाव सहन नहीं कर सकने के कारण भारतवर्ष से लुप्त हो गया।

अजित देश कंबामी की मान्यता चावार्क जैसी थी। खाना-पीना तथा मौज करना, स्वर्ग नर्क कुछ भी नहीं है तथा मरने के बाद पुनः कोई आनेवाला नहीं है।

प्रकुध कात्यायन के मत में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, सुख-दुःख और जीव यह सातों तत्त्व अकृत अनिमित्त, अबद्ध और कूटस्थ है अतः कोई मारनेवाला नहीं हैं और कोई मरनेवाला नहीं है।

संजय वेलट्ठि पुत्र सर्वथा अज्ञानवादी होनेसे उसकी मान्यता थी कि ज्ञान को लेकर ही बैर विरोध बढ़ता है। हिंसा झूठ, चोरी, मैथुन आदि पापकमा की व्याख्या में पंडितो की वाक्यता नहीं होने से एक पंडित का दूसरे पंडित से पक्का विरोधी है। अतः इसमें कौन सच्चा और कौन झूठा ?

मंखली पुत्र गोशाला की मान्यता थी कि क्लेश, सुख दुःख आदि सभी बाते निरर्थक हैं। जीव स्वयं कुछ नहीं करता है सब अपने आप ही होता हैं।

इस तरह पंडितों के वचनजाल में राज्य सत्ता, कर्मचारी, श्रीमंत सभी घिरे हुए थे 'मनः पूतं समाचरेत्' सभी अपने-२ मन की करनेवाले होनेसे भारतवर्ष की दशा अंधकारमय और विषमय बन गई थी सामान्य जनता त्रास पा चुकी थी।

जगदंबा जैसी स्त्री शक्ति की अवहेलना अपमान, तिरस्कार ताड़न तर्जन हो रही थी। क्योंकि सभी स्वार्थी थे। उसी समय में दया के सागर भगवान महावीर स्वामी ने समवशरण में विराजमान होकर कहा—हे पंडितो ! तुम जरा दीर्घ दृष्टि से विचार करो। आँखे बन्द करके जरा गहरे अन्तःकरण में प्रवेश करके देखोगे तो जानोगे कि जिस संसार को तुम सब अपनी मान्यता की कल्पना के आधारपर मनघडंत सिद्धांत बना करके बैठे हो वह अधूरा हं। संपूर्ण विश्व तुम्हारी सभी की नजर में प्रत्यक्ष है। जिसमें दो तत्व मुख्य है—अनंतानंत जीवराशी और अनंतानंत पौद्‌गलिक पदार्थ भी दिखते हं। जो हरसमय नये-२ पर्यायों में परिवर्तित होते हैं और पुराना आकार बदलता है तथा मूल तत्व कायम रहता है। उदाहरण के रुप में सोने की चेन में चिरस्थायी मूल द्रव्य सुवर्ण है और सोनी ने सोने की चेन का आकार बनाया तथा उसको चेन कहा। बाद में कंठी तोड़कर अंगूठी बनाई मूलतत्त्व सोना तो दोनों में मौजुद रहता है सिर्फ चेन का आकार नष्ट हुआ तथा अंगूठी के आकार में उत्पन्न हुआ। इस

तरह मूल द्रव्य तत्त्व की बिलकुल हानि हुए बिना पर्यायों की हर समय उत्पति और हानि सभी को प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है।

इससे हम जान सकते हैं कि घास के टुकड़े से लेकर आकाश तक के अनंत द्रव्य तथा पर्याय रहे हुए है। पर्याय अर्थात् आकार विशेष, क्योंकि अकेला द्रव्य मनुष्य को काम नहीं आता है। मैं तुमको ही पूछता हूँ कि अकेला सुवर्ण, मीट्टि, रुई, आदि द्रव्यों तथा शरीर पर्याय बिना का जीव संसार के किसी भी व्यक्ति के क्या काम आनेवाला है? जबकि सुवर्ण द्रव्य चेन, अंगूठी, कुंडल, चुड़ी आदि पर्यायों के आकार विशेष में परिवर्तित होते है तभी सभी के काम आते है। रुई द्रव्य भी साड़ी कोर, कमीज, टोपी आदि पर्यायों में आने के बाद ही उपकारी बनते है।

इसी प्रकार जीव भी किसी न किसी शरीर पर्याय में आने के बाद ही संसार के व्यवहार में उपयोगी होता है। द्रव्य बिना पर्याय नहीं हो सकता है और पर्याय बिना का द्रव्य भी किसी ने देखा नही दिखता नहीं और दिखेगा भी नहीं।

सुवर्ण द्रव्य भी चूड़ी, सोनामोहर त्रिकोण या चतुष्कोण रुपया के आकार में होगे। मिट्टी का द्रव्य भी धूल के आकार में देखने को मिलेगा।

हम मनुष्य अवतार पाये हुए जीव की ही बात करते हैं जहां प्रतिक्षण सुख दुःख, संयोग–वियोग आदि के द्वन्द प्रत्यक्ष दिख रहे है जो आत्मा के ही पर्याय है। आत्मा जब क्रोधावेश में होती हैं तो उसे 'आग का गोला' कहते हैं तथा यही आत्मा जब शान्त बनती है तो उसे 'समुद्र जैसा गंभीर' कहते हैं। मैथुनासक्त बने हुए जीव को 'विषय वासना का कीड़ा' कहते हैं तथा शील संपन्न बने हुए को 'ब्रह्मनिष्ठ' कहते है। देवगति में गये हुए जीव को देव तथा मनुष्य गति के जीव को मनुष्य रुप से पहचानते हैं।

इस तरह अकेले जीव द्रव्य को तुम सब इकट्ठे होकर खोजते खोजते

थक जाओगे तो भी शरीर बिना के जीव को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

प्रत्यक्ष दिखती हुई वनस्पति में फल, फूल, धड़, शाखा और पत्तियाँ ये वनस्पति जीव के शरीर हैं इसीसे पानी मिलते ही ये जीव अपने समा बढ़ते है। अब तुम समझ सकोगे कि जीव द्रव्य द्रव्यास्तिकाय नय की अपेक्षा से नित्य शाश्वत हैं और पर्यायास्तिकाय की अपेक्षा से अनित्य हैं अशाश्वत हैं।

शरीर पर्याय स्वीकारे बिना अकेली आत्मा नहीं रह सकती है। नही तो 'भोगायतनं शरीरं' यह मान्यता झूठी होगी जो तुमको और मुझे मान्य नहीं हैं।

किसी भी पदार्थ को देखने के लिए और उसका यथार्थ निर्णय करने के लिए ये दो दृष्टिकोण हैं वह व्यवहार के योग्य होने से सत्यतत्त्व हैं।

तुम पदार्थ के निर्णय में एक दृष्टिकोण को अपनाकर बैठे हो अतः परस्पर विरोधी बन बैठे हो। परंतु ऐसे निरर्थक झगड़े करने के लिए यह देव दुर्लभ मनुष्य अवतार नहीं है। दोनो दृष्टिकोण का उपयोग करो जिससे वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होगी। झगड़े शान्त होगे तथा संसार का सत्य-ज्ञान होगा जिससे जीवन में शान्ति समाधि प्राप्त होकर अनंत सुख धाम के अधिकारी बनोगे।

भगवान महावीर स्वामी के इस प्रकार के उद्बोध को पंडितो–महा-पंडितो ने समझा और भगवान की शरण में आये। नारक शाश्वत या अशाश्वत ? इस जवाब में भगवान ने कहा कि नर्कगति में जबतक जीव रहे तबतक नारक रूप से शाश्वत है और नरकभूमि से बाहर आने के बाद नारक रुप में नहीं रहने से आश्वत हैं।

॥ दूसरा उद्देशक समाप्त ॥

शतक सातवां उद्देशक—३

प्रश्न—वनस्पति के जीव कब अल्पाहारवाले और कब अधिक आहारवाले हैं ?

चराचर संसार के संपूर्ण प्रश्न के यथार्थ जवाब देने में सर्वथा अजोड़ भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि—सावन, भाद्रवा, आसोज और कार्तिक महिने में वनस्पति जीव सबसे अधिक आहार लेनेवाले होते है और उसके बाद के महीनों में उत्तरोत्तर आहार की मात्रा अल्प होती जाती है तथा ग्रीष्म ऋतु में सबसे कम आहार की मात्रा हो जाती है।

प्रश्न—ग्रीष्म ऋतु में सबसे कम आहार हो तो बहुत सी वनस्पतियों को हरे पत्ते, नये पुष्प, ताजे रसवाले फल क्यों आते है ?

अपन भी प्रत्यक्ष देखते हैं कि भयंकर गर्मी में भी आम, रायण, नीम, जामुन, अंगूर आदि दूसरे भी अनेक वृक्ष हरे भरे और रसदार होते है।

जवाब में भगवान ने कहा कि जन्म लेनेवाले जो जीव उष्ण योनी के मालिक होते है वे गरमी में ही फलते है। जीवमात्र के जन्म लेनेवाले स्थान को योनी कहते है वह भिन्न भिन्न प्रकार से निम्नलिखित है :—

सचित्त—जन्म लेने का स्थान जिसका सचित्त हो (जीवमय हो)

अचित्त—जन्म लेने का स्थान जिसका अचित्त हो। (निर्जीव हो)

मिश्र—जिसका कुछ सचित्त तथा कुछ अचित्त स्थान है। वह मिश्र।

शीत—जिसका स्थान शीत—ठंडा स्पर्शवाला हो।

उष्ण—जिसका स्थान उष्ण—गरम स्पर्शवाला हो।

मिश्र—जिसका स्थान कुछ उष्ण और कुछ शीत हो।

संवृत—जन्म लेने का स्थान जिसका ढंका हुआ हो।

विवृत—जन्म लेने का स्थान जिसका खुला हो।

मिश्र—कुछ ढंका हुआ तथा कुछ खुला हो वह मिश्र।

सूत्र में बताई हुई आलू आदि वनस्पति अनंतकाय कहलाती है अर्थात् एक शरीर में अनंत जीव होते हैं अथवा अनंत जीवों का एक शरीर होता है वह अनंतकाय है। उसको साधारण वनस्पति भी कहते हैं। अनंतजीव भी 'पुढ़ो सत्ता' अर्थात् सभी जीव अलग अलग होते हैं और सभी के कर्म अलग अलग होते हैं।

प्रश्न--नरक गति में एक नारक जीव कृष्ण लेश्या का स्वामी होनेपर भी वह अल्पकर्मी हो सकता है ?

भगवान ने 'हाँ' में जवाब देते हुए कहा है कि यद्यपि नील लेश्या की अपेक्षा से कृष्ण लेश्यावाला महाकर्मी होता है परन्तु आयुष्यकर्म स्थिति की अपेक्षा से कृष्ण लेश्यावाला होनेपर भी बहुत अधिक समय तक नर्क में रहते हुए बहुत से कर्म भोग लेता है जबकि नील लेश्या का स्वामी नारक अभी तत्काल ही उत्पन्न हुआ है इसलिए अभी उसे बहुत से कर्म भुगतने है अतः इस स्थिति को ध्यान में रखकर नील लेश्यावाले से कृष्ण लेश्यावाला अल्प कर्मी है।

यही बात ध्यान में रखकर पद्म लेश्या का स्वामी वैमानिकदेव अल्पकर्मवाला भी हो और शुक्ल लेश्या का वैमानिकदेव महाकर्मी भी हो सकता है।

प्रश्न–वेदना और निर्जरा एक नहीं क्योंकि वेदना कर्म से होती है अतः वेदना को कर्म कहते है। वेदित अर्थात आत्मा से अनुभव किया हुआ कर्म 'नो कर्म' कहलाता है इसलिए निर्जरा कर्म की नहीं होती परन्तु

'नो कर्म' की होती है। सत्ता में पड़ा हुआ कर्म जब स्वयं के अन्तिम प्रदेश से भुगता जाता है तभी तो आत्मा से अलग होता है। वेदता हो तब तक कर्म और वेदित होने के बाद 'नो कर्म' कहलता है। इसलिए कहते है कि वेदना कर्म की होती है और निर्जरा 'नो कर्म' की होती है।

इसी प्रकार दूसरे प्रश्न भी उपरोक्त रूप से समझना। वेदना और निर्जरा का समय क्या एक हैं ?

भगवान ने कहा कि पहले समय में कर्म का वेदन होता है और और दूसरे समय में निर्जरा होती है। अतः दोनों का समय अलग है।

॥ तीसरा उद्देशक समाप्त ॥

शतक सातवां उद्देशक—४-५

प्रश्न :—राजगृहीनगरी में पूछे हुए ये प्रश्न है :—

हे भगवान ! संसारत्व को पाये हुऍ जीव कितने प्रकार के है।

भगवान ने कहा कि जिस प्रकार जिवाभिगम सूत्र में कहा है उस प्रमाण से जहाँतक सम्यक्त्व और मिथ्यात्व क्रिया का अधिकार है वहाँतक समझना जिवाभिगमसूत्र से तथा प्रज्ञापनासूत्र से जान लेने को कहा है।

इस उद्देशक में (१) छः प्रकार के जीव (२) पृथ्वीयाँ (३) जीवों की स्थिति (४) भव स्थिति (५) काय स्थिति (६) निर्लेपना (७) अणगार (८) सम्यकत्व मिथ्यात्व क्रियाओं का वर्णन है।

जीव छः प्रकार के हैं। यह बात बहुत बार कही हुई है। पृथ्वीकाय दो तरह के है सूक्ष्म पृथ्वीकाय और बादर पृथ्वीकाय।

बादर पृथ्वीकाय छः प्रकार के हैं—

(१) श्लक्ष्ण पृथ्वी—मुलायम महिन आटे जैसी अर्थात् पतली धूल।

(२) शुद्ध पृथ्वी—पर्वत आदि के मध्य में।

(३) मनः शिला पृथ्वी—प्रसिद्ध है।

(४) बालुका पृथ्वी—रेती के समान।

(५) शर्करा पृथ्वी—छोटे पत्थर के टुकड़े।

(६) खरा पृथ्वी—पाषाण के रुप में।

इन पृथ्वीयों की आयुः स्थिति निम्न है :–

श्लेक्षणापृथ्वी—उत्कृष्ट	एक हजार वर्ष
शुद्धपृथ्वी—उत्कृष्ट	बारह हजार वर्ष
मनः शिलापृथ्वी—उत्कृष्ट	सोलह हजार वर्ष
वालुका पृथ्वी—उत्कृष्ट	चौदह हजार वर्ष
शर्करा पृथ्वी—उत्कृष्ट	अठारह हजार वर्ष
खरा पृथ्वी—उत्कृष्ट	बाईस हजार वर्ष

और जघन्य से सभी का आयुष्य अन्तर्मुहूर्त का है। भव–स्थिति और काय–स्थित जीव–विचार प्रकरण से जान लेना।

'जीव' धातु प्राण धारण के अर्थ में है जो प्राणो को धारण करे वह जीव कहलाता है। प्राण दो प्रकार के हैं (१) द्रव्य प्राण (२) भाव प्राण।

द्रव्य प्राण १० प्रकार के है--५ इन्द्रिय, ३ बल, श्वासोच्छवास और आयुष्य।

किसी भी प्राणी के प्राणों का हनन, पीड़न, मारण वह हिंसा है। भावप्राण ज्ञान, दर्शन, चरित्र रुप में है जिससे मोक्ष में गया हुआ जीव भी भावप्राण को लेकर जीव कहलाता है। कौन से जीव को कितने प्राण होते है वह 'जीव वीचार' प्रकरण से जान लेना।

संसारी अवस्था में द्रव्य प्राण को लेकर और मुक्त अवस्था में भावप्राण को लेकर सभी काल में जीव है। यहाँ प्रतिनियत एक जीव की विवक्षा नहीं है परन्तु जीव सामान्य की विवक्षा है। जीव कितने समय तक रहता है? अनादि अनंतकाल की अपेक्षा से जीव हर काल में विद्यमान होता है। जीव की काय स्थिति प्रकरण ग्रन्थों से जान लेना।

एक समय में एक जीव या तो सम्यकृत्व की या मिथ्यात्व की क्रिया

करेगा परन्तु एक समय में दो क्रिया मानने या करने में सिद्धांत विरुद्ध होता है क्योंकि ऐसा होने से जीव का मिथ्यात्व किसी भी समय मे टलेगा नहीं और मिथ्यात्व का नाश हुए बिना मोक्ष का मार्ग ही बन्द रहेगा जो सर्वथा अनिष्ट है।

प्रश्न—पांचवे उद्देशक का विषय प्रकरण आदि ग्रन्थों में लगभग आ जाता है।

प्रश्न—राजगृही नगरी में श्री गौतम स्वामी ने पूछा कि—हे! भगवन्! नरकगति में जानेवाला जीव क्या स्वयं के चालू भव में नरकायु बांधता है? नरक में उत्पन्न होते बांधे कि उत्पन्न होने के बाद बांधे?

यथार्थ वक्ता श्री भगवान ने कहा कि पीछे के दो विकल्पों को छोड़कर अर्थात् स्वयं के चालू भवमें ही आयुष्य कर्म बांधता है क्योंकि बेड़ी के समान आयुष्य कर्म को बांधे बिना कोई भी जीव स्वयं के चालू भव को नहीं छोड़ सकता है यह विवरण पहले भाग में स्पष्ट हो चुका है। बंधा हुआ आयुष्यकर्म नरकगति में जाने के बाद ही उदित तथा वेदित होता है।

नर्क में उत्पन्न होने योग्य जीव इस चालू भव में महावेदनावाला भी होता है? उत्पन्न होते ही महावेदनावाला होता है या नर्क में उत्पन्न होने के बाद भी महावेदनावाला होता है।

जवाब में भगवान ने कहा कि इस चालूभव में भी कभी महावेदनावाला या अल्पवेदनावाला हो सकता है। उत्पन्न होते ही कभी महा या अल्पवेदना वाला हो सकता है परन्तु उत्पन्न होने के बाद तो एकान्त दुःख रूप वेदना को ही भुगतता है और कभी सुख का भी अनुभव करता है।

सारांश यह है कि नरकगति में गये बाद कर्मों का अशुभ वेदन ही होता है और तीर्थंकर भगवान के जन्म के समय आंख की पलक झपकते जितने समय सुख होता है।

इस तरह असुरकुमार भी देवलोक में उत्पन्न होने के बाद ही एकान्त सुखरुप वेदना को वेदते है दुख तो शायद ही वेदते है। पृथ्वीकाय के जीव वहाँ उत्पन्न होने के बाद ही अनेक दुःख भोगते है मनुष्य भी मनुष्य अवतार में जन्म लेने के बाद ही सुख दुःख भुगतता है।

सूत्र में कदाच शब्द से यह जाना जा सकता है कि मनुष्य अवतार छोड़कर नर्क में जानेवाले कालसौकरिक कसाई को मृत्यु के समय में नारकिय वेदना भुगतनी पड़ी है जैसे अभयकुमार की सलाह से उसके पुत्र सुलस ने स्वयं के बाप के शरीर पर विष्ठा का विलेपन किया, गर्म पानी पिलाया, कर्कश शय्यापर सुलाया और मैले गन्दे कपड़े पहनाये और नारक होनेवाले कसाई को नारकीय वेदना भुगतते भी सुख हुआ है।

प्रश्न—आयुष्यकर्म आभोग से बंधता है या अनाभोग से ?

भगवान ने कहा कि अनाभोग से ही आयुष्यकर्म बंधता है जब शुभ या अशुभ कर्मों में जीव एक रस हो जाता है और उसके अध्यवसाय भी राग–द्वेष के वश होकर एकाकार हो जाते है तब अगले भव के लिए आयुष्य बंधता है और खास करके पर्व तिथियों में, बड़े पर्व मे आयुष्य बंधता है। इसलिए पर्वतिथियो मे, बड़ी तिथियों मे पर्युषण महपर्व और आयंबिल की ओली मे पाप, पापभावना बैर झेर आदि नहीं करने तथा शुभ और पवित्र भाव मे रहने का विधान है ? आभोग–अर्थात् मैं अगले भव का आयुष्य बांधू ऐसी इच्छा करने मात्र से ही कोई जीव आयुष्य कर्म नहीं बाँध सकता है परन्तु अनाभोग से ही अर्थात उपयोग रहित से आयुष्य कर्म बंधता है।

प्रश्न–अत्यन्त दुःखपूर्वक भुगते जाय ऐसे कर्कश कर्म कैसे बंधते है।

भगवान ने कहा कि सर्वश्रेष्ठ मनुष्य अवतार प्राप्त करके दूसरे जीवों के साथ स्वार्थ, लोभ प्रपंच आदि को लेकर बैर, विरोध हिंसा, चोरी, दुराचार आदि दुष्कर्म करते है वे अगले भव के लिए दुःख से सहन हो ऐसे कर्कश अशाता वेदनीय कर्म का उपार्जन करते हैं।

प्रश्न--अगले भव के लिए अकर्कश साता वेदनीय कर्म कैसे बंधते है ?

भगवान ने कहा कि–पाणाणुकंपाए–बेइन्द्रिय तेइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय जीवों के प्रति दयाभाव रखने से।

भूयाणुकंपाए–वनस्पतिकाय के जीवों के छेदन भेदन आदि कार्यों में करुणा रखने से।

जीवाणुकंपाए–पंचेन्द्रिय और तिर्यंचों के प्रति दयाभाव रखने से।

सत्ताणुकंपाए--पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायुकाय के जीवों के प्रति अनुकंपापूर्वक उपयोग रखने से।

अदुःखणयाए--दूसरे जीवों के दुःख का कारण नहीं बनने से।

असोयणयाए–दूसरे की हालत दयनीय बन जाय ऐसे कार्य नहीं करने से।

अजूरणयाए–दूसरे जीवों के शरीर का क्षय हो ऐसे शोक संताप नहीं देने से।

अतिप्पणाए–अपने निमित्त किसी को पीड़ा हो ऐसा नहीं करने से।

अपिट्ठणयाए--किसी को भी लकड़ी आदि से नहीं मारने से।

अपरियावणयाए--दूसरे को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं देने से जीवमात्र अगले भव में शाता वेदनीय और लम्बा आयुष्य बांधता है।

त्रिशला माता ने पूर्वभव में बहुत ही शातावेदनीय कर्म बांधा था। जिससे उनको जीवन के अन्तिम समय तक साता रही थी जबकि देवानंदा ने पूर्वभव के जेठाणी रूप में देवानंदा ने देरानी (त्रिशला) को रुलायी, मारी, देवर से पिटवायी, इत्यादि बहुत शोक संताप देने से भयंकर अशाता-वेदनीय कर्म बांधा था जो देवानंदा के भव में भुगतना पड़ा था।

छट्ठे आरे के भाव :

इसी जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र में चालू पांचवा आरा लगभग २१००० वर्ष व्यतीत होने के बाद पूरा होगा। फिर इस अवसर्पिणी काल का छट्ठा आरा लगेगा जो दुषमा दुषमा नाम का होने से भयंकर दुःखों की परम्परा उसमें चालू रहेगी। दुषमा-सुषमा नाम के कुछ सुंदर ऐसे पांचवे आरे में जो भाग्यशाली सुखादि की सभी सामग्री प्राप्त करने के बाद भी अरिहंत भगवंत की पूजा पंचमहाव्रतधारी गुरु महाराज के दर्शन-वंदन तथा शक्ति होनेपर भी सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, नवकारसी, एकासना, आयंबिल उपवास, दीन दुखियों की सेवा आदि पुण्य कार्य करने में स्वयं की शक्ति का उपयोग नहीं करे और हिंसककार्य, असत्याचरण, व्यापार –रोजगार कूड़कपट, परस्त्रीगमन, शराब–पान आदि दुष्ट कृत्यों में स्वयं का जीवन पूर्ण करेगा उनके लिए दुर्गति के द्वार खुले रहेगे। स्वयं के भयंकर कृत्यों द्वारा हजारों, लाखों, करोड़ों जीवों के साथ जो बैर बांधा होगा उसके कड़वे फल भुगतने के लिए छट्ठे आरे में मनुष्य या तिर्यंच के रुप में जन्म लेना पड़ेगा।

समवसरण में बैठे हुए सभी जीव छट्ठे आरे के महाभयंकर दुःख सुनकर सद्‌वर्तन में स्थिर होवे इसी आशय से गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवान्! पांचवां आरा पूरा होने पर छट्ठे आरे में भारतभूमि का आकार और भावों का आविर्भाव कैसा होगा ?

हे गौतम ! उस समय भारतवर्ष के जीवों को महाभयंकर दुःख भुगतने पड़ेंगे जिससे मनुष्य 'हा हा' शब्द करेंगे, दुःख से पशुवत् 'भा भा' शब्द करेगे और त्रस्त पक्षीवत् चीचीआरी करके कोलाहल करेगे। काल के प्रभाव से सहन नहीं हो सके ऐसे कठोर, धूल मिश्रित भयंकर वायु चलेगी धूल के गोठे उठेंगे, रज से मलिन और अंधकारमय दिशाएँ धूप जैसी लगेगी। काल की रुक्षता से चन्द्र अधिक ठंडा लगेगा और सूर्य ज्यादा गर्म लगेगा। बहुत ही विकृत रसवाले, विरुद्ध स्वादवाले, खारा, खातर

जैसे पानीवाले, अग्नि के समान दाहक, बिजली से झपकते, अपेय पानी को बरसानेवाले मेघ होगे। जिससे मुसलाधार वर्षा होगी। भारतवर्ष के पशुपक्षिओं, मनुष्यों, लता, वृक्ष आदि औषधियों का नाश होगा। वैताढय सिवाय के पर्वत, धूल के ऊँचे स्थान, रजबिना की भूमियाँ नाश होगी। गंगा और सिन्धु ये दो नदी के सिवाय पानी के झरने, तथा, ऊँचे नीचे स्थल समान हो जायेगे।

प्रश्न–भारतभूमि का आकार कैसा रहेगा ?

भगवान् ने कहा कि उस समय भूमि आग के समान, कंडे को अग्नि के समान तथा गर्मी से साक्षात अग्नि जैसी, बहुत धूल और कीचड़वाली, सेवाल के कारण भूमि पर मनुष्यों का चलना भी कठिन होगा ऐसी भूमि होगी।

उस समय के मनुष्यों के आकार और भाव का वर्णन करते हुए तीन काल के पदार्थो को प्रत्यक्ष करनेवाले भगवान ने कहा कि...

उस समय मनुष्य का शरीर रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श बहुत ही खराब होगा। अनिष्ट और मन को पसन्द नहीं आवे ऐसा शरीर होगा। हीन, दीन और अनिष्ट उसका स्वर होगा। निर्लज्ज, कपट, कलह, वध, बंध और बैर कर्म में आसक्त रहेगे। मर्यादा का उल्लंघन करनेवाला, अकार्य में तत्पर, माता पिता की आज्ञा नहीं माननेवाला उद्धत और अविनयी होगा। उसका रुप बेडोल, नाखुन, बाल, दाढ़ी, मूंछ और शरीर के रोम डुक्कर जैसे बड़े हुए होगे। भयंकर रुपवाले, टेढ़े गालवाले, खुरदरे शरीर वाले होंगे। बेडोल आँखे, टेढ़ी नाक तथा कुरुप मुँहवाले होंगे। खुजली तथा खुजलाने से विकृत शरीरवाले, कोढ़ आदि के रोगवाले, फटी हुई चमड़ीवाले, ऊँट आदि जानवरों जैसी गतिवाले, खराब संघयण तथा स्थान शय्या और भोजन भी उनका खराब होगा। प्रत्येक अंग में रोगवाले, बार बार सर्दी तथा गर्मी से व्यग्र बने हुए, क्रोध, मान, माया और लोभ वाले, धर्म तथा सम्यकत्व से भ्रष्ट बने हुए होगे। एक हाथ शरीर के प्रमाण

वाले, बीस वर्ष की आयुष्यवाले, पुत्र, पौत्रादि में अत्यन्त स्नेहवाले, छोटी उम्र में युवान बननेवाले और बहुत अधिक पुत्र पुत्रियों के बाप होंगे। छट्ठे आरे के अन्त में गंगा और सिन्धु नदी के किनारे वैताढय पर्वत की निश्रा में रहकर अपना जीवन पूर्ण करेंगे।

उस समय के मनुष्यों के आहार का वर्णन करते हुए भगवान ने कहा कि—बहुत ही कम विस्तार में बहनेवाली गंगा और सिन्धु नदी के पानी में होनेवाली मछलीयों और काचबो को पकड़कर रेत में डाट या दबा देंगे तथा ठंड और धूप से बफे हुए जीवों का भक्षण करेंगे। छट्ठा आरा २१ हजार वर्ष का है।

शीलरहित मर्यादा को भंग करनेवाले पच्चक्खाण रहित मांसाहारी मद्यसेवी और मृत शरीरों का आहार करनेवाले छट्ठे आरे के मनुष्य मरकर नर्क या तिर्यन्च गति में जन्म लेगें।

उस समय के शेर, सिंह, रीछ आदि जानवर भी प्रायः नर्क या तिर्यन्च गति में उत्पन्न होंगे। कौए, मोर आदि हिंसक पक्षी भी हलकी गति में जायेगें।

इस प्रकार का स्पष्ट वर्णन जानने के बाद भी जो इस वर्तमान भव को सत्कार्यों द्वारा सुधारेंगे नहीं तो तिर्यन्च या नर्क गति अपने लिए तैयार है जहां से लम्बे समय तक वापिस मनुष्य भव पाना मुश्किल होगा। संयोग से छट्ठे आरे में मनुष्य भव पा गये तो भयंकर पापकर्म करके संसार रुपी भव समुद्र में डूबे बिना नहीं रहेंगे। इसलिए उत्सर्पिणीकाल में होनेवाले तीर्थंकर देव का शासन हम प्राप्त करने को चाहते है तो इस भव में आश्रव मार्ग का यथाशक्य त्याग करके संवर धर्म का आराधन करना चाहिए जिससे देव गति प्राप्त होगी और तिर्थंकर देव, गणधर भगवन्त या विशिष्ट ज्ञानी मुनिराज के चरण में आते ही इस भव की अधूरी आराधना उस भव में पूरी हो जायगी।

यह अच्छी तरह समझलेना कि मनुष्य भव ही अपनी कसौटी के लिए हैं अतः मन काया और वचन को कंट्रोल में लेकर बने जितना तप, जप और ध्यान कर लेने में ही अपनी भलाई है।

॥ छट्ठा उद्देशक समाप्त ॥

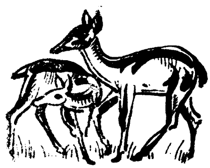

शतक सातवां उद्देशक ७

आश्रव और संवर का स्वरुप :

प्रश्नः—अशुभ मार्ग में गमन करनेवाली पांच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया और लोभरुपी चार कषाय प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह रुपी पांच अव्रत, अशुभ और अशुद्ध मार्ग में प्रवृत हुए मन, वचन और कायारुपी तीनों योग और सरंभ, समारंभ और आरंभ करनेवाली पच्चीस क्रियाएँ। ये ४२ प्रकार के आश्रव शास्त्र में बतलाये है जिससे जीव दुर्गति का भागी होता है।

जबकि पाँच समिति और तीन गुप्ति में रमण करनेवाले, बावीस परिषद को समभाव से सहन करनेवाले, दस प्रकार के साधु धर्म को पालनेवाले, स्वयं के मन को वश में करने के लिए बारह प्रकार की भावनाओं का मनन करनेवाले और पांच प्रकार के चारित्र के पालने में मस्त बने हुए मुनिराज संवर धर्म का सम्यक् पालन करते है। गृहस्थी, व्रतधारी, भाग्यशाली श्रावक भी यथाशक्य आश्रव मार्ग को छोड़ देगे तो वे भी संवर धर्मी कहलायेगें या ४८ मीनिट के लिए पांचों इन्द्रियों को वश में रखनेवाला श्रावक उस समय तक संवर धर्म का आराधक बनेगा और सद्‌गति प्राप्त करेगा।

काम भोग आदि का स्वरुप कैसा है ?

प्रश्नः—संवर धर्मी आत्मा कभी भी काम और भोग में लिप्त नहीं बनता है इससे जिज्ञासा होती है कि काम क्या है ? भोग क्या है ? दोनो

रुपी है या अरुपी ? सचित्त है या अचित्त ? जीव है या अजीव ? जीवों और अजीवों को काम होता है ? भोग कितने प्रकार का है ? यें प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान से पूछे हैं।

भगवान ने जवाब में कहा कि—

काम रुपी होता है अरुपी नहीं होता है क्योंकि काम की उत्पत्ति इच्छा में से होती हैं। मोह कर्म रुपी है क्योंकि कर्म पुद्गल ही होते हैं और पुद्गल रुप, रस, गंध और स्पर्शवाले होने से रुपी होता है इसलिए काम भी रुपी है ऐसा ही भोग के लिए जानना।

सचित्त और अचित्त के सम्बन्ध में भगवान ने फरमाया कि—संज्ञी प्राणी के रुप की अपेक्षा से काम सचित्त है और शब्द द्रव्य की अपेक्षा से तथा असंज्ञी जीवों के शरीर के रुप की अपेक्षा से काम अचित्त भी है। संज्ञी जीव का मन काम को विषय भूत करता है। 'मन' शब्द से यहां भावमन लेने का है क्योंकि भाव मन ही सचित्त मानने में आता है पर जब वह असंज्ञी जीव के शरीर का विषय भूत होता है तब उसे अचित्त मानने में आता है क्योंकि असंज्ञी जीव का शरीर पौद्गलिक होने से अचित्त है इसलिए काम भी अचित है।

जीव के शरीर रुप की अपेक्षा से काम जीव रुप है और शब्द की अपेक्षा से काम अजीव है। काम जीव को ही होता है अजीव को नहीं होता है। ऐसा ही भोग में समझना।

काम का अर्थ यह किया है। मानसिक जीवन में जिसकी अभिलाषा हो परन्तु शरीर के स्पर्श द्वारा जो भोगने में आता नहीं है अर्थात् इच्छा मन से जिसकी उत्पत्ति है परन्तु शरीर के भोग में नहीं आवे वह काम कहलाता है और शरीर द्वारा जिसका भोग हो वह भोग कहलाता है।

शब्द और रुप यह दो काम हैं।

गंध, रस और स्पर्श यह तीन भोग हैं। पंचेन्द्रिय जाती नामकर्म को लेकर पांचो इन्द्रियों को प्राप्त हुए जीव को पांचो काम और भोग होता है। यहां काम भोग से अकेला विषय वासना का भोग ही नहीं लेना, पांचो इन्द्रियाँ अपने-२ काम में और भोग में अति आसक्त बनकर तीव्र अभिलाशा से उन काम तथा भोग को भोगे उसे कामभोग कहते है। इन्द्रियो के विषय नियत हैं वह निम्न हैं :—

स्पर्शेन्द्रिय—प्रत्येक पदार्थ में रहे हुए स्पर्श का ग्रहण करे।

रसेन्द्रिय—प्रत्येक पदार्थ में रहे मधुरादि रस को ग्रहण करे।

घ्राणेन्द्रिय—प्रत्येक पदार्थ में रहे गंध को ग्रहण करे।

चक्षुरिन्द्रिय—प्रत्येक पदार्थ में रहे रुप वर्ण को ग्रहण करे।

श्रोत्रेन्द्रिय—पदार्थ के शब्द को ग्रहण करे।

इन्द्रियाँ मन के स्वाधीन होती हैं। मन आत्मा का स्वाधीन होने से अनादिकाल से आत्मा ने अनंत भव में अनतानंत पदार्थों के काम भोग किये हैं अतः प्रत्येक भव के कामभोग के संस्कार आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर विद्यमान होने से आत्मा की सहजगति काम भोग को प्राप्त करने की ही होती हैं। अनादिकाल का लंगोटिया मित्र जैसा मन भी उसका साथ देता है और मन से प्रेरित होकर इन्द्रियें भी काम भोग को प्राप्त करने के लिए आत्मा को साथ देने में सदैव तत्पर होती हैं। ऐसी स्थिति में शराब के नशे की तरह काम भोग का नशा भी आत्मा को किंकर्तव्यमूढ बनाकर भयंकर से भयंकर दुष्कृत्यों और दुराचारों के प्रति प्रस्थान करा देता है।

ज्ञान रुपी तलवार और वैराग्यरुपी ढालबिना की आत्मा को पांचों इन्द्रियों के २३ विषय रुपी काम भोग की स्मृति प्रतिक्षण सताती रहती हैं। दिन और रात के २४ घंटे, एक घंटे के ६० मीनिट, १ मीनिट के ६० सेकण्ड और एक सेकण्ड के ६० प्रति सेकण्ड होते हैं। कामभोग से वासित आत्मा चाहे जहाँ बैठी होगी तो भी प्रति सेकण्ड के लिए

कामभोग के विचार को छोड़ नहीं सकती है। शायद किसी क्षण अस्थायी अपुष्ट वैराग्य के कारण कामभोग से थोड़ी देर के लिए मुक्त होने की इच्छा करता है पर अत्यन्त तीव्र अवस्था को प्राप्त हुए काम भोग आत्मा को छोड़ते नहीं है और किसी भी प्रति सेकण्ड में आत्मा कामभोग के आधीन बनती है।

बेशक मोहराजा के सैनिक पदवी को धारण करनेवाले इन काम भोग के सामने वैराग्य राजा की छावनी को स्वीकारकर स्वयं की व्यूहरचना जबरदस्त बनाई हुई आत्मा के सामने कामभोग हताश होकर कमजोर बनते हैं अन्यथा चाहे जैसे साधक को चाहे वह नग्न हो, उपवासी हो, या दीर्घ तपस्वी हो तो भी नंदिषेण मुनि की तरह चलायमान करते देर नहीं लगती है। मोहराजा के इन सैनिको का इतना ही काम है कि वे साधक मात्र को सबसे पहले पदार्थमात्र का स्पर्श करने की, रसास्वाद करने की, सुगंध के प्रति आसक्त बनाने की, आंख से वस्तु को देखने की और कान से सुनने की इच्छा–अभिलाषा उत्पन्न कराते है। एकबार आत्मा में काम भोग की अभिलाषा उत्पन्न हुई तो मन में चंचलता का प्रवेश होते ही चाहे जैसे प्रतिकारों को ठोकर मारकर भी वह साधक कामभोग को प्राप्त करने के लिए चाहे जैसी प्रवृति अपना लेगा। जैसे जैसे उन पदार्थों के स्पर्श की, चखने की, सूंघने की, देखने की, सुनने की इच्छा बढ़ती जायगी वैसे वैसे 'काम' का प्राबल्य उसकी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में जोर करेगा। इस तरह बढ़ी हुई कामेच्छा चाहे वह मन पसन्द पदार्थ खाने की हो, स्त्री आदि के स्पर्श करने की हो, सुगंधी पदार्थों के सूंघने की हो, मनपसन्द स्त्री को देखने की हो या मनपसन्द प्रियव्यक्ति के शब्द सुनने की हो–आत्मा को अत्यन्त कामी बनाये बिना रहेगी नहीं और "कामात्क्रोधोऽभिजायते" काम से क्रोध उत्पन्न होता है।

अपने जीवन की लाखो बार बनी हुई घटनाओं को याद करे तो सहज समझ सकते है कि जब जब हम क्रोधावेश में आते है तब तब

उसके मुख्य कारण 'काम' (पांचोंइन्द्रियो के २३ विषयों को प्राप्त करने की लालसा--लोभ) ही है। मनुष्य के पुण्यकर्म हर समय एक समान नहीं होते अतः मनपसन्द भोग्य पदार्थ के भोगने में प्रतिकार की संभावना रहती है तब क्रोध की मात्रा भड़के बिना नहीं रहती है या जो पदार्थ अपना भोग्य हो उस पदार्थ के मालिक का मिजाज अपने प्रति एक समान नहीं रहता तो भी हम उस भोग्य पदार्थ पर या उसके मालिक पर क्रोध में भर जाते है जैसे—

(१) मनपसन्द स्त्री के साथ वार्तालाप करने के समय जो भी व्यक्ति अपने को रोकता है उसके प्रति १०८ डीग्री का क्रोध हुए बिना रहता नहीं है।

(२) मनपसन्द रंग के कपड़े तथा उसकी कटींग न हुई हो तो क्रोध में कपड़े लानेवाले व्यक्ति और सीनेवाले दर्जी के उपर गालियों की बौछार कर देते है।

(३) इच्छा मुजब चटनी, मसाले, भोजन या पेय पदार्थ नहीं मिलने से परोसी हुई थाली या पेय पदार्थ से भरे हुए गिलासों को भी रसोई करने वाले पर फेंक देने में कितनी देर लगती है ?

(४) मनपसन्द स्त्री या पुरुष का दृढ आलिंगन करने का मौका मिलता हो उस समय अपने से बड़े लोग अपने को सलाह देनेको तैयार होते है तो अपने मनजी भाई की मजा देखने जैसी होती है। सलाह देनेवाले चाहे गुरु हो तो भी उस समय तथा भविष्य के लिए भी हमको कट्टर शत्रु जैसे लगेंगे।

(५) आँख बन्द करके मंदिर में बैठने के बाद भी पीछे से मनपसन्द व्यक्ति के मधुर संगीत की आवाज आयी तो हमारा ध्यान और प्राणायाम की दशा हम ही जानते हैं।

इस तरह काम में से क्रोध की उत्पत्ति प्रत्यक्ष गम्य है। योगशास्त्र, में हेमचन्द्राचार्य महाराज कहते है कि "कषायान् विजेतुं इन्द्रियाणां जेतृत्वं आवश्यक मेव।"

क्रोध की मात्रा जब बढ़ जाती है तब मोहावस्था या मूढ़ावस्था भी बढ़ जाती है, तब मनुष्य विवेक शून्य हो जाता है। स्मृति के नाश में भूत, भविष्य और वर्तमान का निर्णय करने की बुद्धि नाम की आत्मा की पटरानी भी रुठकर स्वयं के पीहर चली जाती है और सद्‌बुद्धि के जाते ही अनादिकाल की वेश्या जैसी दुर्बुद्धि ही साधक के गले लिपटकर आत्मा का सर्वनाश करा डालती है।

इन सभी कारण से शास्त्रकारों ने कामभोग को दुस्त्याज्य कहा है क्यों कि एक के बाद एक गुणठाणे को प्राप्त करने की इच्छा को मूल से नाश करनेवाले कामभोग ही हैं। योगीराज आनंदघनजी ने कहा है कि 'आगम आगम धर ने हाथे, नावे किण विध आंकु' अर्थात् भगवतीसूत्र या कल्पसूत्र के पवित्र कागज हाथ में रहनेपर भी आंख और कान स्वयं की चालाकी और वक्र स्वभाव को छोड़ नहीं सकते है तो फिर स्पर्शेन्द्रिय रसेन्द्रिय आदि भी क्यो पीछे रहे?

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान ने काम भोग को शल्य तथा विष जैसा कहा है शल्य अर्थात् कामभोग रुपी कांटा। हम सभी जानते है कि नेमनाथ भगवान के पास दीक्षित हुए उनके ही छोटे भाई रथनेमी के मन में राजीमती के प्रति कामभोग का कांटा रह जाने से कैसी दशा हुई?

विष से विषय में एक ही अक्षर ज्यादा है पर विषय अनंतभव को बिगाड़ते है। अतः आत्मा का पतन करनेवाले इन्द्रियों के २३ विषय से मन को दूर कर आत्मा में स्थिर रहना यहीं उपयोगी मार्ग है।

पूर्व के पुण्योदय से पांच इन्द्रिय के २३ विषय की प्राप्ति होने के बाद भी उनको भोगने में विवेक रखना चाहिए। जैसे :—

(१) पुष्यानुबंधीपुण्य—अगणित धनराशि, युवावस्था, सुन्दर शरीर और मनपसन्द भोग्य पदार्थ मिलनेपर भी जिनधर्म का आश्रय लेकर निरर्थक पापों से बच जाने की इच्छा से स्वयं का धन महाव्रतधारी के दर्शन, ज्ञान और चारित्र की वृद्धि में व्यय करेगा। युवावस्था में भोग विलास की रात्रियों को भी मर्यादित करेगा, सुन्दर शरीर में एक भी दुर्गुण प्रवेश न हो उसका ध्यान रखेगा और मनपसन्द भोग्य पदार्थ में आर्तध्यान तथा अत्यन्त रागी न बन जाये इत्यादिक असत्कार्यो में सावधान रहनेवाला भाग्यशाली पुष्यानुबंधीपुण्य का मालिक बनेगा।

पुण्यानुबन्धीपाप—पापकर्मो की तीव्रता के समय भी स्वयं की आत्मा को संयमित कर कामभोग से मन को दूर करेगा तथा सद्बुद्धि, सद्वासना और सद्विवेक का मालिक बनेगा।

(३) पापानुबन्धी पुण्य—पुण्य प्राप्त सामग्री को कामभोग के आनंद में व्ययकर आत्मा को भारी बनायेगा।

(४) पापनुबन्धी पाप–जिनके विवेकरुपी दीपक सर्वथा बुझ गये हो। वे नहीं मिले कामभोग को प्राप्त करने के लिए प्रतिक्षण रात-दिन एक करेगें अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यान में ही लीन रहेगें।

प्रश्न–छद्मस्थ मनुष्य जो इस भव में देवलोक में उत्पन्न होने योग्य है। पर उसका शरीर अत्यन्त दुर्बल होने से वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषार्थ से बहुत से भोग भोगने में समर्थ नहीं होता? आप श्री भी इस बात का समर्थन करते है?

भगवान ने कहा कि—तेरी बात का मैं समर्थन नहीं करता पर मेरा कहना यह है कि है गौतम? वह जीव।

उत्थान अर्थात् खड़े होने रुप की चेष्टा द्वारा।

कर्म अर्थात् भ्रमण आदि क्रियाओ द्वारा।

बल अर्थात् शरीर सामर्थ्य द्वारा।

वीर्य अर्थात् स्वयं के आत्मबल द्वारा।

पुरुषार्थ अर्थात् स्वयं के स्वभिमान द्वारा।

इस प्रकार पांच प्रकार से वह जीव स्वयं के विपुल भोगों को भोगने के लिए समर्थ बनता है और जो भोग को भोगने में समर्थ है वह स्वयं को मिले भोगों का त्यागकर अच्छी से अच्छी निर्जरा भी कर सकता है और विशिष्ट फल का मालिक बनता है। भोग के त्याग भाव से ही जीव मात्र कर्म की निर्जरा करने में समर्थ है।

जब तक ज्ञान और वैराग्यपूर्वक भोग का त्याग नहीं करता और शरीर से दुर्बल है तथा मिले हुए भोगो को भोगने में भी समर्थ नहीं है उस दशा में वह जीव कर्म की निर्जरा नहीं कर सकता क्योंकि त्याग की भावना से त्यागी नहीं बना तो भी दुर्बलता के कारण अभोगी होने पर भी उसके मन में भोग के प्रति लालसा रहती है। बहुत से वृद्ध मनुष्य को अपन जानते है और देखते हैं कि–उम्र से परिपाक होने पर भी और शरीर के अंग शिथिल बन जानेपर भी मैथुन कर्म के त्याग की भावना उनमें पैदा नहीं होती। उस समय भी वे कहते है कि कदाच बीमारी से मुक्त हो जाऊं तो......। अनुभवी महात्मा कहते है—

'अंग गलितं पलितं मुण्डं दशन विहिनं जातं तुण्डं।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चति आशापिण्डं ॥

अंग गल गये बाल सफेद हो गये मुँह में से सभी दांत गिर गये तो भी मनुष्य वासना छोड़ने में समर्थ नहीं होता है।

छोटी तथा जवान उम्र में खाने-पीने की जो आदत पड़ जाती है उस कारण से मरने की तैयारी है तो भी सुपारी का टुकड़ा खाना है, बीड़ी पीनी है होटल की सेन्डवीच खानी है और बेटा, जमाई, पौत्र और दोहिते आदि को देखने की तमन्ना कम नहीं हुई। कितने तो मृत्यु के समय

में भी अपने पुत्र को कहते हैं-बेटा मेरे मरने के बादभी तेरे काका के घर का पानी मत पीना। दूसरा वकील करके तेरे काका के कपड़े जेवर बाजार में नीलाम कराकर ही बैठना। वह लोहखुर चोर मरते-२ भी स्वयं के लड़के को कहता है कि तू मेरा सपूत हो तो 'महावीर के समवसरण में जाना मत' उसकी वाणी सुनना मत और अपने बाप दादा का धन्धा बन्द मत करना इत्यादि अनेक दृष्टान्तों से हम जानते हैं कि मरनेवाला मनुष्य उस समय बिलकुल दुर्बल है, लाचार है तथा उस समय भोग को भोग सकता नहीं है तो भी उसकी लालसा से वह आर्त तथा रौद्र ध्यान में मरता है।

सारांश यह है कि असहाय अवस्था में हम सर्वथा लाचार बने उसके पहले ही जब तक शरीर में शक्ति है, इन्द्रियाँ बलवान है, ज्ञानशक्ति सतेज है, वृद्धावस्था दूर है शरीर निरोग है तब तक ज्ञान से समझकर संसार के अनेक भोग्य पदार्थों में से एक के बाद एक को छोड़ने का अभ्यास करें अथवा हर महिने में एक एक आदत कम करे तो वर्ष भर में बारह आदत अपने कंट्रोल में आते ही अपना जीवन अरिहंत के शासन में आने लायक बन जायगा। एक एक वर्ष में भी जीवन में पड़ी हुई हिंसा झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह के पापों की माया एक के बाद एक छूट जायगी तो इस जीवन के अंतिम भाग तक पापवर्धक, पापफलदायक और पाप परंपरक बहुत सी बुरी आदतों से मुक्त बन जाओगे। अच्छी तरह समझ लेना कि जीवन में से बुरी आदत गये बिना अच्छी आदत कभी नहीं आ सकती है। अतः—

(१) अहिंसक बनने से पहले हिंसक कर्म, हिंसक भाषा छोड़नी पड़ेगी।

(२) सत्यवादी बनने के लिए झूठ बोलना, बकवास करना, क्रोध, लोभ, भय और हास्य की आदते छोड़नी पड़ेगी।

(३) अचौर्यव्रती बनने के लिए चोरी करना, झूठे माप दण्ड, दानचोरी आदि धन्धे पर नियंत्रण करना होगा।

(४) ब्रह्मव्रती होने के लिए देश से या सर्व से मैथुन कर्म की चेष्टा छोड़नी पड़ेगी तथा सदाचारी बनना पड़ेगा।

(५) संतोषी होन के लिए सभी प्रकार के परिग्रहपर निर्यंत्रण करना पड़ेगा।

इस तरह भोग्य पदार्थ को संयमित करने से जीव सच्चा त्यागी बनेगा और देवगति की प्राप्ति कर सकेगा। अवधि ज्ञानी, परमावधिज्ञानी और केवलज्ञानी बनकर मुक्तिरमणी का स्वामी भी बन सकेगा।

परमावधि और केवल ज्ञानी तद्भव मोक्षगामी होनेपर भी त्याग की अत्यन्त आवश्कता उनके जीवन में स्वीकार्य है ऐसा शास्त्रकार कहते है। सारांश कि चरमशरीरी को भी संसार की माया को त्यागना अनिवार्य होता हैं।

प्रश्न—अमनस्क अर्थात् मन बिना के जीव जैसे पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, विकलेन्द्रिय और समुर्च्छिम जीव भी अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रहे है। अज्ञानांधकार और मोह में डूबे होने से उसको भी किये हुए कर्म की वेदना तो भुगतनी होती है तो हे प्रभो! वे अकाम निकरण अर्थात् अनिच्छापूर्वक वेदना का वेदन करते है?

जवाब में भगवान ने कहा कि वे जीव ज्ञानावरणीय कर्म के प्रबल उदयवाले, तत्वश्रद्धा बिना के तथा मोहनीय कर्म के उदय से अज्ञानी होते है। अतः अन्धकार में प्रविष्ट की तरह इन दोनो कर्मो के जाल में पूर्णरुप से फंसे होने से अमनस्क अवस्था में वेदना के अनुभव की इच्छा नहीं होने पर भी अज्ञान अवस्था में सुख–दुःख की तीव्र वेदना भुगतते हैं। वे जीव मनरहित होने से ज्ञान शक्ति शून्य होते है इसलिए अनिच्छा से भी कर्मो की अकथनीय वेदना को भुगतनी पड़ती हैं।

सारांश यह है कि–सम्यगदर्शन, ज्ञान और चारित्र बिना के जीव स्वयं के मनुष्य अवतार में मिथ्यात्व के गाढ़े अन्धकार में हिंसक और

अहिंसक, सत्य और असत्य, सदाचार और दुराचार, त्याग और भोग का विवेक करने में सर्वथा शून्य होते हैं। जिससे पूरी जिन्दगी तक स्वयं के सुख के लिए खान पान, मोह वासना शरीर के भोग विलास और इन्द्रियों के गुलाम बनकर असंख्यात जीवों के साथ बैर की गांठ में बंध जाते हैं।

पूर्व भव के पुण्यकर्म के कारण मिलनेवाले भोग्य पदार्थ अहिंसक मार्ग से भी प्राप्तकर सकते है। परन्तु विवेक धर्म का जीवन में जब लोप होता है तब पंचेन्द्रिय जीव के वध से उत्पादित मांसाहार का भोजन, त्रस जीवों के वध से बने हुए रेशमी वस्त्र, तथा पेयादि पदार्थ जीवन के आनंद के लिए अपनाने में तैयार रहेंगे। फलस्वरुप पुण्य संयोग से मिले हुए मनुष्य अवतार को समाप्त करके एकेन्द्रिय अवस्था में अकथनीय वेदना का अनुभव करेंगे। अनिच्छा से वेदना को भुगतते वनस्पति काय का जीव यह नहीं चाहता है कि मेरी डाल, पुष्प, फल, पत्तियाँ आदि कोई तोड़े, छेदे, जलाये या बाफे तो भी अधार्मिक मनुष्य बिना प्रयोजन के भी चलते फिरते वृक्ष की डाल, फुल, फल, तथा पत्तियों को तोड़ते जाते है। कोई कोई तो नयी कलियों को तोड़ते हैं कोई पुष्प की एक एक पंखड़ी अलग अलग करके फेंक देते हैं। इस तरह स्वयं की जात को किसी भी तरह से प्रतिकार करने के लिए सर्वथा अक्षम अकाम वेदना भुगतते हैं।

प्रश्न—गौतमस्वामी इसी प्रश्न के अनुसंधान में दूसरा प्रश्न पूछते हैं कि ज्ञान शक्ति शून्य मन रहित जीव भले ही अकाम वेदना भुगते परन्तु जो समनस्क जीव ज्ञानशक्तिवाले है वे क्या अकामनिकारण वेदना भुगतते है?

भगवान ने कहा–हे गौतम! गर्भज तिर्यन्च पंचेन्द्रिय और मनुष्य भी उपयोग की शून्य अवस्था में अनिच्छापूर्वक अकाम वेदना को भुगतते हैं। इसके कारण में भगवान ने कहा कि चाक्षुष पदार्थ को देखने की शक्ति होने पर भी प्रकाश के अभाव में, अंधकार में रहे हुए, नजदीक

पदार्थ को भी देख नहीं सकते है वैसे ही उपयोग के अभाव में अर्थात् वह पदार्थ मुझे देखना है ऐसा अभिप्राय जबतक जीव को न हो तब तक कौनसा भी पदार्थ नहीं देख सकता है। इस तरह इच्छा शक्ति से युक्त जीव भी उपयोग की अस्थिरता में जो सुख दुःख का वेदन करते है वह अकाम निर्जरा कहलाती है। अमनस्क जीव इच्छा और ज्ञानशक्ति के अभाव में जैसे कर्मों का वेदन करते है वैसे ही समनस्क जीव उपयोग के अभाव में करते है।

सारांश यह है कि—कर्म का वेदना सर्वथा अनिवार्य होने पर भी उपयोग रहित मनुष्य की खाने–पीने, चलने, उठने आदि की क्रियाओं में ऐसी भूले हो जाती है कि जिससे उसका खाना पीना या चलने आदि क्रियाएँ असाता वेदनीय को भुगतने के लिए ही बन जाती है और फिर से उस स्थिति में नये कर्मों का बंधन हो जाता है। स्वयं की आत्मा में स्थिर और ज्ञानपूर्वक शान्त तथा दांत बना हुआ भाग्यशाली हर क्षण सम्यक्चरित्र के उपयोग मे रमण करनेवाला होने से तपस्वी तथा ज्ञानी होता है अतः अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि धर्म का ख्याल रखकर खाने, पीने चलने आदि की क्रियाओं में एक भी भूल नहीं होने से उसकी सभी क्रियाएँ कर्मों के निर्जरा का कारण बनेगी। उपयोगी आत्मा मोहनीय कर्म के उपशम के लिए जागृत रहकर पुरुषार्थ करती है। इस लिए प्रारब्ध निकाचित कर्म का वेदन करते हुए भी तथा नये कर्म के बंधन से दूर रहने पर भी पुराने कर्मों का निर्जरक बनेगा क्योंकि वह ज्ञानी है।

प्रश्न—ऐसा ही तीसरा प्रश्न यह है की संज्ञी और समर्थ होनेपर भी प्रकाम निकरण अर्थात् तीव्र इच्छापूर्वक वेदना को वेदते है ?

जवाब मे भगवान ने कहा कि–हे गौतम ! 'हां' वे जीव वेदना को भुगतते है। कैसे ? जैसे समुद्र के पार रहे हुए पदार्थ का स्पर्श, स्वाद, घ्राणन, दर्शन और श्रवण करने की तीव्र इच्छावाला मनुष्य जिसके रोम

रोम मे वेसी इच्छा होती है कि–समुद्र पार की स्त्रियों का स्पश, आलिंगन वहां का भोजन तथा सुगंधी पदार्थों को सुंघु देखुं तथा उपयोग करुं। उनकी रुप रंग आकृति को देखु उनके गीत गान सुनु। इस प्रकार की उन उन पदार्थों को स्पर्शने सुंघने, देखने, खाने, सुनने की भावना तीव्र होने पर भी मध्य मे महाभयंकर समुद्र होने से तथा शरीर शक्ति का अभाव होने से वह इच्छापूर्वक वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता है। और मोह कर्म की प्रबलता से रात–दिन उन पदार्थों को भोगने की इच्छा होनेपर भी सामर्थ्य के अभाव मे भोग नहीं सकता है।

इन सब कारणों से दया के सागर भगवान ने कहा कि–हे जीवात्मन्। संसार की तथा तेरे प्रारब्ध कर्मों की परिस्थिति जब ऐसी है तो फिर जो पदार्थ तेरे हाथ मे नहीं है एतदर्थ व्यर्थ तपना, आर्तध्यान करना छोड़ दे और जान बूझ कर तथा समझकर उन पदार्थों का त्याग कर दे। बारह व्रत को स्वीकार कर जिससे तेरी आत्मा शान्त और निर्मल होगी क्योंकि समझकर त्याग किये हुए पदार्थ आत्मा को परेशान नहीं करते है। भगवान की बाते सुनकर गौतम स्वामी खुश हुए।

॥ सातवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक सातवां उद्देशक-८

प्रश्न—इस उद्देशक मे इतनी वस्तुओं का निर्देश है :—

(१) केवल संयम के द्वारा या तप द्वारा जीव सिद्ध होता है? (२) हाथी मे और कीड़ी मे जीव समान है? (३) पापकर्म दुःखरूप ही होते हैं? (४) संज्ञाएँ कितनी? (५) नारको की वेदना कितने प्रकार की? (६) हाथी और कीड़ी को अप्रत्याख्यान क्या समान है? (७) आधा कर्म आहार करनेवाले साधु क्या कर्म बांधते है? ये सात प्रश्न हैं।

पहला प्रश्न प्रथम भाग मे आ गया है। प्रश्न—हे प्रभु! दीर्धकाय हाथी और लघुकाय कीड़ी के शरीर मे जीव एक समान है?

जवाब में भगवान ने कहा कि हे गौतम! रायपसेणी सूत्र में कहा है कि सभी में जीव समान ही होता है केवलीसमुद्घात को छोड़कर जीव शरीर प्रमाण ही होता है अर्थात् शरीर बड़ा हो या छोटा तो भी आत्मा सभी में एक समान स्वयं के असंख्यात प्रदेश सहित होती है।

छः द्रव्य में जीव द्रव्य स्वयं की विशेष शक्ति द्वारा स्वयं के प्रदेशो को संकोच तथा विस्तार सकता है। हाथी के शरीर में रहा हुआ जीव हाथी के शरीर के अणु-२ में व्याप्त होकर रहता है और हाथी के अवतार को पूर्ण कर वह जीव कीड़ी के अवतार को धारण करता है तब स्वयं के प्रदेशों के साथ कीड़ी के शरीर के अणु-२ में रहता है।

सारांश कि आत्मा शरीर प्रमाण होती है इससे जो लोग आत्मा को अंगूठे या चावल जितना मानते है उसका खंडन हो जाता है। हम भी

शरीर के कीसी भी भाग में होती वेदना की असर का उसी समय अनुभव करते है यह प्रश्न पहले भाग में आ चुका है ।

जिन्होने भूतकाल में कर्म किये है और वर्तमानकाल में कर रहे हैं उन नारकी के वे कर्म दुःख के हेतु भूत संसार के कारण होने से क्या वे कर्म दुःख ही है ? तथा नरकगति में कर्मो को जिन्होंने भोग लिये है इसीलिए भुगतकर निर्जरा प्राप्त वे कर्म क्या सुख रुप ही हैं ।

दोनों के जवाब में भगवान ने कहा कि 'हा' अर्थात् जैसा पूछा है वैसा ही है । इस तरह भवनपति से लेकर वैमानिक तक जानना ।

संज्ञाविवरण

जिससे जीव संज्ञी कहलाता है वे संज्ञा दस है उसमें आहार संज्ञा में क्षुधावेदनीय कर्म काम करता है । भय, मैथुन, परिग्रह क्रोध, मान, माया और लोभ संज्ञा के मूल में मोहनीय कर्म का उदय होता है । ओघ संज्ञा और लोक संज्ञा में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम कम अथवा विशेष होता है ।

आहार संज्ञा–क्षुधा वेदनीय कर्म के उदयकाल में भिन्न भिन्न प्रकार के आहार करने की तीव्र लालसा बनी रहती है ।

भय संज्ञा–इसमे मोहनीय कर्म के उदय से आंखो में भय, वचन में स्खलना, शरीर में कंपकंपी और चारो तरफ से सार्थक या निरर्थक वह मनुष्य भयभीत बना रहता है ।

मैथुन संज्ञा—वेद मोहनीय कर्म के उदय से स्त्री या पुरुष को विषय सेवन करने की ही भावना बनी रहती है ।

परिग्रह संज्ञा लोभ कषाय के उदय से संसारकी वृद्धि के कारण रुप धन, धान्य, हाट, हवेली, सुवर्ण आदि में अत्यन्त आशक्ति रहती है ।

क्रोध संज्ञा–क्रोध कषाय के उदय से आंखो में लाली, ओंठ मे फड़फड़ाहट, दांतो मे किचकिचाहट आदि चेष्टाएँ होती है ।

मान संज्ञा–मान कषाय के उदय से मनुष्य को मद अभिमान आदि उत्पन्न होता है।

माया संज्ञा–माया कषाय के उदय से कूड-कपट की भावना, असत्य बोलना आदि प्रवृति होती है।

लोभ संज्ञा– लोभ कषाय के उदय से मोहासक्त बनकर सचित्त अर्थात् पुत्र पुत्रियों, अचित्त अर्थात् मकान बंगला और मिश्र अर्थात् पुत्र-पुत्रियो को श्रृंगारने तथा बंगले की रोनक बढ़ाने, वस्त्राभूषण तथा फर्निचर वस्तु प्राप्त करने में ही लीन रहता है।

ओघ संज्ञा–मति ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से शब्द आदि अर्थ के विषयवाला सामान्यज्ञान वह ओघ संज्ञा कहलाती है।

लोक संज्ञा–पदार्थों का विशेष ज्ञान वह लोक संज्ञा है।

इस प्रकार ये दस संज्ञाएँ नर्क से लेकर वैमानिक देवो तक होती है। तथा संसार में परिभ्रमण करानेवाली है।

इस मनुष्य अवतार में सम्यगज्ञान की प्राप्ति के लिए जो प्रबल पुरुषार्थ करने में आवे तो प्राप्त हुई उस ज्ञान संज्ञा से ऊपर की दसो संज्ञा का बल कम होगा और स्वयं के जीवन को ऊँचा बना सकेगा अन्यथा "ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः"। दसो संज्ञाओ में फंसा हुआ जीव पशु जैसा ही अज्ञानी है और अज्ञानी जीव आहार मैथुन परिग्रह आदि के उदयकाल में विवेक रहित होने से उनको सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। परिणाम स्वरुप उनकी मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टाएं इस अगाघ संसार की भयंकरता को बढ़ानेवाली ही होती है। आचारंग सूत्र के पहले सूत्र में ही भगवान फरमाया है कि कितने ही जीवों को ज्ञान संज्ञा नहीं होती है तो फिर कर्म किस तरह बंधते है ? कर्म कैसे टूटते है ? बंधे हुए कर्म कैसे भयंकर होते हैं ? ये सभी बाते कैसे जान सकेंगे ?

अतः संसारभीरु आत्माओं को स्वयं के पुरुषार्थ से उपर की संज्ञाओं का जोर कम हो और ज्ञान संज्ञा की प्राप्ति हो ऐसे प्रयत्न करना चाहिए।

उपरोक्त दसों संज्ञाएँ जिसके जीवन में प्रवेश कर गई है। वे जीव मरकर प्रायः नरक में ही जाते है और वहां दस प्रकार की असह्य वेदना भुगतनी पड़ती है। ये दस वेदनाएँ यह है :—ज्यादा से ज्यादा शीत, उष्ण, भूख, प्यास, खुजली, पराधीनता, ज्वर, दाह, भय और शोक है।

इन वेदनाओं को भुगतते नर्क के जीव स्वयं का जीवन रो रोकर पूर्ण करते हैं ?

नर्क के जीव जो वेदना भुगतते है उसका कारण उनके किये हुए कर्म ही है। कर्म बांधने का मुख्य कारण क्रियाये हैं। जिससे क्रियाएँ कर्म कहलाती है। क्रियाएँ बहुत है पर इस प्रश्न में तो केवल अप्रत्याख्यानी क्रिया की बात है।

गौतम स्वामी के पूछनें पर भगवान ने कहा कि 'हाथी और कीड़ी के जीव की अप्रत्याख्यानी क्रिया अविरति को लेकर समान है। विरति अर्थात् त्याग ! पापस्थानक के त्याग को विरती कहते हैं। क्योंकि अनादिकाल से यह जीव दस या प्रकारान्तर से सोलह संज्ञाओं में बेभान बनकर संपूर्ण संसार के माया प्रपंच में पारंगत बन सका है। इसलिये तो वह राजा महाराजा के मोटर के नम्बर याद कर सकता है। आहार में स्वाद बढ़ाने के लिए वैद्यक ग्रन्थों का अभ्यास किया। काम सेवन के ८४ आसन ध्यान में रखे, पैसा इकट्ठा करने में कैसी योजना कैसे करनी इसमें जीवन पूर्ण किया। परंतु इन सभी बातों में कितने पापस्थानक का सेवन किया वह जानने की कोशिश नहींकी फिर तो उसे छोड़ने की बात ही कहां रही ? पाप की गठरी के नीचे स्वयं दब गया।

इस तरह संख्याता या असंख्याता बार मिले हुए मनुष्य अवतार को इस जीवात्मा ने व्यर्थ गुमाये। अब महान पुण्योदय से प्राप्त हुआ मनुष्य

भव व्यर्थ न जाय इसलिए बहुत समझपूर्वक पापों को पहचानना और जैसे बन सके वैसे पापस्थानक का त्याग कर विरती धर्म को अंगीकार करना यही उपयुक्त है ।

वर्तमान भव में निरर्थक बंधाते हुए पापकर्म का त्याग कर भव भवांतर में बंधे हुए पापों को अच्छी तरह आलोचना करके उन पापो की क्षमा मांगनी आवश्यक है । मच्छीमार, कसाई, कलाल, लुहार, सुतार, गणिका, बदमाश, भांड आदि के घर जन्म लेकर अगणित पाप किये हैं । उन पापों का हृदय से पश्चाताप करके क्षमा मांगनी और जिस खिड़की में से हवा आती हो वह खिड़की बंद करने में आती है वैसे ही जिन कारणों से पाप आते हो उन पापों के द्वार को बंद करेंगे तो ही हम दुःख में से छुटकारा पा सकेंगे ।

आधा कर्म का आहार लेनेवाला मुनि कितने कर्म बाँधता है ?

इस प्रश्न का जवाब प्रथम शतक के नवमें उद्देशक मे आ चुका है ।

॥ आठवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक सातवां उद्देशक ९

प्रश्न—असंवृत अणगार (वैक्रिय लब्धि प्राप्त) बाहर के पुद्गल को ग्रहण करके एक वर्णवाले एक रुप की, एक वर्णवाले अनेक रुप की, अनेक वर्णवाले एक रुप की रचना तथा अनेक वर्णवाले अनेक रुप की रचना (विकुर्वणा) करने को समर्थ होते हैं। इस प्रकार वर्ण आदि की अपेक्षा से ये प्रश्न है :—

प्रश्न—इसमें चेटक राजा और कोणिक की युद्धभूमि का कथात्मक वर्णन है। कथा की पूर्व भूमिका इस प्रकार है।

वैशाली नगरी मे महाप्रभावशाली, अरिहंत के धर्म में पूर्ण श्रद्धावान् शीलवान् और सदाचार का अजोड़ पालक, रक्षक चेटक नाम का राजा था जो भगवान महावीर स्वामी के मामा थे। उनके सात पुत्रिँा थी जो सती शिरोमणी और जैन धर्म के पालन में पूर्ण रुपसे दत्तचित्त बनी हुई थी। पहले वे पार्श्वनाथ भगवान के अनुयायी थे बाद में महावीर स्वामी का सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार किया जो उनकी नस-२ में व्याप्त था। महाराजा चेटक का परिवार भगवान महावीर का पूर्ण उपासक था उनके रोम-२ में अरिहंत का धर्म व्याप्त था।

अखिल संसार जैन धर्म का अनुयायी बने, अहिंसा धर्म की पताकाएँ घर-२ लहराये संयम की महा ध्वजा गलीगली में लहरे ऐसे उच्च आशय से महाराजा चेटकने स्वयं के साम्राज्य को छोड़कर दूसरे देश के राजाओं

को भी ऐसा करने का समझाकर सभी के साथ एक गणतंत्र की स्थापना की, तथा सभी राजाओं का उसमें समावेश किया। उस गणतंत्र की राजधानी वैशाली नगरी को बनाया तथा उसके प्रधान महाराजा चेटक बने। काशी और कौशल देश के नौ मल्ली और नौ लच्छी राजा भी गणतंत्र में शामिल हुए। इस समग्र गणतंत्र का चेटक राजा बहुत ही कुशलता से संरक्षण करते थे। जिसकी इतनी प्रसिद्धि हुई कि दूसरे देश के राजा भी उसमें सम्मिलित होने को उत्सुक थे क्योंकि जीव हिंसा, शराब पान, परस्त्रीगमन, के व्यापक प्रचार से वे राजा परेशान हो गये थे। पांडित्य गर्विष्ट, अर्धदग्ध पंडितो के वाक्‌जाल से सारा वातावरण भयंकर बन गया था। देवी देवताओं के सामने उनके नाम पर अगणित मूक पशुओं का वध, गुलामी प्रथा के नाम पर गुप्त या प्रगट व्यभिचार, जगदम्बा शक्ति को धारण करनेवाली नारी जातिपर पुरुषों का स्वछंद व्यवहार आदि से मनुष्य समुदाय दुःखी हो गया था। उस समय अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि धर्मों का संस्थापक गणतंत्र राज्य दिन प्रतिदिन यशस्वी और मनुष्यों पर आर्शीवाद के समान बन रहा था।

उस समय हिंसा, शराबपान, परस्त्रीगमन का अत्यधिक प्रचार होने से महापंडित भी इसमें फंसे हुए थे। अतः उन्होनें गणतंत्र राज्य का विरोध भी खूब किया था।

भगवान महावीर स्वामी के तीर्थंकर होने के बाद भी हिंसा और अहिंसा के कारण बहुत ही अशांति फैल रही थी। भगवान ने स्वयं की अनुपम ज्ञानशक्ति के प्रभाव से इस अशांति को शांति में परिवर्तित कर दिया था। किसीप्रकार की हिंसा से धर्म तथा सद्‌गति की प्राप्ति नहीं होती है बल्कि नर्क के घोर दुःख सहन करने पढ़ते है यह अच्छी तरह समझाया। और जनता समझने लगी।

तीर्थंकर भगवान को भी लोकोत्तर धर्म के लिए राजसत्ता की सहायता भी अनिवार्य होती है इससे ही पूर्व के तीर्थंकरो में किसी को चक्रवती तथा किसी को वासुदेव या प्रतिवासुदेव की राजसत्ता की सहायता कम या अधिक अंश में मिलती रही है। पार्श्वनाथ भगवान को भी उनके पिता अश्वसेन राजा की सहायता मिली है। वे वासुदेव या प्रतिवासुदेव न होनेपर भी न्यायनिष्ठ, मिष्टभाषी, सदाचारी और शीलवान् थे जिससे धार्मिकता के कारण अहिंसा धर्म बहुत अधिक अंश में क्षत्रियों में तथा दूसरो में भी फैल चुका था।

भगवान महावीर स्वामी के शासन पर हुंडा अवसर्पिणी की असर होने से एक भी राजसत्ता चिरस्थिर नहीं बनी।

क्षत्रिय कुंड नगर के राजा सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला रानी ने जब १४ स्वप्न देखें तब सभी को विश्वास हो गया था कि त्रिशला रानी की कुक्षि से चरम तीर्थंकर का जन्म होगा। जन्म के बाद करोड़ो की संख्या में देवी–देवता तथा ६४ इन्द्र और इन्द्राणी भगबान को मेरुपर्वत के ऊपर ले जाकर अभिषेक करेगे ! भारत भूमिका सद्‌भाग्य था कि चैत्र सुदि १३ के दिन त्रिशला रानी ने भगवान को जन्म दिया और इन्द्रोने तथा देवोने भगवान का अभिषेक किया श्री। वर्द्धमानकुमार जब पढ़ने स्कूल गये और वहाँ जाकर पढ़ानेवाले पंडित के मन की शंका दूर की तब जनता के आनंद की कोई सीमा नहीं रही और लोगोने जाना कि भगवान एक दिन "मुत्ताणां मोअगाणं" बनेगे। अर्थात् स्वयं कर्मो से मुक्त होकर दूसरे को भी कर्मो से मुक्त करेंगे और अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा करेंगे। तब सयंम की पुनः प्रतिष्ठा होगी जिससे यज्ञ के कुंड ठंडे होगे।

और एक दिन सच्चे सुख की खोज में वर्द्धमान कुमारने संयम ग्रहण किया। ध्यान तथा तप के बल से केवलज्ञान को प्राप्त किया तथा तीर्थंकर पद की प्राप्ति हुई, जिसके प्रति समग्र संसार को संपूर्ण श्रद्धा और आदर था।

उस समय भगवान के सगे सम्बन्धी राजा ही मानो हुंडा अवसर्पिणी के कारण आपस में भयंकर रणसंग्राम खेल रहे थे।

चेटक महराज की एक पुत्री धारीणी की शादी चंपा के राजा दधिवाहन के साथ हुई थी। दूसरी पुत्री मृगावती का लग्न कौशांबीं के राजा शतानिक के साथ हुआ था। दोनो राजा का साडुपन का सम्बन्ध होने पर भी राजसत्ता और श्रीमंताई की लालसा ने सभी सम्बन्धों को भूला दिये थे।

परिग्रह के लिए तथा स्वयं के अहं के कारण दोनो रणमैदान में आ डंटे, घमासान युद्ध हुआ तथा दधिवाहन राजा हार गया तथा मारा गया अन्त में उसकी पुत्री वसुमती (चंदनबाला) जो चेटक राजा की दोहती थी तथा भगवान महावीर के मामा की पुत्री की पुत्री थी उसका भर बाजार में नीलाम हुआ। धनवाह सेठ के यहां वह दासीरुप में रही जिसके हाथ से भगवान का अभिग्रह पूर्ण हुआ तथा वह भगवान महावीर की प्रथम साध्वी बनी जो घटना जैनों में सुप्रसिद्ध है।

दूसरी तरफ धर्महीन शतानिक राजा भी चंड प्रद्योत राजा के भय से मर गया। ये सभी बाते भगवान के छद्मस्थ काल की है।

भगवंत के अभिग्रह का परिणाम यह आया कि गुप्त व्यभिचारों का पोषण करनेवाली गुलामी प्रथा का अन्त हुआ और राजा महाराजा में सदाचार की भावना जागृत हुई।

अन्त में भगवान को केवल ज्ञान हुआ। तदन्तर पंडित और महापंडित जो चौदह विद्या के पारगामी थे, उँचे प्रकार के वादी तथा प्रतिवादि थे स्वयं की जात को ब्रह्मज्ञानी माननेवाले थे वे सब अधिक संख्या में भगवान के ज्ञान के सामने हारकर उनकी शरण में आये और प्रव्रर्जित बने।

राजा–महाराजा भी प्रभावित हुए–और अहिंसक बने। हिंसा, मांसाहार, शराब पान, आदि पाप का त्याग कर अहिंसा के पुजारी बने।

कितनों ने व्रत अंगीकार किये। चेटक राजा की पुत्री चेलणा जो मगध के राजा श्रेणिक की रानी थीं स्वभाव से बहुत ही सुन्दर तथा अहिंसा धर्म में पूर्ण श्रद्धावान थी। उसने अपने पति को प्रौढ़ अवस्था में भगवान के चरण में लाकर उसका भक्त बना दिया। उसी दिन से राजा श्रेणिक भगवान महावीर की आज्ञा को पूर्ण श्रद्धा से मानने लगे जिसके फलस्वरुप अगली चौवीशी में तीर्थंकर होने का नाम कर्म निकाचित करने के भाग्यशाली बने।

श्रेणीक की इस प्रकार की धर्म श्रद्धा उसके पुत्र कोणिक को पसन्द नही आई जिससे शंकाशील बने हुए कोणिक के हृदय में ऐसा दुर्ध्यान जागृत हुआ कि धर्मान्ध बने हुए मेरे पिता कहीं इतने विशाल राज्य को गणतंत्र के हवाले न कर दे इसलिए षड़यंत्र के द्वारा कोणिक ने अपने पिता श्रेणिक को जेल में बन्द कर, मगध के राज्य को अपने आधीन कर लिया। भगवान महावीर के अनन्य उपासक राजा श्रेणिक जेल में ही मृत्यु पाये। मगध देश का बना हुआ राजा कोणिक शक्ति संपन्न था तो भी पितृ हत्या के अभिशाप को दूर करने के लिए वह भगवान के पास जाता और शोभायात्रा आदि से उनका बहुमान करता परन्तु अन्तः करण शून्य था। भगवान के बाह्य रुप पर आसक्त था परन्तु उनके वचन के प्रति श्रद्धालु नही बन सका। यह अवसर्पिणी का सबसे बड़ा अभिशाप है।

कोणिक की राज्यसत्ता भगवान महावीर के शासन को सहायभूत बनी होती और भगवान का शासन उसके हृदय में यदि स्थानित होता तो सोने में सुगंध जैसा आनंद आ गया होता तथा शासन सोलह कला से खिल उठता परंतु ये सभी बाते कलयुग को मंजुर न थी। इससे स्वयं की पटरानी पद्मावती के कहने से उसके छोटेभाई हल्ल और विहल्ल के पास से उनके भायख में आये हुए गजराज और हार की मांग की और अन्त में कोणिक से भय खाकर दोनो भाई ने गणतंत्र का आश्रय लिया और शरण आये हुए

दोनो भाई को चेटक राजा ने आश्रय दिया। इस बातपर क्रोधित होकर कोणिक ने वैशाली गणतंत्र पर आक्रमण किया इधर गणतंत्र के नायक अधिनायक भी तैयार थे।

दोनों सेनाओं का भयंकर युद्ध हुआ। थोड़े दिन में एक करोड़ तथा ८० लाख मनुष्यों का संहार हो गया। चेटक राजा की हार हुई। जहां महावीर ने बारह बारह चातुर्मास किये थे उस वैशाली को सर्वथा नष्ट कर दिया गया। गणतंत्र के कट्टर बैरी कोणिक ने हल के साथ गधों को जोतकर वैशाली के पाये मे से इंटे निकालकर ही दम लिया।

ये सभी रोमांचकारी घटनाएँ महावीर स्वामी की विद्यमानता मे ही हुई है।

प्रभु महावीर के जमाने की गणतंत्र संस्था छिन भिन्न हो गई। सबसे आश्चर्य जनक घटना तो यह हैं कि जैन शासन के पूर्ण वफादार, पूर्ण रागी, तत्काल जन्मे हुए वर्द्धमान कुमार का मेरुपर्वत पर ले जाकर अभिषेक करनेवाले, उनके सामने चवँर लेकर नाचनेवाले इन्द्र, और भगवान की शरण स्वीकार के मौत के मुहँ से मुक्त होनेवाले चमरेन्द्र इन दोनों इन्द्रोने कोणीक की मदद की है। पूर्वभव की मित्रता के कारण इन दोनो इन्द्रों को कलयुग के प्रभाव से इतना भी ध्यान नहीं रहा कि कोणिक का साथ देने से कितना भयंकर परिणाम आयेगा।

जो इन्द्र जैन शासन की रक्षा के लिए एक पांव पर खड़े थे व शासन की वफादारी को भूलकर युद्ध भूमी में लड़ने के लिए तैयार हो गये। यह कैसी विधि की विचित्रता है?

कोणिक बाह्य दृष्टि से भले ही जीता हो परन्तु अन्त में तो अपने पाप को भुगतने के लिए नर्क का अतिथि ही बना पाया।

इस प्रकार भगवान महावीर का शासन राज्यसत्ता बिना का ही रहने पाया दूसरी तरफ भगवान का शिष्य गोशाला भी जैन शासन का कट्टर

दुश्मन बना है। यह है हूंडा अवसर्पिणी की कारभी कथा। अब हम मूल बात पर आते है।

कोणिक ने इन्द्र महाराज की सहायता से दो भयंकर युद्ध किये पहला महाशिला कंटक और दूसरा रथमूसल जिसका वर्णन मूल सूत्र में स्पष्ट है।

पहले महाकंटक युद्ध में ८४ लाख मनुष्य और दूसरें रथमूसल युद्ध में ९६ लाख मनुष्य मरे है हाथी घोड़ा ऊंट आदि का तो पार ही नही है।

इस प्रकार मरे हुए १८००००००० एक करोड़ ८० लाख मनुष्य में से सिर्फ दो को छोड़कर सभी नर्क के अतिथि बने है या मछली के अवतार में गये है।

गौतम स्वामी के पूछने से भगवान ने कहा कि–मरे हुए सभी चरित्र हीन प्रत्याख्यान और पौषध बिना के, हिंसक वृतिवाले, मर्यादाहीन और कषायवंत थे। अतः ऐसे जीव देवलोक में नहीं जाते है इससे रण संग्राम में मरे हुए सभी देवलोक में जाते है इसका खण्डन होता है।

मरे हुए में से दो भाग्यशाली देवलोक में गये है उनका नाम बताते हुए भगवान ने कहा कि–एक तो वैशाली नगरी का नागपौत्र वरुण का सारथी जो धन धान्य से समृद्ध था, शासन का अनुरागी था, छट्ठ के पारणे हमेशा छट्ठ करता था, मुनियो के प्रति भक्तिवान, पौषधोपवास और प्रत्याख्यान धर्म के प्रति श्रद्धावान था। राजा चेटक के पक्ष का सैनिक होने से जिस दिन रण संग्राम मे जाना था उस दिन छट्ठ की तपस्या का परणा किये बिना ही अट्ठम के तप का पच्चक्खाण करके रण मैदान में गया और हारा। स्वयं के रथ को एकांत में ले जाकर रथ मे से घोड़ो को छोड़ दिये और स्वयं अरिहंत की साक्षी से करे हुए पापो को वोसरा कर जैन शासन की शरण स्वीकार करके मरा और देवलोक में गया। सौधर्म देवलोक में अरुणाभ नामक विमान में चार पल्योपम की स्थिति वाला देव

हुआ। वहां से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और चरित्र लेकर मोक्ष को प्राप्त करेगा। दूसरा इसी वरुण का एक मित्र जो जैन शासन के प्रति अत्यन्त रागी होने से वह भी आराधक बना और महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा।

॥ नवमां उद्देशक समाप्त ॥

शतक सातवां उद्देशक–१०

प्रश्न १ से १०—चौथे आरे के लगभग अंतिम समय में केवलज्ञानी भगवान महावीर स्वामी जब समवशरण में बिराजमान थे उस समय राजगृही नगरी में गुणशील नाम का चैत्य था। उस चैत्य से ज्यादा दूर भी नहीं और ज्यादा पास भी नही ऐसे स्थान में अन्य मतवाले—कालोदायी, शैवालोदायी, उदय, नामोदय नर्मोदय अन्यपालक, शैलपालक शंख पालक, सुहस्ति और गाथापति आदि रहते थे एक दिन सभी साथ में बैठकर आपस में यह वार्तालाप कर रहे थे कि– हे भाईयों! अभी ज्ञातपुत्र भगवान महावीर स्वामी समवशरण में विराजमान होकर बड़ी पर्षदा के बीच पदार्थों की प्ररुपणा करते हुए कहते है कि संपूर्ण ब्रह्मांड में अस्तिकाय

वाले द्रव्य पाँच है–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, और पुद्गलास्तिकाय।

अस्तिअर्थात् प्रदेश और काय अर्थात् समूह। प्रदेशो का समूह जिसमें हो वह अस्तिकाय पदार्थ कहलाता है और वह उपरोक्तरुप से है। उनमे से जीवास्तिकाय को छोड़कर बाकि चार अजीव है। अजीव होने पर भी उनमे प्रदेशो का समूह होने से वह चारो अस्तिकाय कहलाते है।

जीवास्तिकाय अरुपी है। ज्ञानादि रुप उपयोग का नाम जीव है इसलिए ज्ञानादि रुप उपयोग की जहां प्रधानता हो वह जीवास्तिकाय है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्किाय तथा जीवास्ति-काय अरुपी है जबकि एक मात्र पुद्गलास्तिकाय रुपी है

इस तरह महावीर स्वामी जो प्रतिपादन कर रहे हैं उसको हम सत्य कैसे माने ? सभी छद्मस्थ होने के कारण केवलीगम्य पदार्थो का निर्णय करने योग्य नहीं थे। इस तरह शंकाशील बनकर वे चर्चा कर रहे थे।

उस समय ज्ञानचक्षु से सभी द्रव्य तथा उनके अनंत पर्याय को प्रत्यक्ष करते तथा शंकाशील होते हुए भी भवितव्यता जिनकी पक गई है जैसे उन भव्यात्माओ को सम्यगज्ञान देने भगवान भी वहां विहार करते हुए गुणशील चैत्य के उद्यान में पधारे और समवशरण में बिराज मान हुए। वे अन्यमतवाले भी वहीं पास में ही रहते थे।

उस समय भगवान के ज्येष्ठ अंतेवासी इन्द्रभूति गणधर अरस निरस आहार की प्राप्ति के लिए राजगृही नगरी में इर्यासमिति पूर्वक निकले और अन्य मत वालो के सामने से गुजरे। गौतम स्वामी को देखकर कालोदायी ने सभी से कहा की भाइयों ! देखो भगवान महावीर स्वामी के ज्येष्ठ गणधर गौतम स्वामी जा रहे है वे बहुत ही ज्ञानी है चलो हम उनसे मिलकर महावीर के वचनों का तात्पर्थ जाने।

सभी तैयार होकर गौतम स्वामी के पास आये और कहा कि हे महाभाग ! तुम्हारे गुरु महावीर स्वामी अस्तिकाय की जो प्ररुपणा कर रहे हैं उसमें हमे शंका है अतः तुम कहो कि यह कैसे संगत होगी ?

जवाब में गौतम ने कहा कि जो पदार्थ अस्तिभाव में है उसे हम उसी रीत से प्रतिपादन कर रहे हैं और नास्तिभाव में रहनेवाले पदार्थ को नास्तिभाव में प्ररुपणा करते हैं ।

पुद्गल में रुप, रस, गंध और स्पर्श प्रत्यक्ष होने से वह रुपी है । अणु (परमाणु) यद्यपि छद्मस्थ को चक्षुग्राह्य नहीं है तो भी उसमें ये चारो गुण होने से केवली प्रत्यक्ष है इसी कारण से एक अणु जब दूसरे अणु के साथ जुड़ता है तब द्व्यणुक त्र्यणुक कहलाता है । अनेक परमाणु मिलकर जब स्कंध रुप में होता है तब हम सब, उसको देख सकते है अतः पुद्गल रुपी है ।

जीवास्तिकाय में रुप, रस, गंध और स्पर्श न होने से अरुपी है । जन्म और मरण प्राप्त करता हुआ जीव किसी को भी देखने में नही आता है । हवा की गति भी जहां न हो वहां भी जीव जन्म सकता है । वहां से मरकर दूसरे स्थान में फिर से जन्म लेता है । जीव की गति को रोक सके ऐसा कोई देवदानव भी संसार में नहीं है ।

कठिनाई से टूट सके ऐसी सुपारी में भी जीव उत्पन्न होता है यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं । अरुपी होने के कारण पूरे शरीर को शस्त्रों से खोलने पर भी डाक्टर जीव को नहीं देख सकते है तो भी शरीर की हलन चलन की क्रिया स्पष्ट दिखती है । अतः कहलाता है कि जीव अरुपी होने से अदृश्य है। चर्म चक्षुसे वह दिखता नहीं है । संसारी होने से जब तक वह शरीर पर्याय धारण करता है तबतक रुपी कहलाता है । वस्तुतः जीव, द्रव्यत्व–की अपेक्षा से अरुपी है । यह कहकर गौतमस्वामी समवशरण में आये । वंदना की तथा गोचरी की आलोचना की तथा भोजन पानी का उपयोग किया अर्थात् भोजन किया ।

बाद में कालोदायी भगवान के पास में आया और मधुरवाणी से भगवान ने शंका दूर करते हुए कहा कि—जीवादितत्त्व जिस स्वरुप में है वही स्वरुप में कहता हूँ।

फिर से कालोदयी ने पूछा कि—अरुपी ऐसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में कोई भी जीव बैठने, सोने, खड़ा रहने और लेटने में समर्थ है ?

भगवान ने मनाई करते हुए कहा केवल पुद्गलास्तिकाय में कोई भी जीव सोने, बैठने या लेटने में समर्थ है।

सारांश यह कि धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय तथा जीवास्तिकाय के प्रदेश असंख्यात है और वे सभी परस्पर नित्य और अवस्थित है अर्थात् एक ही आकाश प्रदेश में सभी के प्रदेशों को साथ रहने पर भी परस्पर एक दूसरे का आपस में परिणमन नहीं होता है अतः उनमें जीव नहीं रहता है पर पुद्गलास्तिकाय में जीव रहता है तथा सोता है।

कर्माधीन बने जीव को पुद्गलों का सहचार अवश्यंभावी होने से जीव पुद्गल में रहता है यह कहने में कुछ भी बाधा नहीं आती है।

जीव और पुद्गल जब दूध और शक्कर की तरह एकाकार है तो जीव के किये हुए अशुभ पाप कर्म पुदगलों को भी लगते होंगे ?

जवाब में भगवान ने कहा कि—हे कालोदायी ! जीव के किये हुए पाप जीव को ही लगते है पर पुद्गल को नहीं लगते क्योंकि पुद्गल हर हालत में जड़ है जिससे चैतन्ययुक्त आत्मा स्वयं की दुर्बुद्धि के कारण पापकर्म करता है तथा फल को भुगतता है। इस तरह भगवान की वाणी सुनकर कालोदायी को बोध हुआ तथा स्कंदक की तरह दीक्षा लेकर ग्यारह अंगो का ज्ञाता बना।

किसी प्रसंग पर वह कालोदायी अणगार भगवान से पूछता है कि हे प्रभो ! जीव के किये हुए पाप, क्या पापफल रुप विपाकवाले होते है ? भगवान ने

'हां' कहा। तब वे कैसे होते हैं। जवाब में भगवान ने कहा कि हे साधक! जब सभी प्रकार की मिठाईयाँ बनाने में आयी है साथ सब्जी, दाल आदि भी सुन्दर बने हैं। अब उन सभी पकवानों में जहर मिलाने में आवे तो वे पदार्थ खाने में पहले तो मीठे लगेंगे परन्तु धीरे धीरे उसका फल अनिष्ठ, अकांत और अमनोज्ञरुप होगा। उसी प्रकार मोहवासी आत्मा की आरंभी-हिंसा झूठ, प्रपंच, चौर्यकर्म, परस्त्रीगमन, परिग्रह, माया मृषावाद कषाय और मिथ्यात्व आदि कर्मों का आचरण जिन्दगी तक उसमें आनंद मानकर करेगा पर जब उसके पापफल का उदय आयेगा तब वह जीव भी पाप के फल खराब रीत से भुगतता महादुःखी बनेगा।

कालोदायी ने फिर से पूछा कि—कल्याणकारीकर्म जीव को सुखदायक कैसे बनेगें।

भगवान ने कहा कि-स्वादिष्ट मिठाई के साथ कड़वी तूरी दवाई हो तो शुरु में भोजन करते समय मनुष्य स्वयं का मुहँ बिगाड़ेगा पर उस दवाई का परिणाम गुणकारी होने से उसके शरीर में शक्ति आयेगी, रोग नष्ट होगें और मन प्रसन्न बनेगा। उसी प्रकार प्राणातिपातादि पाप को त्याग करके एकासना, आयंबिल, उपवास, गुरुआज्ञा का पालन आदि सकरणीय कार्य करते समय पहले तो जीव को दुःख लगेगा पर परिणाम में जीव को सच्चा सुख और सद्गति की प्राप्ति होगी। तथा क्रम से ये कार्य जीव को मोक्ष की प्राप्ति करायेगे। ❖

प्रश्न—दो मनुष्य है। एक वन में आग लगाने का कार्य करता है जबकि दूसरा उसको बुझाने का काम करता है तो उन दोनों में से कौन कितना विराधक और आराधक होगा? जवाब में भगवान ने कहा कि—आग लगानेवाला षट्काय के जीवो का विराधक है जब कि बुझानेवाला दो काय का विराधक है और चार काय का रक्षक है। आग लगानेवाला भयंकर कर्म बांधेगा। ❖

प्रश्न—कालोदायी अणगार अब अन्तिम प्रश्न–पूछते हैं–हे प्रभु ? अचित्त पुद्गल भी प्रकाशित होते हैं ? दूसरे को प्रकाशित करते है ? वे गर्मी देते हैं ? अग्नि के समान स्वयं चमकते हैं ?

भगवान ने कहा कि–अत्यन्त क्रोधी साधु की तेजोलेश्या दूर जाकर गिरती है । उचित स्थान पर गिरती है और जहां जहां गिरती है वहां के पुद्गलों को प्रकाशित करती है इससे अचित्त पुद्गल भी प्रकाशवान् तापयुक्त और चमकते होते है ।

बाद में वह अणगार भगवान को नमस्कार कर अपने स्थान में जाकर छट्ठ–अट्ठम की तपस्या से आत्मा को भावित करता हुआ संपूर्ण दुःखो को नाश करनेवाला हुआ ।

॥ दशवां उद्देशक समाप्त ॥

जगतपूज्य, नवयुगप्रवर्तक, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य स्व. श्री विजय धर्मसूरीश्वरजी म० के शिष्य शासन दीपक स्व. मुनिराज श्री विद्या-विजयजी म० के शिष्यरत्न, न्याय, व्याकरण, काव्यतीर्थ पन्यास श्री पूर्णानन्दविजय (कुमार श्रमण) स्वयं को जैनागम का स्वाध्याय बना रहे श्रुत भक्ति हरभव में प्राप्त हो इसके लिए भगवतीसूत्र के दस उद्देशों से पूर्ण सातवां शतक गुर्जरभाषा में यथामति विवेचित किया है।

॥ शतक सातवां समाप्त ॥

शतक आठवां उद्देशक-१

भगवतीसूत्र (विवाहपण्णत्ति) में अब आठवे शतक का अधिकार फरमाते द्वादशांगी के रचियता पांचवे गणधर श्री सुधर्मास्वामी ने इस शतक में दस उद्देशक फरमाये है जो निम्न है—

(१) पुद्गलो के परिणाम का विस्तृत वर्णन।

(२) आशीविष—आशीविषो के मालिको का कथन।

(३) वनस्पति—संख्यात, असंख्यात और अनंत जीववाली वनस्पति के भेद।

(४) क्रिया—पांच प्रकार की क्रिया का वर्णन।

(५) आजीविक—गोशाले सम्बन्धी का मंतव्य।

(६) प्रासुक—शुद्ध आहार के दान का फल।

(७) अदत्त—अदत्त संबंधी का वर्णन।

(८) प्रत्यनीक—गुरु आदि के प्रद्वेषीयों का वर्णन।

(९) बंध—प्रयोग बंध।

(१०) आराधक—देश आराधक की वक्तव्यता

देवाधिदेव पतित-पावन घोर तपस्वी, परम दयालु सर्वज्ञ भगवान महावीरस्वामी गणधर भगवन्त, सामान्य केवली, जैन शासन के रक्षक, महान प्रभावशाली लब्धिवान मुनि, शील मूर्ति साध्वीजी महाराज आदि के

चरणरज से पवित्र बनी हुई राजगृही नगरी में ये उद्देशक प्रकाशित हुए है।

इस उद्देशों में अजीव जड़ पदार्थ भी कितनी अजब--गजब की शक्ति से सम्पन्न है उसका वर्णन है। ८० करोड़ किलोमीटर की यात्रा कर लाल रंग के मंगलग्रह पर पहुँचा हुआ अमेरिका का मानव रहित यान 'लेन्डर' आज उसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

कर्म सत्ता की सर्वोपरिता :

माया के वश उपार्जित शुभाशुभ कर्म को भुगतने के लिए जीव में कर्म पुद्गल कैसा भाग अदा करता है ये सभी बाते बहुत जानने लायक है। आज तक तो स्थूल बुद्धि से हम केवल इतना ही जानते थे कि इस सारे संसार का सर्जन और नाश परमात्मा के हाथ में है। जीव को जन्म से मरण तक का गोरखधन्धा भगवान ही बैठे-२ करते है। सुखदुःख संयोग वियोग आदि प्रपंच भी उसके ही हाथ में है।

परंतु किसी ने सूक्ष्म बुद्धि से विचार नहीं किया कि ईश्वर तो निरंजन निराकार है रागद्वेष से रहित हैं, शरीर--रहित है तो फिर इन सब झंझटो में क्यों पड़ेगा? शरीर बिना का ईश्वर इस जगत का निर्माण कैसे करे? राग द्वेष रहित ईश्वर एक को सुखी और दूसरे को दुःखी क्यों बनावे? परम कृपालु ईश्वर इतने दुःखपूर्ण संसार को क्यों रचे? क्या प्रयोजन? या तो फिर "गतानुगतिको लोक" यूँ समझे बिना ही मन गढ़ंत कल्पना करने मात्र से सही सिद्धांत प्राप्त नहीं होते हैं।

यह प्रत्यक्ष दिखता हुआ संसार ईश्वर की दखलगीरी के बिना ही स्वयं अनादिकाल से चला आ रहा है। किसी भी स्थान में ईश्वर की हाजरी नहीं है। प्रकृति के नियमानुसार संसार की गति, बिना किसी अवरोध के चालु रहती है और रहेगी। सुख दुःख और संयोग वियोग से भरे हुए

इस संसार का संचालन ईश्वर के आधीन नहीं है परन्तु अपने-२ कर्मों के आधीन है। भला करोगे तो भला होगा, बुरा करोगे तो बुरा होगा। इसी नियमानुसार कर्म सत्ता ही संसार के संचालन में मुख्य कारण है इसमें ईश्वर को बीच में फंसाना जरा भी उचित नहीं हैं।

जीवमात्र का जन्म मरण एक दूसरे से अलग है। जैसे कि माता की कुक्षी में आना, शरीर की रचना उसमें इन्द्रियों की प्राप्ति, विषयों को ग्रहण करने की शक्ति, आहार को ग्रहण करने की तथा पचाने की शक्ति, बुद्धि का विकास आदि जन्म से मरण तक जीवात्मा के किये हुए कर्म ही मुख्य कारण है। कर्म सत्ता ईश्वर के आधीन नहीं है पर जीव ही कर्म करने में और उसका फल भुगतने में स्वतंत्र है। लोहचुंबक स्वयं की शक्ति द्वारा जहां तहां बिखरे हुए लोहे के टुकड़े को अपनी तरफ आकर्षित कर लेते है वैसे ही कर्म की सत्ता में फंसा हुआ जीव स्वयं के पुण्य और पाप को भुगतने के लिए अपने आपही शरीर आदि धारण करने में समर्थ है।

इन प्रश्नोत्तर में पुद्गलो का परिणमन कितने प्रकार से होता है। इस बात को बहुत विस्तार से स्पष्ट रुप से समझाया है। उसको समझने के बाद ही हमको ध्यान आयेगा कि जीव जैसे अनंत शक्तिका मालिक है वैसे ही कर्म सत्ता के पास भी अनंत शक्ति है जिससे पूर्ण ब्रह्मांड पर स्वयं की सत्ताका अधिकार जमाकर किसी को तोड़ती है किसी को फोड़ती है, किसी को रुलाती है, किसी को हंसाती है। एक को गरीब और दूसरे को अमीर, एक के घर लीला लहर और दूसरे को भूखे पेट सुलाती है। ऐसी विचित्रता से भरे हुए संसार में बिचारे ईश्वर को फंसाकर अपजश का भागी बनाना अपनी बुद्धि तथा तर्कों का क्रूर मजाक ही है।

शरीर रचना में पुद्गल की शक्ति :

अब हम कुछ विस्तारसे इन पुद्गलों के परिणमन को देख ले।

पुद्‌गल का परिणमन (फेरफार) तीन प्रकार से होता है (१) प्रयोग परिणता (२) मिश्र परिणता (३) विस्रसा परिणता।

(१) जीव के प्रयोग विशेष द्वारा शरीर आदिरुप परिणत पुद्‌गल प्रयोग परिणत कहलाता है।

(२) जीव प्रयोग से और विस्रसा (स्वभाव) से परिणत हुए पुद्‌गलों को मिश्रपरिणत कहते हैं। प्रयोग परिणाम को त्याग किये बिना विस्रसा से दूसरे परिणाम को पाये हुए मृत कलेवर आदि मिश्र कहलाता है।

(३) स्वभाव से पुद्‌गलों के परिणमन को विस्रसा परिणाम कहते है। जैसे मेघ, धूप, छांव, इन्द्रधनुष आदि परिणाम प्रयोग परिणत पुद्‌गल पांच प्रकार के है :–

एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत, बेइन्द्रिय प्रयोग परिणत, तेइन्द्रिय प्रयोग परिणत, चउइन्द्रिय प्रयोग परिणत, और पंचेन्द्रिय प्रयोग परिणत।

एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत पुद्‌गल पांच प्रकार के है पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय प्रयोग परिणत।

पृथ्वीकाय के भी सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत ऐसे ही अप, अग्नि, वायु और वनस्पति काय के जानना।

बेइन्द्रिय प्रयोग परिणत पुद्‌गल बहुत तरह के है। जैसे शंख बेइन्द्रिय प्रयोग परिणत। इस तरह बेइन्द्रिय में जितने प्रकार के जीव है वे सभी इसी प्रकार में जानना।

तेइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय प्रयोगपरिणत पुद्‌गल भी कीड़ी आदि बहुत प्रकार के है जैसे तेइंद्रिय प्रयोग परिणत और भ्रमर आदि चउरिन्द्रिय प्रयोग परिणत। इसमें और चउरिंद्रिय प्रयोग परिणत में सर्वत्र जीव जानना।

पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत पुद्गल चार प्रकार के है नैरयिक, तिर्यन्च, मनुष्य और देवपचेंद्रिय प्रयोग परिणत।

रत्नप्रभा आदि सात नर्क पृथ्वी को लेकर नर्क पन्चेंद्रिय प्रयोग परिणत सात प्रकार के है।

तिर्यन्च पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत पुद्गल तीन प्रकार के है। जलचर, स्थलचर और खेचर पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत। जलचर तिर्यन्च पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत दो प्रकार के हैं–समूर्च्छिम जलचर तिर्यन्च पंचेंद्रिय प्रयोग परिगणत और गर्भज जलचर पंचेंद्रिय तिर्यच प्रयोग परिणत। स्थलचर तिर्यंच योनिक पंचेंद्रिय परिणत दो प्रकार के है। चतुष्पद स्थलचर पंचेंद्रिय और परिसर्प स्थल चर पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत।

समूर्च्छिम और गर्भज रुप भूजपरिसर्प और खेचर दो प्रकार के है–मनुष्य पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत पुद्गल भी समूर्च्छिम और गर्भज दो प्रकार से हैं। भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिकदेव पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत पुद्गल चार प्रकार के है—

भुवनपति के दस भेद रुप–भवनपति आदि पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत पुद्गल दस प्रकार के है।

इस तरह आठ व्यंतर, पांच ज्योतिष, नव ग्रैवयक और पांच अनुत्तरोपपातिक देव के भेद भी जानने। (१ दंडक)

विवेचन—८४ लाख जीवयोनि के जीवों में सबसे नीचे स्थान में सूक्ष्म एकेंद्रिय जीव है और सबसे उँचे स्थान में बिराजमान सर्वार्थसिद्ध देव है। वे सभी कर्म के भार से दबे होने से अपने–अपने किये कर्म को भुगतने के लिए शरीर धारण करते हैं। नर्क गति और एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक की तिर्यंच गति दुर्गति कहलाती है। जहां पाप की राशी अधिक होती है और पुण्य की कम। मनुष्य और देवगगित में पुण्य राशी

अधिक और पाप की कम होती है। सभी ८४ लाख योनि के जीव अपनी योग्यतानुकुल शरीर धारण करते हैं।

शरीर धारण करने के लिए औदारिक या वैक्रिय पुद्‌गलो कों वर्गणाओं को ग्रहण करने के लिए प्रयोग विशेष करते है इससे उन स्थानों को प्राप्त करने की योग्यतावाले जीव स्वयं के अनुरुप ही शरीर बनाते हैं।

एकेंद्रिय अवतार प्राप्त करने की योग्यतावाला जीव एकेंद्रिय शरीर के योग्य ही पुद्‌गल लेता है। पृथ्वीकाय के जीव का शरीर पृथ्वी हैं, अपकाय के जीवों का शरीर पानी हैं, अग्निकाय के जीव का शरीर अग्नि है, वायुकाय के जीव का शरीर वायु है और वनस्पतिकाय के जीव का शरीर वनस्पति है। बेइंद्रिय अवस्था को प्राप्त करनेवाला जीव उसके योग्य पुद्‌गल लेता है। जैसे छोटे बड़े शंख के जीव का शरीर छोटे बड़े शंख होते हैं। अर्थात् शंख जीव का शरीर है। कोड़ी के जीव का शरीर कोड़ी होता है वैसे ही बेइंद्रिय जीव के शरीर समझना।

तेइंद्रिय जीव स्वयं के योग्य शरीर बनाता है। जैसे कीड़ी के शरीर में कीड़ी का जीव, कानखजुरा, खटमल, जूँ आदि के शरीर में वैसे वैसे जीव होते हैं। मनुष्य अवतारवाला अपने–अपने शुभाशुभ कर्म जैसे होते है वैसे प्रमाण में शरीर धारण करता है। सभी के शरीर अलग अलग होते है। इसी तरह देवगति के देवजीव और नर्क गति के नर्क जीव भी स्वयं के पुण्य–पाप भुगतने के लिए अच्छे या खराब शरीर धारण करते है। विशेष जानना यह हैं कि पुद्‌गल तो अनंतानंत है परन्तु वे सभी पुद्‌गल कर्मो की वर्गणां नहीं बन सकते है। अतः जैन शासन में औदारिक वैक्रिय–आहारक–तैजस–कार्मण, भाषा श्वांसोश्वास और मनवर्गणा यह आठ प्रकार की कर्म वर्गणा होती है।

राग और द्वेष से भरी हुआ आत्मा जिस समय जैसा विचार करती है तब उपर की आठ वर्गणाओं में से कोई न कोई कर्म रज आत्मा के साथ

संमिलित होकर दूध तथा पाणी की तरह एकाकार बन जाती है। राग द्वेष का स्वामी जीव जैसे हर समय कर्मो को आभोग (इच्छा) से ग्रहण करते है वैसे ही अनाभोग से भी कर्म की वर्गणाओं को जीव संग्रहता है। तभी तो माता की कुक्षि में रहे हुए और बाहर आये हुए जीव के शरीर का आकार छोटा होता है और धीरे-२ ४०-५० वर्ष की उम्र में तो रुप, रंग, आकार, स्वभाव, ज्ञान, अज्ञान आदि में आकाश पाताल जितना फर्क पड़ता है। पूर्ण पर्याप्त जीव हर समय औदारिक, वैक्रीय, आहारक, तैजस, कार्मण, भाषा, श्वांसोच्छवास और मनोवर्गणा को ग्रहण करता ही रहता है।

मनुष्य अवतार में आये हुए जीव को दूसरे जीव के साथ शुभाशुभकर्म भुगतने होते है वे भुगतने के बाद केवल तैजस और कार्मण वर्गणा को छोड़कर बाकी की सभी वर्गणा आत्मा से अलग हो जाती है और दूसरे भव में गया हुआ जीव वहां फिर से उस भव के योग्य नई वर्गणाओं को ग्रहण करता है। इस तरह संसार का चक्र कर्म सत्ता के नियंत्रण में चलाता ही रहता है। (दंडक-१)

सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत पुद्गल पर्याप्त और अपर्याप्त के कारण दो दो प्रकार के होंगे जैसे पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत पुद्गल तथा पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत।

प्रत्येक के सूक्ष्म और बादर तथा उसमें भी पर्याप्त और अपर्याप्त भेद जानना। इसी प्रकार बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, रत्नप्रभादि सातों नर्क तथा सूक्ष्म गर्भज, जलचर, स्थलचर, खेचर, तिर्यंच, पंचेन्द्रिय प्रयोग परिणत। गर्भज मनुष्य पंचेन्द्रिय प्रयोग परिणत तथा चारों निकायं के सभी देवता।

इस तरह सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर अनुत्तर विमान तक के जीव पर्याप्त तथा अपर्याप्त जानना। केवल समूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीव अपर्याप्त होने से एक भेद जानना। (२-दंडक)

इस दंडक में पर्याप्त तथा अपर्याप्त का विचार किया जो दोनों नाम-कर्म की प्रकृति रुप में है और नाम कर्म जड़ है।

जो जीव पर्याप्ति पूर्ण करता है वह पर्याप्त है तथा पर्याप्ति पूर्ण किये बिना ही मर जाय तो वह अपर्याप्त है।

पर्याप्ति छः प्रकार की है—(१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति (३) इंद्रिय पर्याप्ति यह तीन पर्याप्ति तो सभी जीव पूरी करते हैं। (४) श्वांसोच्छवास पर्याप्ति (५) भाषा पर्याप्ति और (६) मन पर्याप्ति।

चार गति में परिभ्रमण करते जीव को शरीरधारी रुप में जीने की जीवन शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं। पुद्गल परमाणु की मदद लिये बिना जीव को जीने की शक्ति होते हुए भी वह शक्ति प्रगट नहीं होती है अर्थात् पुद्गल की मदद न हो तो शरीर में आत्मा की शक्ति प्रगट नहीं होती है।

पुद्गल परमाणु के समूह के निमित्त से आत्मा में प्रगट हुई और शरीरधारी रुप में जीने के लिए उपयोगी पुद्गल को परिणामित करने का कार्य करनेवाली आत्मा की शक्ति उनका नाम पर्याप्ति है।

आहार के बिना शरीर की रचना नहीं होती है अतः शरीर की अग त्यता है। शरीरका धारण होने पर भी इंद्रियों के बिना जी सकते नहीं है अतः इंद्रियों की रचना भी करनी पड़ती है। श्वांसोच्छवास बिना कैसे जीये ? अःत श्वास की भी आवश्यकता है। अधिक पुण्यवान जीव को बोलने और विचारने की भी जरुरत पड़ती है। इस प्रकार संसार के सभी जीवोंकी अपेक्षासे पर्याप्ति छः ही है तथा इसके अवांतर भेद हैं।

(लब्धि अपर्याप्त—जो जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न करे और मर जाय तो लब्धि अपर्याप्त कहलाता है इसमें अपर्याप्त नाम कर्म कारण रुप है।

(२) लब्धि पर्याप्त—जो जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूरी करे वह लब्धि पर्याप्त कहलाता है। इसमें पर्याप्त नामकर्म मुख्य है।

(३) करण अपर्याप्त—उत्पत्ति स्थान में समकाल में उसी के स्वयोग्य सर्व पर्याप्ति की रचना का प्रारंभ हुआ है। अब जहां तक वह कार्य समाप्त न हो अर्थात् सभी पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक करण अपर्याप्त कहलाता है। इसमें लब्धि पर्याप्त और लब्धि अपर्याप्त ये दोनों जीव करण अपर्याप्त होते है।

(४) करण पर्याप्त—स्वयोग्य सभी पर्याप्ति पूरी हो तब वह जीव करण पर्याप्त कहलाता है।

इस दूसरे दंडक में सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर अनुत्तरविमान तक के देव भी पर्याप्त और अपर्याप्त होते है। चाहे जैसे पुण्यशाली जीव का आयुष्य कर्म के सामने कुछ नहीं चलता है। लक्षाधिपति के घर जन्म लेने का पुण्य है और साथ साथ पाप कर्म के कारण आयुष्य कर्म अल्प है इसीसे आंख की पलक झपकने समय में जैसे माता की कुक्षि में आया तथा दूसरे ही क्षण यमराज का अतिथि बना (दंडक–२)

पर्याप्त और अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर पृथ्वीकाय से लेकर चउरिंद्रिय प्रयोग परिगत जो पुद्गल है वे सभी औदारिक, तैजस तथा कार्मण प्रयोग परिणत पुद्गलवाले हैं। केवल पर्याप्त बादर वायुकाय को वैक्रिय पुद्गल अधिक है।

पर्याप्त या अपर्याप्त सातों नर्क के जीव को प्रयोग परिणत पुद्गल वैक्रिय तैजस और कार्मण होते है। पर्याप्त या अपर्याप्त संमूर्च्छिम जलचर प्रयोग परिणत औदारिक, तैजस और कार्मण पुद्गलवाले होते है। गर्भज पर्याप्त और अपर्याप्त चतुष्पद, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प और खेचर को औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीर होता है। संमूर्च्छिम

पंचेंद्रिय को औदारिक, तैजस और कार्मण तथा नारक की तरह देव को भी वैक्रिय तैजस और कार्मण शरीर होता है।

इस तीसरे दंडक में जीव के प्रयोग से परिणत हुए पांच जाति के शरीर होते हैं। इसका वर्णन पहले भाग में आ चुका है। किये हुए कर्म को भुगतने के लिए ही शरीर मुख्य साधन है। जहां जन्म लेना है वहां एक से चार समय तक में जीव को आना ही होता है। जिस समय आवे उसी समय पहले भव का उपार्जित आहार पर्याप्ति नाम कर्म उदय में आता है और माता की कुक्षि में रहकर शुक्र तथा रज परमाणुओं का आहार ग्रहण करता है। फिर उसे तैजस शरीर से पचाकर शरीर पर्याप्ति नामकर्म के उदय से स्वयं का नया शरीर बनाने की तैयारी करता है। इस तरह ६ पर्याप्ति समाप्तकर जीव गर्भ में रहनेपर भी प्रतिक्षण औदारिक आदि नये पुद्गल को ग्रहण करते हुए बढ़ता है और समय पूर्ण होने पर जन्म लेता है।

तैजस और कर्मण शरीर सूक्ष्म है और अनादिकाल से जीव के सहचारी है। वैक्रिय, औदारिक और आहारक शरीर स्थूल है जो भव पर्यंत ही होता है। भव समाप्त होते ही वह भी अलग हो जाता है। इन शरीर को धारण करना या छोड़ना स्वयं ही करता है।

व्यापार कर्म में कुशल मनुष्य जीस बाजार में व्यापार शुरु करता है और जब तक व्यापार में रस आता है तब तक बाजार की टूटी फुटी–जीर्ण –शीर्ण दुकान में गरमी ठंडी सहन करता है तथा समय व्यतीत करता है। जैसे ही उसे व्यापार में लाभ दिखने लगता है वैसे ही पुराने व्यापार को छोड़कर नया धंधा करता है। इसी प्रकार शरीर का हानी लाभ समझना चाहिये ?

स्व शरीर की माया :

जैसे बाजार के धंधे बदलते है उसी प्रकार वर्तमान शरीर की

माया की भुगतते जीवको जब दूसरे भव की माया का आकर्षण बढ़ता है तब २५—५० वर्ष की माया को छोड़कर दूसरे भवकी माया में लिपटाता है। पहले भव की माया को सर्वथा भूलकर नयी माया में लीन होता है। ऐसे ही शरीर की माया में यह जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करता है अपने-२ कर्म के अनुसार प्राप्त शरीर के प्रति जीव को बहुत ही माया होती है।

देव को उनके सुन्दर शरीर के प्रति जितनी माया होती है उतनी ही माया काले रंग केशरीरवाले मनुष्य को स्वयं के काले शरीर के उपर होती है इस प्रकार कीड़ी को, गाय तथा हाथी को उनका शरीर जितना प्रिय होता है उतना ही विष्टा के कीड़े को उसका शरीर प्रिय होता है। वनस्पति और पानी के जीव को भी उसका शरीर उतना ही प्रिय होता है।

हिंसा

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य महाराज फरमाते है कि "प्राणीनां प्राणवियोजनं हिंसा" जीव के प्राण का हरण करना, मारना, दबाना, कष्ट देना उनकी वृति और प्रवृति में अवरोध करना यह सब हिंसा है।

मनुष्य को जैसा स्वयं की अंगूली पर मोह होता है वैसे ही वनस्पति को भी उसकी छोटी-२ शाखाओ पर, पत्तों पर पुष्प तथा फल पर मोह होता है। गर्भवती स्त्री को जैसे उसके गर्भ या नवजात शिशु पर प्रेम या मोह होता है वैसे ही मोगरा या गुलाब आदिका स्वयं की कच्ची कली पर अगाध स्नेह होता है यह आप को मालुम है कि वनस्पति मात्र को कच्ची कली गर्भ जैसी और पुष्प पुत्र रुप होता है ? इसी से महर्षियों ने कहा है कि "आत्मावत् सर्वे भूतेषु यः पश्यतिसः पण्डितः।" स्वयं की आत्मा की तरह सभी प्राणियों को जो देखता है, समझता है वही पंडित है स्वयं को जैसे दुःख ताड़न तर्जन अपमान पसन्द नहीं है वैसे ही विवेकवान आत्मा को सभी प्राणि के प्रति दया रखनी चाहिए चलते, फिरते, रसोई

करते, कपड़ा धोते या दूसरे कार्य करते कोई भी जीव मरे नहीं इसका पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि जीव हिंसा महापाप है (दंडक–३) तथा जीवदया महान धर्म है।

स्पर्शेन्द्रिय :

सूक्ष्म बादर, पर्याप्त–अपर्याप्तपृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय के जीव को प्रयोग परिणत स्पर्शइन्द्रिय नाम की एक ही इंद्रिय होती है। बेइन्द्रिय जीव को स्पर्शेन्द्रिय और रसनइंद्रिय, तेइंद्रिय जीव को घ्राणेन्द्रिय अधिक, चउरिन्द्रिय को चक्षुरिन्द्रिय अधिक और पंचेन्द्रिय को स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रोत ये पांचो इंद्रिय होती है। नारक, देव, गर्भज तिर्यंच और मनुष्य पंचेन्द्रिय होते है।

इन्द्रियों की प्राप्ति :

इस चौथे दंडक में इंद्रियों की अपेक्षा से विचार किया है। मकान की खिड़की से जैसे मकान मालिक पदार्थ का ज्ञान करता है वैसे ही शरीर रुपी मकान में पांचो इंद्रिय रुप खिड़कियों से यह आत्मा प्रत्येक पदार्थ का, स्पर्श, आस्वादन, सूंघना, देखना तथा सुनने का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ बनता है। इंद्रिय रहित जीव जी सकता नहीं है।

प्रत्येक इंद्रिय अपना-२ काम करती है। हाथ में रखे हुए लड्डू को हाथ खा नहीं सकता है। पांव के लगा हुआ इत्र पांव सूंघ नहीं सकता है क्योंकि खाने का या सूंघने का काम जीभ तथा नाक का है। तुम लड्डु को मुंह में रखोगे जीभ शीघ्र ही लड्डू को खा जायगी तथा तृप्ति आत्मा को होगी।

एकेन्द्रिय जाति के नाम कर्म को लेकर एकेन्द्रिय अवतार को प्राप्त हुए जीव निकृष्टतम पाप के उदय से उन को एक ही स्पर्शेन्द्रिय होती है।

दूसरी इंद्रियों के अभाव में मनुष्य की तरह खाना, सूंघना, देखना, सुनना आदि नहीं कर सकता है।

एकेंद्रिय का कारण :

ऐसा एकेन्द्रियत्व कैसे प्राप्त होता है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि–जीवमात्र को जब एक पुद्गल परावर्तकाल बाकि रहता है तब मोक्ष प्राप्ति की इच्छा होती है इसलिए सम्यग्धर्म की आराधना करता है जिस काल को चरम पुद्गल परावर्तकाल या चरमावर्तकाल कहते हैं। इसकी गिनती निम्न है:—

असंख्य वर्ष	१ पल्योपम
१० कोड़ाकोड़ी पल्योपम	१ सागरोपम
२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१ कालचक्र
अनंतकालचक्र	१ पुद्गल परावर्तकाल

ऐसे अनंत पुद्गल परावर्तकाल से भ्रमण करते हुए आत्मा को जब एक पुद्गल परावर्तकाल शेष रहता है तब उसको मार्गानुसारिता, सम्यग्दर्शन, श्रावकधर्म और साधुधर्म की आराधना की आत्मदृष्टि प्राप्त होती है। त्रसकाय प्राप्त होते हुए भी यदि जैन धर्म के आराधना की प्राप्ति न हो तो वह जीव मोहवश हिंसा, झूठ आदि कार्यों में और किसी समय देवगति के सुख की लालसा से भी दयादान करता हो तो वह अधिक से अधिक २००० सागरोपम तक त्रस योनी में रहेगा। कभी देवलोक में, कभी नर्क में तथा कभी राजा महाराजा के भव में भटक कर २००० सागरोपम की मर्यादापूर्ण होनेपर उसे स्थावर योनी में जाना पड़ता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में देवगति के सुख भुगतते हुए भी वहां विषय–वासना में ही स्वर्ग की आयुष्य पूरे करनेवाले

देव को भी स्थावर योनी प्राप्त किये बिना कोई चारा नहीं है। इस तरह अपक्रांति से मिले स्थावर योनी में अनंतकाल चक्र पूरे होनेपर भी त्रस अवतार पाना अत्यन्त दुर्लभ है।

स्थावर योनी में अनंतकाल रहता हुआ जीव शायद फिर अकाम निर्जरा से यदि त्रस अवतार प्राप्त कर ले परन्तु यदि मुक्ति की प्राप्ति न हुई तो फिर से २००० सागरोपम तक रखड़कर स्थावर में जाता है। इसी से जिनेश्वर भगवान ने संसार को महाभयंकर कहा है।

जब पुण्यकर्म अधिक होते है तब जीव को पंचेद्रिंय पूर्ण मनुष्य भव मिलता है। यहाँ सुख की मात्रा अधिक होती है। बेइंद्रिय, चतुरिंद्रिय और पंचेद्रिंय तिर्यंचों को ऐसा सुख नहीं होता है। अतः अपने–अपने पुण्य के आधीन जातिनाम कर्म को लेकर जीव एकेंद्रिय, बेइंद्रिय तेइंद्रिय चऊद्रिंय और पंचेद्रिंय के नाम से पहचाने जाते है। (दंडक ४-५)

इस तरह दूसरे दंडक की तरह ही मिस्त्र परिणत पुद्गल परिणाम और विसस्रा परिणत पुदगल में वर्ण–गंध–रस–स्पर्श और संस्थान आदि के भेद भूलसूत्र से जान लेना।

अनादिकाल से पुद्गल के साथ रहते हुए आत्मा की दशा खेल के मैदान में रहे फुटबाल के जैसी है। खिलाड़ी जितने जोर से ठोकर मारेगा उतने ही वेग से वह गति करेगा। वैसे ही कर्म राजा के चक्र पर चढ़े हुए इस जीव को भी मोहराजा जैसी लात मारेगा वैसी गति में उसको जाना होगा।

जब पाप कर्म की प्रबलता होती है तब नीच–जाति, बेरूप शरीर, असातावेदनीय और मोहकर्म की तीव्रता से यह जीत हेरान–परेशान और दुःखी बन जाता है जब पुण्य कर्म प्रबल होता है तब ऊँची जाती, सुंदर शरीर, अच्छा खानदान आदि अच्छी सामग्री मिलती है। इतना होने

पर भी पुण्य कर्म के आनंद में मस्त बनकर धर्म कर्म को भूल जाता है तब धर्म बिना उस पुण्यशाली को मिली अगनित मनपसंद पुद्गल साधन सामग्री ही दृष्टि विषसर्प की तरह भयंकर बनकर पुण्य क्षीण होने पर उसको दुर्गति के गर्त में गिरा देगी। इस बात को समझाने के लिए ही इसके बाद का उद्देशक आशीविष नाम का है।

॥ पहला उद्देशक समाप्त ॥

शतक आठवां उद्देशक २

आशीविष :

इस उद्देशक में आशीविष के भेद, अवान्तर भेद, छद्मस्थ मनुष्य दस स्थानक देख सकते नहीं, और बाद में बहुत ही विस्तार से ज्ञान-ज्ञानी, अज्ञान–अज्ञानी आदि विषय का वर्णन किया है।

आशीविष का सरल अर्थ यह है आशी अर्थात् दाढ़। उसके मध्य में रहा हुआ विष (जहर)। सामान्य प्रकार से इसका अर्थ जहरवाला प्राणी लेना है क्योंकि ८४ लाख जीव योनी में थोड़े ही जीव जहर-बिना के है और अधिक जहरवाले है। सभी के दाढ़ में जहर नहीं होता है सिर्फ सर्प जाती में ही प्रायः करके दाढ़ में जहर होता है। जबकि वृश्चिक के पूंछ में जहर होता है, चंडकौशिक नाग की दृष्टि में जहर था तो किसी के पेट में जहर होता है।

इसके दो भेद हैं–(१) जात्याशीविष (२) कर्माशीविष। जन्म से ही जो आशीविष होते हैं वे जात्याशीविष और शाप आदि के कारण जो दूसरे को उपघात करते हैं वे कर्माशीविष होते है।

पहले भेद में सर्प, बिच्छु, मेढ़क और मनुष्य जाति यह जात्याशीविष के चार भेद हैं।

बिच्छु आदि जाति का तीनों काल में सद्भाव ही होता है अर्थात् किसी भी काल में उनका अभाव नहीं है। कर्माशीविष में नर्क जीव को छोड़कर बाकी सभी तिर्थच, नर और देव को कर्माशीविष कहा है। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीव कर्माशीविष नहीं होते हं।

संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्थच कर्माशीविष नहीं हं। गर्भज तिर्थंच में भी असंख्ययात वर्ष के आयुष्यवाले भोग भूमि में जन्म लिये हुए तिर्थंच भी कर्माशीविषवाले नहीं हं। इस तरह कर्मभूमि में जन्म लिये हुए अपर्याप्ता और संमूर्च्छिम मनुष्य कर्माशीविष नहीं हं। अपर्याप्त संख्यात वर्ष के आयुष्यवाले कर्म भूमि के गर्भज मनुष्य भी कर्माशीविषवाले नहीं हं। अपर्याप्त भवनपति व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक देव अपर्याप्त अवस्था में ही कर्माशीविषवाले होते हं।

बारह देवलोक में आनत–प्राणत–आरण और अच्युतदेव तथा कल्पातीत नवग्रैवयक और पांच अनुत्तर देव कर्माशीविषवाले नहीं होते हैं। शाप

आदि क्रिया के द्वारा "मैं किसी का उपघात करूं" इस आशय से ही उनको आशीविष नाम की लब्धि प्राप्त होती है। इसी के द्वारा वे देवलोक में जाते हैं पर पर्याप्त अवस्था प्राप्त होने से पहले ही वे आशीविषत्व रहते हैं जबकि पर्याप्त अवस्थावाले कर्मभूमि में गर्भज मनुष्य और तिर्यंच जो संख्यातवर्ष के आयुष्यवाले हैं वे कर्माशीविषवाले हैं।

ऐसे जीवों को विरति धर्म, गुरुकुल वास, स्वाध्यायबल और वैराग्य भाव उत्पन्न न हो तो उनकी पूरी जिन्दगी, खाने पीने, उठने, बैठने बोलने, लिखने आदि क्रियाओं में कर्माशीविष होने से वे परघातक परनिंदक तथा परद्रोहक ही रहेंगे।

इन कर्मों के विष को मारने के लिए स्वाध्यायबल खूब ही आवश्यक है और यथाशक्य पांचो इंद्रियों को काबू में रखने से ही अपने जीव का विष कम होगा नहीं तो कहते हैं कि—'पटेल की जीभ में, ब्राह्मण की आंख में और बनिये के पेट में जहर होता है।" इसी जहर के कारण मनुष्य स्वयं की सगी माता, धर्मपत्नी, पुत्र, विद्यागुरु या धर्मगुरु के भी स्नेहभाजन नहीं बन सकते हैं।

बहुत से ऐसे मनुष्य को भी हम क्या नहीं जानते कि 'आप गरजे आधो पड़े..." स्वयं की गरज हो तबतक सामनेवालो के पांव चाटेगा और गरज मिट जानेपर उसी मनुष्य का कट्टर वैरी बन जाता है। जिस गुरुने संसार की माया में से रजोहरण देकर अर्थात् दीक्षा देकर उपकृत किया हो तो भी ऐसे उपकारी गुरु का कट्टर दुश्मन बन जाता है।

महाउपकारी, तरण तारण जीते जागते गुरुदेव के कट्टर वैरी को स्थापनाचार्यजी भी कैसे तार सकेंगे? गुरुकृपा से प्राप्त हुई विद्या से यशस्वी बनने के बाद यदि वह गुरु के छिद्रों को ही देखना सीखेगा तो वह विद्या उसको मुक्ति कैसे दिलायेगी?

इन सभी में कर्माशीविष ही काम कर रहा है।

छद्मस्थ मनुष्य दस पदार्थों को जानता नहीं है :

हे गौतम ! छद्मस्थ मनुष्य सर्व भाव से या प्रत्यक्ष से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, मुक्त जीव, परमाणु, पुद्गल, शब्द, गंध, वायु, यह जीव जिन होगा कि नहीं ? तथा यह जीव सभी दुःखों का नाश करेगा कि नहीं ? ये उपरोक्त दस पदार्थ छद्मस्थ मनुष्य जान सकने में समर्थ नहीं है।

छद्मस्थ अर्थात् अवधिज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञानरहित जीव जानना क्योंकि विशिष्ट अवधिज्ञानी भी अमूर्त ऐसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्ति काय आकाशास्तिकाय को जानते नहीं हैं। वे मूर्त परमाणु को जान सकते हैं क्योंकि इस ज्ञान का विषय मूर्त द्रव्य है। परमाणु भी मूर्तमान होने से विशिष्ट अवधिज्ञानी उसको देखने में समर्थ है।

मूर्त घटादि पदार्थ ऐसे है जिसे अवधिज्ञानी जान सकते हैं परंन्तु उनमें रहे संपूर्ण अनंत पर्याय को तो केवल ज्ञानी ही जान सकते हैं। सर्वभाव का अर्थ बिलकुल प्रत्यक्ष करना। मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी धर्मास्तिकाय आदि को साक्षात् जानते नहीं हैं पर श्रुतज्ञान की सहायता से जानते हैं। मति–श्रुत का विषय अमुक पर्याय सहित द्रव्य ही है। जिनको केवल ज्ञान–केवल दर्शन उत्पन्न हुआ है वे अरिहंत जिन केवली सर्वभाव से संपूर्ण पर्याय के साथ द्रव्यों को जानते–देखते हैं

ज्ञान विषयक प्रश्नोत्तर :

ज्ञान गुण है तथा आत्मा गुणी है गुण अनादिकाल से स्वतः सिद्ध है। जिसकी पहले भाग में विस्तार से चर्चा हो गई है।

सफेद वस्तु उपर की सफेदी स्वतः सिद्ध होने पर भी जब उसकी सफेदी पर बाहर का मैल जैसे जैसे लगता है वैसे वैसे सफेदी कम होती जाती है। परन्तु पानी में डालने से धीरे धीरे मैल उतरता जाता है वैसे वैसे पहले जैसी सफेदी फिर से दिख जाती है।

उसी प्रकार से अनादिकाल का मिथ्यात्व, अविरति कषाय आदि का मैल आत्मा पर लगा हुआ है और प्रतिक्षण नया लगता जाता है। उसी मैल के कारण ज्ञानगुण मन्द पड़ते पड़ते सूक्ष्म निगोद के जीवों में सर्वथा मन्द हो जाता है।

अकाम निर्जरा जैसे जैसे होती जाती है वैसे वैसे ज्ञानगुण फिर से बढ़ता जाता है परन्तु प्रमादी जीवात्मा फिर से मोहमाया में आकर कर्म का आवरण उपार्जन करती है और स्वयं के ज्ञानगुण को मन्द कर देती है। इस तरह किसी समय ज्ञानगुण प्रकाशित होता है तो दूसरे समय कम होता है। किसी समय ज्ञान गुण की अनेक लब्धियों को प्राप्त करने के लिए आत्मा भाग्यशाली बनती है तो किसी समय अज्ञान के अंधकार के पालने में खेलते यह जीव दूसरे के हाथ से पेट भरकर मार खाता है।

स्वयं के अन्दर रहे हुए ज्ञान गुण के भेद जानने के लिए ही गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछे हैं जिससे जीव मात्र स्वयं के ज्ञान गुण को देख तथा जान सके।

हे प्रभु ! ज्ञान के कितने प्रकार हैं ?

जवाब में भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! ज्ञान के पांच भेद हैं। आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान) श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्यव ज्ञान और केवलज्ञान।

आभिनिबोधिक—अभिनिबोध शब्द को 'इकण' प्रत्यय लगाने से यह शब्द बनता है। इसमें 'अभि' "नि" यह दो उपसर्ग अव्यय है। 'अभी' अर्थात् पदार्थ के सन्मुख या इंद्रियों के सन्मुख रहा हुआ पदार्थ, क्योंकि इंद्रियों की विपरीत दिशा में रहा हुआ पदार्थ इंद्रियां ग्रहण नहीं करती हैं। विषयों को ग्रहण करनेवाली इंद्रियों को भी स्वयं की मर्यादा है। 'नि' अर्थात् नियत—संशयादि रहित अपने अपने विषय वह ग्रहण करे।

भावार्थ यह है कि–संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित सन्मुख रहे हुए पदार्थ को इंद्रियों द्वारा आत्मा को सम्यग् बोध हो वह आभिनिबोधिक–मतिज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान के होने में पांच इन्द्रियां तथा छठा मन मुख्य निमित्त रुप है।

मतिज्ञान के भेद—मति ज्ञान के अवग्रह, इहा, अवाय और धारणा यह चार भेद है।

अवग्रह अर्थात् इंद्रियों द्वारा ग्रहण करते पदार्थ जो कोई जाति की विशेषता रहित है। ऐसे सामान्य पदार्थ को 'अव' अर्थात् सबसे प्रथम अवस्था में जो ग्रहण हो अर्थात् नाम, जाति आदि विशेषता बिना का पदार्थ मात्र का प्रथम सामान्य ज्ञान वह 'अवग्रह' है। सामने दिखता हुआ पदार्थ 'कुछ' है इस प्रकार के व्यंजनावग्रह के बाद सामने दिखते हुए पदार्थ में कुछ विशेष निर्णय होता है जैसे सामने दिखता हुआ पदार्थ 'मनुष्य' है।

'इहा' दिखे हुए, चखे हुए, सूंघे हुए, स्पर्श हुए, या सुने हुए पदार्थ के जिस ज्ञान में विशेष निर्णय हो उसे 'इहा' ज्ञान कहते हैं। जैसे सामनेवाला मनुष्य राजस्थानी होना चाहिए क्योंकि उसके कपड़े राजस्थानी प्रकार के हैं। चखा हुआ पदार्थ मोसंबी का रस होना चाहिए तथा सुना हुआ शब्द पुरुष का होना चाहिए आदि।

अवाय—पदार्थ का संपूर्ण निश्चय हो उसे 'अवाय' ज्ञान कहते हैं जैसे देखा हुआ मनुष्य राजस्थानी ही है, चखा हुआ पदार्थ मौसंबी का रस ही है, स्पर्श हुई मेरी स्त्री ही है तथा सुना हुआ शब्द किसी मंडली के उसी भाई का ही है आदि।

धारणा–उपरोक्त निर्णय हुए ज्ञान को फिर से भूल न जाय ऐसा मस्तिक में धारले उसे धारणा ज्ञान कहते हैं। इस तरह सम्यग् मतिज्ञान होने में उपरोक्त चार कारण है

अवधारित—धारण रुप से हुए पदार्थ में यद्यपि तत्समय में स्पष्ट ज्ञान भले ही होता हो तो भी सूक्ष्मरुप से भी अवग्रह आदि होता है। यह ज्ञान होने में मतिज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम मुख्य कारण है।

श्रुत-ज्ञान—जो सुना जाय वह 'श्रुत' अर्थात् शब्द भी श्रुतज्ञान है। कारण में कार्य का उपचार करने से शब्द भी श्रुतज्ञान कहलाता है। इंद्रिय और मन के कारण से आगम ग्रंथानुसारी जो ज्ञान हो वह श्रुतज्ञान है। इसमें श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम मुख्य कारण है।

अवधिज्ञान—अग्रिम वस्तुका विस्तृत ज्ञान हो अथवा मूर्त पदार्थ को मर्यादा से जाने वह अवधिज्ञान, जिसमें इंद्रिय तथा मन की आवश्यकता नहीं हैं। जिस क्षेत्र की मर्यादा पर्यंत ज्ञान हुआ हो उसी क्षेत्र पर्यन्त के पदार्थ को जान सके। इस में अवधि ज्ञान वरणी का क्षयोपशम कारण है।

मनः पर्यवज्ञान—मानसिक विचार जिससे जाने जाय अथवा मन के पर्याय को या उनकी अवस्था विशेष को जिससे जाने वह मनपर्यव ज्ञान हैं। इसमें मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम मुख्य कारण है।

केवलज्ञान—ऊपर के चार ज्ञान से सर्वथा निरपेक्ष, कर्मावरण के मेल से सर्वथा रहित। समस्त आवरणों का अभाव होने से संपूर्ण रूप से उत्पन्न होनेवाला जिसकी तुलना में दूसरा एक भी ज्ञान न हो और अनंत ज्ञेयो को तथा एक-एक के अनंत पर्याय को प्रत्यक्ष करनेवाले ज्ञान को केवलज्ञान करते हैं।

हे प्रभु ! अज्ञान कितने प्रकार के हैं ?

भगवान ने तीन प्रकार के अज्ञान कहे है—मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंग ज्ञान। यहां अज्ञान शब्द में नञ का अर्थ सर्वथा निषेध में नहीं है पर विपरीत अर्थ में है। जो सम्यग्ज्ञान नहीं वह अज्ञान है।

'नञ' कुत्सित अर्थ में भी आता है। अतः कुत्सित ज्ञान वह अज्ञान है। यह मिथ्यात्व से युक्त होता है कहा है कि सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्यादृष्टि का ज्ञान वह अज्ञान है।

नशा किया हुआ मनुष्य नशे में बेभान होने से कभी हाथी को घोड़ा तथा घोड़े को हाथी कहता है। तो थोड़ी देर के बाद माँ को घरवाली तथा घरवाली को मां कह देता है। क्योंकि वह नशे में चूर है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के नशे में बना हुआ मनुष्य किसी समय ईश्वर को ईश्वर कहता है तथा दूसरे क्षण उसी ईश्वर को हम्बक तथा अहिंसादि धर्म को ढोंग कहता है। कभी आत्मा की विचारणा करने में तैयार होता है कभी आत्मा है ही नहीं, स्वर्ग नर्क कुछ नहीं ऐसा कहने लगता है तथा झूठे तर्क भी खड़े कर देता है। इसमें मिथ्यात्व का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। जैसे—

दर्शन मोहनीय कर्म की तीव्रता में वह आत्मदर्शन नहीं कर सकता है और चरित्रमोहनीय कर्म के कारण आत्मा की शुद्धि नहीं हो पाती है इस लिए कहा है कि मिथ्यात्वयुक्त ज्ञान अज्ञान है।

दूधपाक चाहे जितना अच्छा हो कितने ही किमती सुगंधित द्रव्य डाले हो और साथ में थोड़ा जहर भी डाला हो तो दूधपाक त्यागने के योग्य होता है। उसी प्रकार हजारों लाखों की संख्या में श्लोक पढ़े हों बाह्यदृष्टि से अच्छा पंडित भी हो, परन्तु आंतरिक जीवन मिथ्यात्व के जहर से मिश्रित होता है तब उसका सारा ज्ञान अज्ञान बनता है।

मिथ्यात्व के कारण संसार और संसार के पदार्थ का ज्ञान सत्य नहीं होने पाता है। उसके अवग्रह, इहा, अवाय और धारणा में संशय, विपर्यास और अनध्यवसाय होने से उसकी संपूर्ण बुद्धि संशयात्मक, विपर्यात्मक और अनिश्चयात्मक बनती है। उसकी जिन्दगी के अंतिम क्षण तक हिंसा अहिंसा, सत्य-असत्य, मैथुन-ब्रह्म, परिग्रह-संतोष आदि धर्म का कुछ

भी निर्णय नहीं कर सकता है। अतः उसका अवग्रह, इहा, अवाय और धारणा भी अज्ञानात्मक बनते हैं।

सारांश यह कि मति अज्ञान मनुष्य का एक भी तर्क सत्य नहीं होने के कारण से महाकदाग्रही बने हुअे उस भाग्यशाली के किसी के भी साथ विचार मिलते नहीं है। हर जगह स्वयं के हठाग्रह के कारण पूरी सभा, समाज तथा देश को बिगाड़ने के सिवा कुछ कर सकता नहीं है।

श्रुत–अज्ञान–जहां देव–गुरु–धर्म तत्व की कुत्सित व्याख्या हो ऐसे ग्रन्थों का ज्ञान वह श्रुत अज्ञान है।

विभंग ज्ञान—वस्तु की यथार्थता के प्रति बेपरवाह रहकर विपरीत कल्पना जिसमें हो वह विभंग–ज्ञान है। समुद्र, नदी, नाले, देव–विमान नर्क स्थान, मनुष्य तिर्यंच जिस रुप में हैं उसको विपरीत अर्थ या रुप में देखे वह विभंग ज्ञान है। मति तथा श्रुत के आगे जैसे "नञ" का प्रयोग किया है उसको नहीं करते 'विभंग ज्ञान' शब्द रखा है। इसमें 'वि' अव्यय जिससे ही ज्ञान की कुत्सितता फलित हो जाती है। विभंग ज्ञान अर्थात् विपरीत अवधिज्ञान 'मर्यादा में रहे हुए पदार्थ भी जिसको कुत्सित अर्थात् विपरीत रुप से दिखे वह विभंग ज्ञान है।

इस तरह ज्ञान और अज्ञान का निरुपण करने के बाद ज्ञानवान् और अज्ञानवान् के प्रश्न है।

जीव क्या ज्ञानी है ? अज्ञानी है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! जीव ज्ञानी भी है और अज्ञानी भी हैं। जो ज्ञानी है वह यावत् पांचों ज्ञान के मालीक है। केवल ज्ञानी को एक, केवलज्ञान होने से वे एक ज्ञानवाले कहलाते हैं बाकि दूसरे कोई दो ज्ञानवाले, तीन या चार ज्ञानवाले होते हैं।

जो अज्ञानी होते हैं वह मति अज्ञान तथा श्रुत अज्ञान को लेकर दो प्रकार के तथा मति–श्रुत तथा विभंग को लेकर तीन प्रकार के हैं।

नारकी जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

भगवान ने कहा कि–सम्यग्दृष्टि नारक को भवप्रत्यय अवधिज्ञान होने से वे अवश्य तीन ज्ञानवाले हैं जबकि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी नारक को दो या तीन भी अज्ञान होते हैं। जैसे कोई असंज्ञी तिर्यंच जीव नर्क में उत्पन्न हो तब उसका अपर्याप्त अवस्था में विभंग ज्ञान नहीं होने से उस समय तक वह दो अज्ञानवाला होता है। मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव नरक में उत्पन्न हो तो भी अपर्याप्त अवस्था में विभंगज्ञान होने से तीन ज्ञान के मालिक बनते हैं। पर्याप्त पूरी किये बिना जीव मर जाय तो अपर्याप्त कहलाता है। देव तथा नारक का आयुष्य कम से कम दस हजार वर्ष का है। लब्धि–पर्याप्त, लब्धि अपर्याप्त, करण अपर्याप्त, तथा करण पर्याप्त ये चार पर्याप्त हैं। इसमें उत्पत्ति स्थान में समकाल, स्वयोग्य सर्वपर्याप्ति की रचना का प्रारंभ होता है। जब तक वह समाप्त न हो तब तक जीवमात्र करण अपर्याप्त कहलायेगा। यहां अपर्याप्त अर्थात् असमाप्त जानना है इसलिए पर्याप्ति अभी समाप्त हुई नहीं है। पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद वह करण पर्याप्त कहलाता है।

असुर कुमार से स्तनितकुमार तक के देव को नारक की तरह जो ज्ञानी हैं उनको तीन ज्ञान और अज्ञानी को तीन अज्ञान जन्म से जानने। पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावर जीव अज्ञानी ही होते हैं उनको मति अज्ञान तथा श्रुतअज्ञान ही होता है। सम्यकत्व भ्रष्ट जीव ही स्थावर को प्राप्त करने से अज्ञान हैं। विकलेन्द्रिय जीव जो ज्ञानी हैं वह मति तथा श्रुत ज्ञानी हैं और जो अज्ञानी है वह मति तथा श्रुत आज्ञनी हैं।

मनुष्य और तिर्यंच जिसने विकलेन्द्रिय–योनी का आयुष्य बांधा

है वह औपशमिक सम्यग्दृष्टि उपशम सम्यक्त्व को त्यागता हुआ उत्पन्न हो तब उसे अपर्याप्त अवस्था में सास्वादन समयग्दर्शन जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छः आवलिका तक रहता है वहांतक वह ज्ञानी और बाद में मिथ्यात्व प्राप्त होते ही अज्ञानी हो जाता है।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच जो ज्ञानी है वे कितने तो दो ज्ञानवाले तथा कितने तीन ज्ञानवाले होते है। इसी तरह अज्ञान के लिए भी ऐसा जानना।

अवधिज्ञान भवप्रत्यय और गुण प्रत्यय दो प्रकार का होता है। विशिष्ट प्रसंग पर तिर्यंच को भी अवधिज्ञान होता है उस समय वह सम्यग्दर्शनी होगा तो अवधीज्ञाम और मिथ्यादर्शनी होगा विभंग ज्ञान जानना।

मनुष्य को पांच ज्ञान तथा तीन अज्ञान विकल्प से होते हैं।

नारक की तरह वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक को तीन ज्ञान और तीन अज्ञान होते है। सिद्ध के जीव को केवल एक केवलज्ञान ही होता है।

इन प्रश्नोत्तर में गति, इन्द्रिय, काय, सूक्ष्म, पर्याप्त अवस्था, भवसिद्धिक, संज्ञी, लब्धि उपयोग, लेश्या, कषाय, वेद, आहार ज्ञान, गोचरकाल, अंतर, अल्प बहुत्व और पर्याय आदि बीस द्वार से ज्ञान के विषय को बहुत विस्तार से वर्णन किया है। पहले मतिज्ञान के विषय को निरयगति द्वार कहते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य जो नर्क गति में उत्पन्न होनेवाले हो वह अंतराल गति में हो तब उसको निरयगति जानना। इसी तरह दूसरे द्वार में भी जानना।

निरयगति प्राप्त ज्ञानी होंगे को तीन और अज्ञानी तो तीन अज्ञान जानने। यह तथा दूसरी सभी बात मूल सूत्र में से जान लेनी।

अनंतशक्ति की अधिकारी आत्मा जब ज्ञानावरणीयादि कर्म के आवरण से आच्छादित हो जाती है तब आत्मा की वे शक्तियां भी आवृत होती हैं परन्तु मोक्षपुरुषार्थ से वह आत्मा जब आवरणों को हटाती जाती है तब उतनी मात्रा में लब्धिएँ भी प्राप्त होती जाती है।

सारांश कि प्रत्येक आत्मा में जो भिन्न भिन्न विकास दिखता है उसमें ईश्वर या देव देवी की मेहरबानी नहीं है पर आत्मा स्वयं संयमशील, तपस्वी, ध्यानी और पौद्गलिक भाव की त्यागी जितने प्रमाण में में बनती है उतना ही आत्मविकास होता जाता है। जैसे अत्यन्त गन्दे वस्त्र को साबुन की मात्रा थोड़ी मिलेगी तो वस्त्र बिलकुल स्वच्छ नहीं होगा यदि संपूर्ण मात्रा में साबुन उपलब्ध होगा तो वस्त्र स्वच्छ होगा वैसे ही आत्मा का मोक्ष पुरुषार्थ जितना बलवान होगा उतने ही अंश में वह लब्धियों का मालिक बनेगा। लब्धिये १० प्रकार की है– (१) ज्ञान लब्धि (२) दर्शन–लब्धि (३) चारित्र लब्धि (४) चरित्रा चरित्र लब्धि (५) दान लब्धि (६) लाभ लब्धि (७) भोग लब्धि (८) उपभोग लब्धि (९) वीर्य लब्धि (१०) इन्द्रिय लब्धि। प्रत्येक आत्मा को स्पष्ट या अस्पष्ट ऊपर की दस लब्धि अवश्य होती है परन्तु लब्धियों को आवृत करनेवाले इन कर्मों के क्षय या क्षयोपशम से आत्मा को ज्ञान–दर्शन–चारित्र की जो शक्ति प्राप्त हो उसे लब्धि कहते हैं।

(१) ज्ञान लब्धि—पांच प्रकार की है। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान लब्धि, श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान लब्धि, अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान लब्धि, मनः पर्यवज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मनःपर्यवज्ञान लब्धि और केवलज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से केवलज्ञान लब्धि प्राप्त होती है।

गत भव में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की आराधना की हो तब यह

सम्यग्ज्ञान मनुष्य को प्राप्त होता है। आंतरिक जीवन में जितने अंश में शुद्धता, पवित्रता और सरलता होती है उतने प्रमाण में मति और श्रुत–ज्ञान की लब्धियों का विकास होता है। ऐसे भाग्यशाली को मतिज्ञान की लब्धि समाज के हित के लिए, संघ के योग क्षेम के लिए, शासन की सेवा के लिए तथा दीन दुःखी की रक्षा के लिए काम में आयेगी। श्रुतज्ञान की लब्धि मानवमात्र को सम्यग्ज्ञान देने के लिए, समाज तथा संघ को द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की जानकारी देने में काम जायेगी। जैसे जैसे मति और श्रुत ज्ञान शुद्ध होगा वैसे वैसे सम्यग्दर्शन तथा सम्यकचरित्र में भी शुद्धि होगी। सारांश यह कि दर्शन, और चरित्र को शुद्धि के लिए सम्यग्ज्ञान की अनिवार्यता निश्चित है। आज भरत तथा ऐरावत क्षेत्र के मनुष्य के लिए अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान के द्वार बन्द होने का मुख्य कारण आंतरिक जीवन की शुद्धि का अभाव, काम, क्रोध, लोभादिप्रपंच में फँसा हुआ मनही काम कर रहा है।

चरित्र की विशिष्ट प्रकार से शुद्धि होते ही अवधिज्ञान मनः पर्यवज्ञान और घाती कर्मो का संपूर्ण क्षय होने पर केवलज्ञान की लब्धि मिलती है।

(२) दर्शन–लब्धि—शुद्ध श्रद्धानुरुप आत्मा का रुचि परिणाम होनेपर जो आत्मदर्शन हो वह दर्शनलब्धि है। दर्शन मोहनीय कर्म इस लब्धि को आवृत करता है। जो मोहराजा के सभी सिपाहियों में मुख्य सिपाही है क्योंकि जबतक आत्मा को स्वयं का ही दर्शन न हो तब तक जंगल के भैंसे जैसी गति होती है। दर्शन मोहनीह कर्म के बंध के निम्न प्रकार है:—

वीतराग देव, तीर्थंकर प्रणीत श्रुत, जैन संघ, तथा जैन धर्म का द्वेषी बनकर उसका अवर्णवाद बोलना, चारो प्रकार के देव की निंदा

करनी पूर्वग्रह में फंसकर मिथ्यात्व का तीव्र परिणाम रखना।

अहिंसा–संयम और तप–धर्म की आराधना करनेवाले धार्मिक की निन्दा करनी हिंसा, झूठ, मैथुन आदि उन्मार्ग की देशना देनी, अनर्थकारी प्रसंग में कदाग्रही बनना तथा असंयत या दुराचारी की पूजा करनी तथा "ऐसे कार्य करने से मेरी दुर्गति होगी" ऐसा विचार किये बिना ही चाहे जैसे अनिष्ट कार्य में प्रवृति करनी। विद्यागुरु, धर्म गुरु, संयमदाता, ज्ञानदाता और पूजनीय माँ–बाप का अपमान करना तथा निंदा करनी इत्यादि कार्य करने से दर्शन मोहनीय कर्म का उपार्जन करता हुआ मनुष्य अगले भव में दर्शन लब्धि प्राप्त नहीं कर सकता है।

परंतु भव परंपरा में भ्रमण करते जीव के बहुत बहुत कर्म जब नाश होते है तब किसी भव में वह भाग्यशाली दर्शन लब्धि प्राप्त करता है।

(३) चारित्र–लब्धि—सम्यकचरित्र, पवित्र जीवन, हृदय की सरलता आदि को देनेवाली यह लब्धि है। इस लब्धि के प्रताप से ही मनुष्य मात्र को स्वयं के आत्मा की शुद्धि में वृद्धि होती है। खाते–पीते –सोते–बोलते–उठते स्वयं के चरित्र को जरा भी मलीनता न लगे कषाय की भावना न हो तथा आत्मा में गन्दे परिणाम न हो इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

(४) चारित्राचारित्र लब्धि—अनंतानुबंधी कषाय का उपशम होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है आत्मा को स्वयं का विचार आता है और अप्रत्याख्यान कषाय का क्षयोपशम जीवात्मा को कुछ अंश में असंयम अर्थात् सर्वथा छोड़ देनेवाले निरर्थक पाप के त्याग की भावना और पापी पेट तथा गृहस्थाश्रम के निभाव के लिए अनिवार्य रूप से करते हुए पापों में संयम की मर्यादा उसको चारित्रा चारित्र देश–विरति धर्म की लब्धि कहते हैं।

चराचर संसार में अनंतानंत जीवों को दर्शनलब्धि या चारित्र लब्धि प्राप्त नहीं हुई है। उस अपेक्षा से चारित्राचारित्र लब्धि का मालिक लाखों गुणा श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे समझपूर्वक पाप का त्याग कर सके हैं, भविष्य में पापी पेट के लिए पाप को करते हुए भी उनको मर्यादित करेंगे और ऐसा होनेपर वे भाग्यशाली पापभीरु होने के कारण ही सर्वथा असंयमित जीवों से बहुत ही श्रेष्ठ है।

(५) दानलब्धि—दानान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम होने पर आत्मा को दानलब्धि प्राप्त होते ही दानशक्ति का विवेकपूर्वक सदुपयोग होता है। इसी से इस लब्धि का मालिक स्वयं से बड़े का मान तथा छोटे को दान देने के लिए समर्थ बनता है क्योंकि बड़े को मान तथा छोटे को दान देना जीवन का सर्वश्रेष्ठ कार्य है। जिसको यह लब्धि प्राप्त हुई नहीं है ऐसे दानान्तराय कर्मी आत्मा के पास बहुत होनेपर भी दूसरे को कुछ दे सकते नहीं है। ऐसी स्थिति में द्रव्य तथा धन से कृपण बने हुए जीव का संपूर्ण संसार इसलिए शत्रु बनता है कि वे विषमतावाद नाम के राक्षस की ही संसार को भेट देनेवाले बनते हैं। अर्थात् वैषम्यवाद की उत्पत्ति कृपण श्रीमंतों से होती है।

संसार को शेर, बिच्छु हिंसक प्राणी से जितना नुकसान नहीं होता है उससे अनेक गुणा विषमतावाद को जन्म देनेवाले और प्रचार करनेवालों से होता है जो पूरे संसार को नुकसान करनेवाले होते है।

(६) लाभलब्धि—लांभातराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से इस लब्धि की प्राप्ति होती है। मानव मात्र की महत्वकांक्षा होती है कि मुझे अलग अलग प्रकार का लाभ हो तथा मैं सुखी बनूं। परंतु पूर्वभव के लाभांतराय कर्म के उदय से 'कुंए की छाया कुंए समाई' कुंए की छाया कुंए में ही समा जाती है वैसे ही उसकी एक भी महत्वकांक्षा फलीभूत नहीं होती है।

दूसरे के द्रव्य की चोरी, कम परिश्रम से अधिक धन प्राप्त करने की नीयत, क्लेश झगड़ा करके भी दूसरे की जेब खाली करनेवाला, स्वयं के हक की नौकरी के समय भी कामचोरी, जिसका नमक खाते हैं। उसी सेठ के प्रति वफादारी रहित जीवन, झूठा ब्याज, माल में मिलावट, झूठे मापतौल, विश्वासघाती और हलका माल बेचनेवाला मनुष्य लाभांतराय कर्म बांधता है। सारांश यह कि दूसरे के लाभ को अंतराय करनेवाला इस कर्म की बेड़ी में फंस जाता है।

इस प्रकार बंधे हुए कर्म के परिणाम से अनेक भव तक वह मनुष्य दास, गरीब और नौकरी आदि करके स्वयं का निर्वाह करनेवाला होता है। सेठ बनने की इच्छा बहुत है परंतु बन सकता नहीं है, मोटर तथा बंगले की इच्छा बहुत है पर लाभांतराय कर्म के कारण मन की मन में ही रह जाती है।

अनेक भव तक इस कर्म को भुगतते हुए जैसे जैसे कर्म की निर्जरा होती है वैसे वैसे जीव को अनेक प्रकार की लाभ की लब्धिएं भी प्राप्त होती है। इसीसे ही मनुष्य को मनपसन्द भोजन, बंगला, अच्छे कपड़े, आभूषण, पुत्र—परिवार आदि की प्राप्ति होती है।

(७) भोगलब्धि—भोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम होनेपर जीव को यह लब्धि प्राप्त होती है जिससे खान पान के आनंद में अंतराय नहीं आता है, नहीं तो गरमागरम रसोई तैयार है परन्तु इस कर्म के कारण उसी समय ऐसे निरर्थक कार्य आ जाते हैं कि बाद में ठंडे भोजन को ही बेमन से खाना पड़ता है।

जेब में जब बुद्धदेव का शून्यवाद हो तब मनुष्य को इच्छित भोजन भी कहां मिलता है ?

इस कर्म की उपार्जना इस प्रकार होती है:—

स्वार्थ या द्वेषवश दूसरे की रोटी हड़प करना, स्वयं के पांच रुपये के

स्वार्थ के लिए दूसरे के हजारों, लाखों रुपये का नुकसान करना, दीन दुःखी को परेशान करना जिससे उनके बाल बच्चे को भूखा मरना पड़े।

स्वयं के बड़े या छोटे भाई के भाग में आई हुई रकम, घर आदि को स्वयं की वाचालता से हड़प लेना। जिससे भाई को भूखा मरना पड़े। ऐसे कार्य करने से अंतराय कर्म का बंध होता है।

(८) उपभोग-लब्धि—उपभोगांतराय कर्म के क्षयोपशम पर उपभोग-लब्धि की प्राप्ति होती है। इससे स्वयं के गृहस्थाश्रम में अन्तिम समय तक हानि नहीं होती है।

उपभोगांतराय कर्म के कारण से प्राप्त गृहस्थाश्रमी भी बीच में विश्वासघात करानेवाली बनेगी। द्रव्योपार्जन में किये हुए पाप को लेकर मिली हुई लक्ष्मी से बांधे हुए बंगले का उपभोग करने के पहले ही उनके हाथ में से चले जायेंगे या उन मकानों में किया हुआ वास उनके घर में आनंद मंगल तो नहीं बढ़ायेगा परन्तु भिन्न भिन्न तरह की बीमारियें खड़ी कर देगा।

पूर्वभव के इस कर्म के कारण संपूर्ण जीवन टूटे फूटे मकान में जहां गर्मी तथा गन्दगी है, हवा प्रकाश नहीं है। ऐसे स्थान में गुजारना पड़ेगा।

दूसरे के स्वच्छ तथा रंगबिरंगे वस्त्र, सुन्दर पुत्र पुत्रियों को देखकर उनका अंतिम श्वांस आर्तध्यान में ही पूरा होगा इत्यादि कार्य इस कर्म के आभारी है :

इस कर्म के बंधक जीव?

[१] मैथुन भावना में मस्त बनकर दूसरे की बहन बेटी तथा उनकी स्त्रियों को फुसलाकर उनका घर बिगाड़नेवाला।

[२] कन्या के कन्याव्रत को विधवा के विधवाव्रत को बिगाड़नेवाला मनुष्य यह कर्म इसलिए बांधेगा कि जब उस स्त्री को स्वयं के सतीत्व

धर्म की याद आते ही स्वयं के शील भंग करने वाले को शाप दिये बिना नहीं रहेगी।

[३] चक्रवर्ती व्याज के नशे में चकनाचूर बना हुआ मनुष्य जब दूसरे के मकान को नीलाम करायेगा तब बिना घर का वह मनुष्य निश्वास डालता हुआ कहेगा कि तू भी अगले भव में घर बिना का होना।

[४] दूसरे की सुख शान्ति, समाधि आदि को हानि करनेवाले मनुष्य को अगले भव में शांति, समाधि, आजादी और आबादी कौन दे सकेगा ?

इत्यादि कर्म को लेकर यह जीव कर्म बांधता है और अनेक भवों में इस कर्म के कारण अनेक विध कष्ट सहन करनेपर ही यह कर्म कमजोर पड़ता है तब उसकी गृहस्थी में आनंदमंगल होता है।

(९) वीर्यलब्धि—वीर्यांतराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम होनेपर जीवात्मा को यह लब्धि प्राप्त होती है। जिससे मन–वचन और काया में हमेशा स्फूर्ति रहती है सत्प्रवृतियों में भाग लेने की भावना रहती है। तथा स्वार्थ बलिदान देकर भी दूसरे के कार्य सबसे पहले करने वाला होता है।

जबकि वीर्यांतरय कर्म का मालिक मन वचन तथा काया से भी मुर्दा रहता है। जिससे जीवित होनेपर भी जीवन का आनंद उसके भाग्य में नहीं रहता। सभी के बीच में रहते हुए भी अकेलापन महसूस करता हुआ अपना जीवन पूर्ण करता है।

इस कर्म के बंधक जीव—

[१] दूसरे जीव की वृत्ति और प्रवृत्ति की हानि करनेवाला।

[२] शक्ति विद्यमान होनेपर भी आलस्यदेव की उपासना करनेवाला।

[३] निष्कारण परद्रोह परघात और परनिंदा को करनेवाला जीव वीर्यांतराय कर्म को बांधता है

(१०) इन्द्रिय–लब्धि—शरीर में बाहरी रुप से दिखती हुई इन्द्रियों के मूल कारण में एकेन्द्रियादि जाति नाम कर्म और पर्याप्त नाम कर्म है। जबकि भाव इन्द्रिय के लिए मति ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम मुख्य है।

अज्ञानलब्धि भी तीन प्रकार की है–मतिअज्ञानलब्धि, श्रुतअज्ञान लब्धि और विभंगज्ञानलब्धि।

दर्शनलब्धि तीन प्रकार की है :—

[१] सम्यग्दर्शन–लब्धि—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न शुद्ध श्रद्धानुरुप आत्म परिणामवाले को यह लब्धि प्राप्त होती है।

[२] मिथ्यादर्शनलब्धि—मिथ्यात्व पुद्गल दलिको के वेदन से उत्पन्न आत्मा के विपर्यास स्वरुप जीवपरिणाम को मिथ्यादर्शन लब्धि कहते हैं।

[३] सम्यग् मिथ्यादर्शनलब्धि—मिथ्यात्व के पुद्गलों में से कुछ पुद्गल शुद्ध तथा अशुद्ध रहनेपर किसी समय मिथ्याबुद्धि दूसरे समय सम्यग्बुद्धि को सम्यग्मिथ्यादर्शनलब्धि कहते हैं।

चारित्र लब्धि के पांच भेद हैं :

[१] सामायिक चारित्रलब्धि—प्राणातिपातादि सावद्य योग की विरति लक्षण रुप ४८ मिनिट के समय से यावत् जीवन के अन्तिम क्षण तक की सामायिक वह चारित्रलब्धि कहलाती है।

[२] छेदोपस्थापनीय–चारित्र लब्धि—पहले के चारित्रपर्याय को

छेद्कर फिर से व्रतारोपण किया जाय वह छेदोपस्थापनीय चारित्र दो प्रकार का है।

(१) सातिचार—महाव्रतों का घात होनेपर फिर से व्रतग्रहण करे वह सातिचार छेदों पस्थापनीय चरित्र लब्धि है।

(२) निरतिचार—इत्वर सामायिक व्रतधारी मुनि को फिर से महाव्रत उच्चराना या पहले तीर्थंकर के मुनियों को पीछे से होनेवाले तीर्थंकरो के शासन में प्रवेश कराने रुप, जैसे पार्श्वनाथ भगवान के मुनियों ने महावीर स्वामी के शासन में प्रवेश किया वह निरतिचार चारित्रोपलब्धि है।

(३) परिहार विशुद्धि चारित्रलब्धि—तपस्या विशेष द्वारा आत्मा की विशेष शुद्धि, परिहार विशुद्धि चारित्रलब्धि है।

(४) सूक्ष्म संपराय चारित्रलब्धि—जिस चारित्र में कषाय का थोड़ासा उदय हो वह सूक्ष्म संपराय चारित्रलब्धि दो प्रकार की है।

उपशम श्रेणी से गिरते जीव को दशमे गुणठाणे में पतित दशा के अध्यवसाय होने से संदिश्यमान सूक्ष्म संपराय और उपशय श्रेणी से चढ़ते जीव को दशमे गुणठाणे में विशुद्ध अध्यतसाय होने से विशुद्धमान सूक्ष्म संपराय चारित्रलब्धि होती है।

इस चारित्र में २८ मोहनीय प्राकृति में संज्वलन लोभ के बिना २७ मोहनीह कर्म प्रकृति के क्षय होने के बाद और संज्वलन लोभ में भी बादर लोभ का उदय–नाश होने के बाद जब केवल एक सूक्ष्म लोभ का ही उदय होता है वह सूक्ष्म संपराय नाम के गुणठाणे के भाग्यशाली जीव को यह परिहार विशुद्धि चारित्रलब्धि प्राप्त होती है।

(५) यथाख्यात चारित्र लब्धि—जिस चारित्र में कषाय के उदय का सर्वथा अभाव हो, जिसके आचरण से सुविहित जीव मोक्ष की तरफ प्रयाण करे वह यथाख्यात चारित्र है। उसके चार भेद हैं:—

(१) उपशांत यथाख्यात—११ में गुण स्थान में मोहनिय कर्म शान्त होता है और बिलकुल शांति होने से उसका उदय नहीं हो तो वह उपशांत यथाख्यात कहलाता है।

(२) क्षायिक यथाख्यात—१२–१३–१४ में गुणठाणे में मोहनीय कर्म क्षय होने से जो चारित्र होता है वह क्षायिक यथाख्यात चारित्र है।

(३) छाद्मस्थिक यथाख्यात—११–१२ वे गुणस्थान में दोनों प्रकार का छाद्मास्थिक यथाख्यात चारित्र कहलाता है।

(४) केवलिक यथाख्यात—१३–१४ गुणस्थान के केवलज्ञानी का क्षायिक भाव का चारित्र वह केवली यथाख्यात चारित्र है।

चारित्राचार लब्धि—मूल और उत्तर गुण की विवक्षा नहीं होने से एक ही भेद है। अप्रत्याख्यान कषाय के क्षयोपशम की विवक्षा के कारण भेद कल्पना नहीं है।

वीर्य लब्धि तीन प्रकार की है—(१) बालवीर्य लब्धि (२) पंडितवीर्य लब्धि (३) बालपंडित वीर्य लब्धि।

(१) बालवीर्य–लब्धि—असंयमी, विरति रहित मनुष्य के असंयम–योग में (मन वचन काया) जो प्रवृति हो या वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय-से यह लब्धि प्राप्त होती है जिससे अज्ञान, अविवेक ओर अविनयपूर्वक पापों से भरे हुए अनुष्ठानों में प्रवृति हो वह बालवीर्य लब्धि हैं।

(२) पंडितवीर्य लब्धि—संयमी, संयमधारी, इन्द्रिय तथा मन को निग्रह करनेवाला हो वह पंडित है। जिसकी संयम के योग में प्रवृत्ति हो वह पंडितवीर्य लब्धि है।

(३) बाल पंडितवीर्य लब्धि—कुछ अंश में व्रत लेकर पाप के द्वार बन्द किये है और कुछ द्वार बन्द नहीं किये वह श्रावक बालपंडितवीर्य की लब्धिवाला है।

इन्द्रियलब्धि के पांच भेद हैं:—

इन्द्रियों के स्वयं के आवरण दूर होने पर द्रव्येन्द्रिय की प्राप्ति होती है जैसे स्पर्शेन्द्रियावरणीय, रसनेन्द्रियावरणीय घ्राणेन्द्रियावरणीय चक्षुरिन्द्रियावरणीय और श्रोतेंद्रियावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उन उन इन्द्रियों की प्राप्ति होती है। वे क्रमशः इसप्रकार जानना, स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय तथा श्रोतेन्द्रिय। स्पर्शेन्द्रिय मतिज्ञानाणीय यावत् श्रोतेन्द्रिय मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से भावेन्द्रियों को प्राप्ति होती है।

॥ दूसरा उद्देशक समाप्त ॥

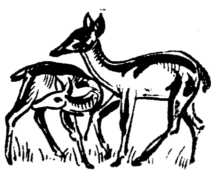

शतक आठवां उद्देशक ३

वनस्पतिसंबंधी प्रश्नोत्तर :

जगत के जीव स्वयं का कल्याण करे, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करे परिग्रह के पाप की भयंकरता समझे और उन पाप में से अपनी मुक्ति प्राप्त करे। इस पवित्र आशय से "सवि जीव करु शासन रसी" की उदात्त भावना से प्रेरित होकर गौतम स्वामी ने पूछा कि–हे प्रभु! वृक्ष कितने प्रकार के हैं।

जवाब में दया के सागर भगवान ने फरमाया कि–हे गौतम! वृक्ष तीन प्रकार के हैं :—

(१) संख्येयक जीविक (२) असंख्येयक जीविक (३) अनंत जीविक।

जिन जीवों की गिनती हो सकती हो वे संख्येयक जीविक। अर्थात् इन वृक्षों के जीव संख्यात है। जैसे—ताल, तमाल, तक्कली, साल कल्याण, सरल, केतकी, कदली, चर्म वृक्ष नारियल, भूर्जवृक्ष आदि।

जिसकी गिनती नहीं हो वे असंख्येयक जीविक अर्थात् इन वृक्षों के जीव असंख्यात हैं। जो एक बीज और अनेक बीज रुप दो प्रकार के हैं।

नीम, आम, जामुन, बकुल और करेज आदि एक बीजवाले हैं। जबकि अत्थिक, बीजोरा, फणस दाड़म आदि बहुत बीजवाले हैं। अंत में यह भी कहा जाता है कि, जिसके मूल कंद, स्कंध, पत्र, पुष्प और फल भी असंख्येयक जीविक हों। वे वृक्ष असंख्यात जीववाले कहलाते हैं और और जिस वृक्ष में जीव अनंत है वे अनंत जीविक कहलाते हैं। जिसका विस्तार जीव विचार प्रकरण से जान लेना। अधिक विस्तार प्रज्ञापना सूत्र से जानना।

छः काय के जीवों में से सबसे अधिक वनस्पति के जीव हैं जो अनंतानंत और चैतन्य संज्ञा के मालिक हैं। हमारी आत्मा उत्कृष्ट पुण्यवंत होने पर जैसे मनुष्य शरीर में रहती है, वैसे निकृष्ट पाप के उदय से वे अनंतानंत जीव वनस्पति शरीर में रहते है। ऐसे स्वतत्व की अपेक्षा से सभी जीव एक समान होनेपर भी कर्मावरण को लेकर सभी के विभाग अलग अलग हैं।

जैनागम कहता है कि, वे जीव वहां रहकर भले ही स्वयं के पाप फल को भुगतते हो, तो भी मनुष्य अवतार को प्राप्त किये हुए भाग्य शाली को स्वयं के दया धर्म का विकासकर उन जीवों के प्रति हमेशा दया भाव रखना चाहिए।

वनस्पति जीव का निरर्थक हनन करना उन दयावन्त आत्मा को शोभा नहीं देता है। प्रत्येक अनुभवी महापुरुष कहते हैं कि प्रकृति के अनुकुल रहनेवाला मनुष्य प्रकृति का आशीर्वाद प्राप्त करता है और प्रतिकुल रहनेवाले को शाप मिलता है।

जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य के लिए खाने, पीने, सोने, पहनने के लिए जो कोई पदार्थ काम आते हैं वे सभी लगभग वनस्पति रुप हीं हैं। मनुष्य मात्र जो कपड़े पहनते हैं वे सभी वनस्पति से बने हुए रहते हैं। रुई यह भी वनस्पति है। जो कुछ भोजन खाते हैं जैसे–गेहूँ चना आदि धान्य और सब्जी से लेकर फल तक के पदार्थ वनस्पति से ही उत्पन्न होते हैं।

जिस मकान में हम रहते हैं वे पृथ्वीकाय में से ही बनते हैं। मकान की खिड़कियाँ दरवाजे सोफा, पलंग, रजाई आदि पदार्थ भी वनस्पति जन्य हैं।

दूध, मलाई, दही, मक्खन, छाछ आदि पदार्थ को खाकर पुष्ट होनेवाला मनुष्य भी वनस्पति का भोक्ता ही होता हैं। क्योंकि जंगल

या खेत में उत्पन्न होनेवाली घास, कपास, खल वनस्पति ही है। गाय या भैंस जो खाते हैं, उसी से गाय के शरीर में दूध होता है, अर्थात् वह दूध भी वनस्पति जन्य हैं।

इस प्रकार मनुष्य मात्र पर अनंत उपकार करनेवाली यह वनस्पति मृत्यु के समय भी दवा औषध आदि तथा मरने के बाद भी शरीर को जलाने के लिए लकड़ी ही काम आती हैं।

मानव की मानवता तथा दयालुता :

मनुष्य मात्र को यह समझना है कि वनस्पति का भोक्ता मैं अकेला नहीं परन्तु मानव मात्र उसका भोक्ता है। अतः मैं दयालु बनूं तथा जान बुझकर किसी भी पदार्थ का दुरुपयोग नहीं होने दूं। वैसे ही पृथ्वीपर जन्मे हुए प्रत्येक मनुष्य को सब्जी, भाजी फल, धान्य, दूध, दही और मलाई सुलभ बने उसके लिए मैं मेरी आवश्यकता से अधिक नहीं खरीदूं। इसप्रकार दयावान मनुष्य को बाजार में बिकती हुई वस्तुएँ सभी को प्राप्त हो यह ध्यान रखना चाहिए। साग, सब्जी, फल, धान्य आदि के उत्पादन में प्रकृति जब उदार है तो मनुष्य को भी परिग्रह नियंत्रण का भाव रखना चाहिए। जिससे सभी वस्तुएं सभी को आसानी से मिल सके।

जैसे एक गांव में हजार मनुष्य की बस्ती है और दूध का उत्पादन कम है तब प्रत्येक मनुष्य को दूध खरीदते समय दूसरे मनुष्य का ध्यान रखना चाहीए। परंतु परिग्रहवंत दुगने पैसे देकर जरुरत से अधिक पांच, दस गुना दूध खरीदे और उसकी मलाई या रबड़ी बनाकर खावे। उस परिस्थिति में दूसरे मनुष्य तथा उनके बच्चों को दूध-चाय के बिना रहना पड़ेगा तथा फल और वस्त्र के बिना मनुष्य स्वयं की जरुरत के लिए चोरी, बदमाशी करेंगे तथा धनवानों के कट्टर बैरी बनेंगे। ऐसी परिस्थिति में भगवान महावीर का समतावाद कहाँ रहने पायेगा? समतावाद का क्रूर मजाक करके हम ही विषमतावाद को उत्पन्न कर जगत को चोरी, लूटमार

के रास्ते पर चढ़ानेवाले बनेंगे। बाद में स्वामी वात्सल्य और नोकारशी का भाव भी हवा खाता ही रहेगा।

यह अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि आज के भारत में श्रीमंत तथा उनके पुत्र पुत्री मर्यादारहित दूध, मलाई, मिठाई और फल फूल को खाते हुए भी बीमार रहते हैं। जबकि गरीब मनुष्य साधन के अभाव में समय पर दूध, फल, साग भाजी, रोटी, वस्त्र, दवा आदि नहीं मिलने के कारण बीमार रहते है और बेमौत मरते हैं। ये सभी अनिष्ट सर्वथा अनिष्ट मूलक तत्वों को देखने के बाद दया के सागर भगवान महावीर स्वामी ने परिग्रह के नियंत्रण पर जोर डालते हुए कहा कि हे मानव ! हे श्रीमंत! हे भाग्यशाली ! तुझे यदि सुखी बनना हो और तेरे बाल बच्चों को भी सुखी, शांत और सदाचारी बनाना हो तो रोज के काम आनेवाले पदार्थ पर परिग्रह की मर्यादा करना। तभी तू सच्चा सुखी बन सकेगा और संसार को सदाचारी बनाने का उपकार तू कर सकेगा।

मानव मात्र का स्वभाव परिग्रह को बढ़ाने का होने से वनस्पती के अनंत उपकार को भूलकर भी वनस्पति का नाश करेगा और दूसरे हजारों मनुष्यों को भूखे मारने का मौका खड़ा करेगा और ऐसा करने से स्वयं की जात को दुःखी महादुःखी रोगी–महारोगी बनायेगा। संसार के साथ वैर विरोध बढ़ाकर संसार को भी दरिद्र बनायेगा क्योंकि परिग्रह स्वतः महापाप है।

सिर्फ हीरा, मोती, माणक, सोना, चांदी तथा पीतल के बर्तनो की मर्यादा करने से कोई भी मनुष्य अपरिग्रही नहीं बन सकता। कुत्ते को रोटी तथा कबुतर को अनाज डालने से भी दयालु नहीं बन सकता। परन्तु जीवन के अणु–२ में जीवमात्र के प्रति दयावृत्ति लाने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में परिग्रह–परिमाण व्रत की आवश्यकता है। तभी वह मनुष्य स्वयं के कुटुम्ब पड़ोसी, गाँव तथा देश का मित्र बन सकेगा।

परिग्रह की मर्यादा करने से प्राप्त हुआ दया धर्म ही मनुष्य को सही अर्थ में मनुष्य बनाकर मनुष्य के शरीर में ही सच्चा देवतात्व प्राप्त करानेवाला बनेगा। अतः सभी जीवों को सुखी महासुखी बनाने के लिए भगवान महावीर स्वामी ने 'परिग्रह–परिमाणं' व्रत की प्ररूपणा करके जगदुद्धारक का यश प्राप्त किया है।

जो भाग्यशाली इस व्रत का पालन करेगा उनका दयाधर्म भी विकसित होते किसी भी प्रकार का परिग्रह बढ़ाने का उसका उत्साह नहीं रहेगा फिर चाहे पहनने के कपड़े, खाने की वस्तु या फल हो तो भी खरीदते समय उसकी आत्मा कहेगी कि बेचने आये हुए पदार्थ को जैसा में भोग सकता हूँ वैसे ही दूसरे मनुष्य भी भोग करने के हकदार है। इससे मेरी आवश्कतानुसार ही खरीदना है पर संग्रह करके पेटीयाँ नहीं भरना है इस प्रकार कपड़े तथा अनाज की खरीदी में भी परिग्रह ऊपर नियंत्रण करने की भावना होते ही मनुष्य में सच्चा दया धर्म तथा मैत्री भाव प्रकट होगा। मानव मात्र को आर्त ध्यानरहित जीवन बनाने के लिए परिग्रह नियंत्रण के सिवाय दूसरा कोई धर्म नहीं है।

एक ही झाड़ में संख्यात असंख्यात जीवों की विद्यमानता होने से तथा हजारों वृक्षों को काटने के बाद उत्पादित कोयले का व्यापार तथा उसके द्वारा लाखों, करोड़ों की कमाई को महावीर स्वामी का अनन्य उपासक (दयाधर्म का जिसको स्पर्श हुआ होगा) कर सके ऐसा नही है, क्योंकि अंगार कर्म, वनकर्म, और दवदाह कर्म अत्यन्त निन्दनीय पाप है। ऐसे पापस्थानक का सेवन करनेवाले मालिक के हृदय में महावीर स्वामी का दयाधर्म स्थायी नहीं बन सकता है। अतः दया के सागर भगवान महावीर स्वामी ने ऐसे पाप कर्म को त्याज्य–सर्वथा त्याज्य कहा है।

कारण बताते हुए कहा है कि अनंतानंत जीवों की हत्या द्वारा मिला हुआ रुपया बंगला–हीरा–मोती के आभूषण मोटर भी अन्तिम समय

में उसके मालिक को आर्तध्यान या रौद्रध्यान से बचा सके ऐसा संभव नही है। मरते समय उसकी जैसी भावना रहेगी प्रायः वैसी गति ही उसके भाग्य में रहेगी।

आर्तध्यान में मरनेवाला मनुष्य देव या मनुष्य गति को प्राप्त नहीं कर सकता है बल्कि तिर्यंच योनी को ही प्राप्तकर सकता है तथा रौद्रध्यान में मरनेवाला भाग्यशाली उसका संग्रह किया हुआ एक भी पैसा, आभूषण वस्त्र आदि पदार्थ नर्कगति में जाते हुए उसका पल्ला पकड़कर रोकने में समर्थ नहीं बन सकता है।

अतः दया धर्म के विकास, समता धर्म की प्राप्ति और अहिंसक धर्म की ट्रेनिंग लेने के लिए वनस्पति और अन्य पदार्थ पर नियंत्रण करना अत्यन्त जरुरी है।

अधिक पीछे की शताब्दियों तक न जाय पर जर्मन की लड़ाई के बाद मनुष्य ने परिग्रह नियंत्रण की शिक्षा ली होती तो आज हमारा भारत देश सभी प्रकार से सुखी सन्तोषी और आजादी द्वारा आबादी की उत्पन्न कर सकता।

परन्तु परिग्रह के लोभ में, स्वयं के व्यापार में संयम कर सका नहीं इसलिए झूठ, प्रपंच, झूठा माप–तोल ब्याज तथा कालाबाजार द्वारा दो नम्बर का पैसा, झूठे तथा बनावटी हिसाब के चोपड़े मिलावट आदि अनेक धंधे हमेशा हुए तथा फलस्वरुप इस भव को तथा परभव का बिगाड़ा और साथ–२ जैनधर्म तथा जैन गुरु को भी कलंकित किया है।

यदि जैन धर्म को सर्वोपरी धर्म तथा मोक्ष प्राप्त का मौलिक धर्म हम मानते हो तो सर्व प्रथम मानव मात्र को परिग्रह–परिमाण किये बिना नहीं चल सकता है।

अन्यथा परिग्रह संज्ञा यदि कंट्रोल से बाहर हो गई तो लोभ नाम का राक्षस, कामदेव नाम का गुंडा, क्रोध नाम का भूत तथा माया नाम की नागिन ही अपने जीवन में शेष रहेगी।

॥ तीसरा उद्देशक समाप्त ॥

शतक आठवां उद्देशक ४

जीवों की अछेद्यता :

प्रश्नकार गौतमस्वामी पूछते हैं कि कछुआ और उसकी पंक्ति, गोधा और उसकी पंक्ति, मनुष्य छेद डाले अर्थात् कछुआ आदि को अनेक टुकड़े कर डाले तो उन टुकड़ों के बीच में रहे हुए आकाश प्रदेश में कटे हुए जीव के प्रदेश रहते हैं कि नहीं ?

जवाब में भगवान ने कहा कि हे गौतम ! उन आकाश प्रदेशो में जीव के प्रदेशों का स्पर्श रहता है।

आयुष्यकर्म का अन्तिम प्रदेश पूर्ण किये बिना कोई भी जीव शरीर से मुक्त होता नहीं है उस स्थिति में शरीर के दो तीन टुकड़े हो जाने पर भी आत्मा के प्रदेश उतने आकाश में रहेंगे ही।

आत्मा के असंख्य प्रदेश है। वे आत्मा से किसी भी काल में अलग होते नहीं है। जबतक जीव शरीर में रहेगा तबतक शरीर के बिखरे हुए टुकड़ो में भी और अंतराल में भी आत्मा के प्रदेश विद्यमान रहते हैं ऐसा जैनागम मानता है। अब आत्मप्रदेश से युक्त उन टुकड़ों को कोई मनुष्य अंगुली या सलाई से हिलाते हैं तो भी उन प्रदेशों को कोई नुकसान होता नहीं हैं। क्योंकि प्रदेशों को काटना, जलाना, तोड़ना आदि कार्य संभवित नहीं हैं। आचारांग सूत्र में भी कहा हैं कि 'नछिद्यन्ते न भिद्यन्ते, न दह्यन्ते, न हन्यन्ते' अर्थात् आत्मा के प्रदेश छेदाते नहीं, भेदाते नहीं किसी से मराते भी नहीं इसीलिए आत्मा को अछेद्य कहा है।

पृथ्वी आठ कहीं है वह इस तरह है–रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुका प्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमः प्रभा, तमस्तमप्रभा और आठवी पृथ्वी इषत् प्राग्भारा (सिद्धशिला)।

हे प्रभु! रत्नप्रभा पृथ्वी चरम है या अचरम? चरमा अर्थात् प्रान्त वर्तिनी।

अचरमा अर्थात् मध्यवर्तिनी।

शब्द सापेक्ष होने से किसी अपेक्षा से चरम और किसी अपेक्षा से अचरम हो सकती है। भगवान ने कहा कि रत्नप्रभा पृथ्वी चरमा (प्रान्तवर्तिनी) नहीं है। क्योंकि रत्नप्रभा पृथ्वी में यदि दूसरी पृथ्वी हो तो उसमें चरमा का व्यवहार हो सकता है पर ऐसे नहीं होने से चरमा नहीं है वैसे ही रत्नप्रभा पृथ्वी के बाहर की तरफ दूसरी पृथ्वी हो तो उस अपेक्षा से अचरमा (मध्यवर्तिनी) कह सकते है। पर ऐसे नहीं होने से अचरमा और चरमता जब एक वचन में संभव नहीं तो

बहुवचन में भी संभव नहीं हैं। इस प्रकार चरमा या अचरमा प्रदेशवाली भी नहीं है तब उसमें असंख्यात प्रदेशों की अवगाढ़ता को कल्पे तो प्रदेशों की अपेक्षा से चरमान्त प्रदेसवाली और अचरमान्त प्रदेशवाली भी कह सकते हैं।

॥ चौथा उद्देशक समाप्त ॥

शतक आठवां उद्देशक ५

क्रियाओं का अल्प बहुत्व :

राजगृही नगर में गौतमस्वामी के पूछने से भगवान ने कहा कि– हे गौतम ! क्रिया पांच प्रकार की है (१) कायिकी, (२) अधिकरणिकी, (३) प्राद्वेषिकी (४) पारितापनिकी, (५) प्राणतिपातिकी।

इन पांचों क्रियाओं का वर्णन विस्तार से पहले भाग में आ चुका है।

प्रज्ञापनासूत्र में आरंभिकी, पारिग्राहिकी अप्रत्याख्यानी, माया प्रत्ययिकी और मिथ्यादर्शनिकी तक की संख्या हैं।

संसारभर में अनंतानंत जीव राशि हैं और सभी के कर्म अलग अलग है। अतः जीवमात्र की क्रिया भी एक दूसरे से अलग मानना ही सच हकीकत है। गौतमस्वामी के पूछने का आशय यह है कि कौनसी क्रिया किससे अधिक है, और कम है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि–सबसे अल्प मिथ्याप्रदर्शनिकी क्रिया है कारण यह है कि यह क्रिया केवल मिथ्यादर्शन से ही होती है। अनंत संसार में परिभ्रमण करते समय जिन जीवों को सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ वे जीव इस क्रियावाले होते हैं।

अप्रत्याख्यानी क्रिया इससे विशेषाधिक होती है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव इस क्रिया के मालिक है। संयोग से सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेपर भी अप्रत्याख्यान कषाय के तीव्र उदय से किसी भी प्रकार की विरति, पाप का त्याग कर सकने जितना समर्थ नहीं होने से उस जीव को अप्रत्याख्यानी क्रिया लगती हैं।

पारिग्राहिकी क्रिया इससे भी विशेषाधिक इसलिए है कि इसके मालिक मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि और देश विरति जीव होते हैं।

ज्ञानपूर्वक सद्गुरु के पास देशविरति धर्म स्वीकारने से इस पुण्यशाली को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में मिथ्यादर्शन नहीं होता है तथा अप्रत्याख्यानी की क्रिया भी नहीं होती है। ऐसा होनेपर भी गृहस्थाश्रम के परिग्रह का त्याग नहीं होने से उनको यही क्रिया शेष रहती है।

इस करते भी आरंभिकि क्रिया सर्वाधिक इसलिए है कि इसके मालिक मिथ्यादर्शनी, अविरत सम्यग्दृष्टि देशविरति और प्रमत्त संयमी जीव भी है। अर्थात् सर्वविरतिधर्म स्वीकारने के बाद भी गुरुकुलवास तथा स्वाध्याय की कमजोरी होने से सर्वविरतिधर मुनिराज भी प्रमादी होंगे।

अतः उनका मानसिक, कायिक और वाचिक व्यापार भी आरंभसमारंभवाला होने से भगवान ने प्रमत संयमी को इस क्रिया का मालिक कहा है।

माया प्रत्ययिकी क्रिया के स्वामी ऊपर के चार तथा अप्रमत्त संयमी, यदि कषायवंत है तो इस क्रिया के मालिक हैं। इससे विशेष बर्णन जानने के लिए प्रज्ञापनासूत्र का २२ वां पद देखिए।

मिथ्यादर्शनी जीव करते अविरत सम्यग्दृष्टि जीव हजार बार उत्तम है उस करते देशविरतिधर उत्तम है, उनसे प्रमादी होनेपर भी सर्वविरती धर उत्तम है और कषायी होनेपर भी अप्रमत्त अधिक श्रेष्ठ हैं।

अतः संसार की माया को गौण करके मिथ्यात्व तथा उसके भाव को दूर करने की भावना रखनी चाहिए।

मिले हुए सम्यक्त्व को शुद्ध करना, विरतिधर बनने की भावना रखना और अन्त में वृद्धावस्था पास आनेपर भावदीक्षा लेने का उत्साह रखना।

द्रव्य-दीक्षा न ले सके तब तक रोज रोज खाने पिने, ओढ़ने पहिनने आदि में अच्छी से अच्छी मनपसंद वस्तु का त्याग करना चाहिए।

॥ पांचवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक आठवां उद्देशक ६

मंखलीपुत्र गौशाला निर्धन था, वास्तव में उसका नाम गोशाल था। परन्तु गायों के बाड़े में जन्म लेने के कारण सभी उसे गौशाला नाम से ही बुलाते थे। एक दिन किसी श्रीमंत के यहां दीर्घ तपस्वी महावीर स्वामी को पारणा करते देख उसके मन में हुआ कि इस तपस्वी का यदि मैं शिष्य बनूं तो मुझे भी खूब खाने को मिलेगा। उस आशय से स्वयं ही साधु के कपड़े पहन लिए तथा भगवान के शिष्य के रूप में कभी उनके साथ तथा कभी अलग विचरने लगा। परन्तु आंतरिक जीवन का गूढ़ दंभी, माया मृषावादी प्रपंची और केवल आहार संज्ञा का गुलाम होने से, बाह्यदृष्टि से भगवान के साथ रहनेपर भी लगभग भगवान का शत्रु बनकर ही रहता था। श्रद्धाबिना का गौशाला थोड़ा बहुत सीखा। कुछ जाना तथा भगवान के पास से तेजोलेश्या की प्राप्ति होने के बाद तो वह मन वचन काया से भगवान का कट्टर दुश्मन बन चुका था। भगवान महावीरस्वामी के पूर्वभव के कर्म बहुत ही विचित्र होंगे, जिससे खास सेवा के लिए इन्द्र महाराजा ने नियुक्त किये सिद्धार्थ देव और दुसरा गौशाला इन दोनों के उपद्रव से महावीरस्वामी को बहुत अधिक कष्ट सहन करने पड़े है। इसलिए पुरुष महापुरुष करते भी कर्मसत्ता बहुत ही बलवान है।

तेजोलेश्या प्राप्त होने के बाद तो अत्यन्त गर्विष्ठ बना हुआ गौशाला स्वयं ही अपने को तीर्थंकर माननेवाला हो गया। वाचालता तथा कुछ पंडित होने से बहुत अधिक संख्या में स्वयं का संघ स्थापित कर लिया

और समय समय पर गौशाला के भक्त चलते रास्ते महावीर के शिष्य से भेट होती तब कुछ न कुछ चर्चा भी कर लेते थे। परन्तु कड़वे तुम्बे के बीज में से अमृत फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वैसे ही गौशाला दिन प्रतिदिन निर्ध्वन्स परिणामवाला बनता गया।

अनुभवी भी कहते हैं कि–"स्वयं कुपात्र हो और साथ में थोड़ा पुण्य और विद्या मिल जाय तो वह व्यक्ति स्वयं के लिए, कुटुम्ब, समाज तथा देश के लिए भी काले नाग से भी अधिक खतरनाक बनता है।" गौशाला की भी यदि दशा थी।

इस उद्देशक में उसके भक्तों की भगवान के शिष्यों के साथ जो चर्चा हुई है उसके निर्णय के लिए गौतमस्वामी ने भगवान से पूछा है, जिसका सार यह है—

भगवान महावीर स्वामी के श्रमणोपासक, श्रावक, शिक्षाव्रत, अणुव्रत, तथा गुणव्रत को स्वीकारने से सावद्यत्यागी और प्रत्याख्यानी हैं। ऐसे परिस्थिति में जब वे दो घड़ी का सामायिक करने बैठते हैं। तब सामायिक लेने के पहले स्वकीय वस्त्र, आभूषण आदि पदार्थ उतारकर त्याग करते हैं। अब उन वस्त्रों तथा आभूषणों को यदि कोई दूसरा मनुष्य चोरकर ले जाय तो फिर सामायिकव्रतधारी स्वयं की सामायिक समाप्त होने के बाद स्वयं के त्याग किये हुए वस्त्रादि का शोध करता है तब वह श्रावक स्वयं के वस्त्र का शोध करता है? या दूसरों के वस्त्र का? क्योंकि सामायिक लेने के पहले उस श्रावक ने सभी वस्तु का त्याग कर देने से वे पदार्थ उसके नहीं रहते और जो पदार्थ उसके नहीं है वे दूसरे के कहलाते हैं।

इस बात को गौतमस्वामी पूछते है कि–हे प्रभु! वह श्रावक स्वयं की वस्तु शोधता है या दूसरे की?

भगवान ने कहा कि हे गौतम! सामायिक समाप्त होने के बाद वह श्रावक उतारे हुए वस्त्रादि जो स्वयं के ही है उनको शोधता है अर्थात्

वह स्वयं के ही वस्त्र शोधता है। दूसरे के नहीं। सामायिक लेनेवाला भाग्यशाली यद्यपि उस समय ऐसी कल्पना जरुर करता है कि चांदी, सोना, मकान मेरा नहीं है। आभूषण वस्त्र भी मेरे नहीं है। यहांतक की संसार कोई वस्तु मेरी नहीं हैं। इसप्रकार स्वयं की सभी वस्तुओं का त्याग करने पर भी हे गौतम ! वह श्रावक अपने पदार्थो के प्रति मूर्च्छा (ममत्व) को छोड़ सकने में समर्थ नहीं बन सकता है। अतः हे आयुष्यमान् गौतम ! "परिग्रह" अर्थात् पदार्थ का समूह यही सच्चा परिग्रह नहीं है परन्तु मेरे शासन में "मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" अर्थात् पदार्थ मात्र के प्रति रही हुई मूर्च्छा, ममता, अपनापन ऐसे हृदय के भाव ही परिग्रह है। इतना त्याग गृहस्थाश्रम में रहा हुआ गृहस्थ कर नहीं सकता है। अतः श्रावक के व्रत–नियम पच्चक्खाण चाहे जितने अच्छे हो तो भी उसको ममता तो रहती ही है और ममता यही परिग्रह है। इसी कारण से सामायिक पारकर उठनेवाला गृहस्थ स्वयं के वस्त्र को ही शोधता है।

सामायिक लेने से पहले यद्यपि उसने वस्त्रों का त्याग किया था तो भी मूर्च्छा का त्याग नहीं होने से सामायिक पारने के बाद भी वे पदार्थ उसी के रहते हैं दूसरे के नहीं।

इसी तरह सामायिक लेकर बैठे हुए गृहस्थ की स्त्री को यदि दूसरा मनुष्य भोग ले तो वह अनाचारी मनुष्य श्रावक की स्त्री के साथ अनाचार करता है या दूसरे की स्त्री के साथ ?

जवाब में भगवान ने कहा कि–वह अनाचारी मनुष्य सामायिक लेकर बैठे हुए श्रावक की स्त्री के साथ ही अनाचार करता है दूसरी के साथ नहीं क्योंकि सामायिक लेकर बैठे हुए श्रावक को यद्यपि यह भाव अवश्य होता है कि मेरे पिता, मां, स्त्री, परिवार कुछ नहीं है पर इतना होनेपर भी गौतम ! सामायिकवाले श्रावक ने सब छोड़ दिया है परन्तु सगा संबंधी के साथ स्नेह की माया होने से वह स्त्री उसी की रहती है दूसरे की नहीं।

अतः स्नेहपाश ही बड़े से बड़ा पाश है। श्रावक धर्म में रहते श्रावक के लिए अनुमति का त्याग अत्यन्त दुष्कर है। क्योंकि गृहस्थाश्रम का भार उसी पर है। "दुविहं तिविहेणं" का अर्थ है कि मन–वचन–काया से मैं करूंगा नहीं और कराउंगा नहीं। इसमें अनुमोदने का त्याग नहीं है।

प्राणातिपातादि की विरती :

संख्याते असंख्यात भवों की परम्परा से बहुत ही मजबूत और चिकनी की हुई कषायों की वृत्ति (मानसिक व्यापार) तथा प्रवृत्ति (कायिक व्यापार) को लेकर जीव को सम्यग्दर्शन (आत्मदर्शन) नहीं होता है।

मंदिर का द्वार बन्द हो तो जबतक वह द्वार नहीं खुले तब तक कोई भी मनुष्य गभारा में (मंदिर का मूल भाग) विद्यमान होनेपर भी भगवान के दर्शन कर सकने में समर्थ नहीं बन सकता है। दर्शक और दृश्य की विद्यमानता होनेपर भी द्वार अंतराय भूत बनता है। उसी प्रकार पंच-भूतात्मक शरीर में चैतन्य स्वरूपी ज्ञान, दर्शन चारित्र का मालिक, सच्चिदानंदमय आत्मा विद्यमान होनेपर भी कषायों के अत्यन्त मजबूत बने हुए द्वारों में सर्वथा बन्द होने से अपने स्वयं का दर्शन किसी भी जीवात्मा को नहीं हो सकता हैं।

भ्रमज्ञान का मालिक जैसे स्वयं के रोग की औषधी को लेने के लिए जहां चाहे फाका मारता है तो भी सम्यग् निदान तथा औषधी प्राप्त नहीं कर सकता है। वैसे ही अज्ञानावृत यह जीव भी 'दरिसण दरिसण करतो फिरे, तो रण रोज समान'..................."इस स्थान पर आत्मदर्शन होगा, वहां होगा इस तरह पूरे ब्रह्मांड में प्रत्येक स्थान, प्रत्येक अवतार में आत्म दर्शन को लेने के लिए रखड़ चुका है। परन्तु कहीं भी आत्मदर्शन या सम्यग्-दर्शन को पाने के लिए समर्थ नहीं हो सका और संसार का परिभ्रमण भी नहीं मिटा सका।

इसका सबल तथा मौलिक-कारण बताते हुए जैन शासन ने कहा है कि अनंत भव की माया को लेकर आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनंतानुबंधी-कषायो की जो प्रगाढ़ छाया पड़ी है उस कारण से लगभग बिलकुल असमर्थ बनी हुई आत्मा स्वयं की आत्मीयता का दर्शन प्राप्त नहीं कर सकती है। संसार का बड़ा अधिकांश मानव सभूह ही हमारे सामने प्रत्यक्ष है।

(१) कितने ही जीव मनुष्य अवतार प्राप्त करके भी बाल्यकाल से ही जीवन के अंत तक शराबपान, जीववध, मारकाट, झूठ, प्रपंच तथा अनेक स्त्रियों के साथ भोगकर्म में जीवन पूरा कर रहे हैं।

(२) सभ्य जाति में जन्मा हुआ तथा पढ़ा हुआ होनेपर भी मायावश असत्कर्मो में तथा असभ्यकर्मो में जीवन व्यतीत कर रहे है।

ऐसे जीवात्मा को एक सेकण्ड के लिए मैं कौन हूँ ? मनुष्य अवतार कैसे मिला है ? मरकर मेरा क्या होगा ? उच्च खानदान में जन्म होनेपर भी मेरे विचार इतने गंदे क्यों हैं ? धर्मपत्नी है तो भी मैं दुराचारी क्यों बना ? इत्यादि विचार भी उनको आते नहीं है।

इस तरह अनंतानुबंधी कषायरुपी मोहकर्म के तीव्र नशे में बेभान बनकर ऐसे जीवों का अधिकांश समय पाप में, पापकार्य में और पाप विचारों में ही पूरा होता है। जिस से स्वयं की आत्मा के लिए विचार भी करने का समय नहीं रहता।

जब भवांतर में संसार की रखड़पट्टी, यमदूत तथा परमाधामी के डंडो की मार खाने के बाद आत्मा का प्रबल पुरुषार्थ जाग उठता है तब आत्मा अपनी असीम शक्ति के द्वारा वह अनंतानुबंधी कषाय की चौकड़ी को कम या अधिक अंश में कंट्रोल में करता है। उस समय मंदिर के द्वार खुलते ही जैसे सभी को परमात्मा के दर्शन होते हैं। वैसे ही आत्मा में भी कुछ राग-द्वेष का उपशम, मद तथा मदन का, दमन संसार के प्रति उद्वेग, भोग विलास के प्रति निर्वेद (वैराग्य), जीवमात्र प्रति अनुकंपा, तथा

जीवादि तत्वों में श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा आत्मा सम्यग्दर्शन की मालिक बनती है। स्वयं के अभूतपूर्व पुरुषार्थ द्वारा अनेक कनिष्ठ कर्म की माया के मूल को कमजोर करता है या उखाड़ फेंकता है। इससे कषायों का जोर करीब करीब बहुत ही कमजोर बन जाता है। इतना होनेपर भी अनादिकाल के अनंत भवों में उपार्जित कर्म, सम्यग्दर्शन होनेपर भी कोड़ाकोड़ी सागरोपम जितने शेष रहते हैं।

यद्यपि साधारण जीव के लिए सर्वथा अजेय अनंतानुबंधी कषाय किसी समय दब जाता है। तो भी उसका छोटा भाई जैसा अप्रत्याख्यानी कषाय का जोर विद्यमान होने से दूसरे कोई व्यक्ति या पुद्गलिक पदार्थ के प्रति हुआ क्रोध–मान–माया–लोभ एक वर्ष तक मिट नहीं सकता है। जबकि सम्यग्दर्शन प्राप्त हुई आत्मा को यद्यपि वीतराग परमात्मा का पूजन भजन, कीर्तन, दया, दान, आदि सत्कार्य करने को अच्छा लगता है और स्वयं की श्रद्धा के अनुसार करता भी है तो भी स्वयं की आत्मा को नये आनेवाले पाप मार्ग से दूर करने में समर्थ बन सकता नहीं है।

परन्तु गुरु भगवंत के मुख से व्याख्यान सुनते तथा सदनुष्ठान (पौषध, प्रतिक्रमण, सामायिक, व्रत पच्चक्खाण) को करते उसकी आत्मा कुछ नर्म पड़ती है और पवित्र अनुष्ठान में जैसे जैसे एकाग्रता बढ़ती है वैसे वैसे उसकी आत्मा पर शेष रहे कोड़ाकोड़ी कर्म में से पल्योपम के पल्योपम जितने स्थितिवाले कर्म भी धीरे धीरे हटने लगते हैं और वह भाग्यशाली दूसरे अप्रत्याख्यानी नाम के कषाय को मारकूट के कमजोर कर डालता है।

जैसे "जिसको पिपासा हो अमृतपान की किम भांजे विषपान" उसके रोम रोम में बस गया होता है।

जिसको वीतरागता प्राप्त करने की तीव्र भावना हो तो वह भाग्यशाली किसी पल भी विषपान जैसे कषाय का सेवन करेगा नहीं, दूसरे से करायेगा नहीं और जहां कषाय रहेंगे वहां से दूर रहेगा।

इसतरह स्वयं की आत्मा को पाप में से पापभावना तथा पाप संस्कारों में से निवृत्त करके अप्रत्याख्यान कषाय को सर्वथा या देश से दबा देगा। तब उस भाग्यशाली को भिन्न भिन्न निरर्थक पाप को और पापी पेट के लिए कराते हुए पाप को भी त्यागने की भावना होते ही देश विरति धर्म अर्थात् स्थूलरुप से हिंसादि पाप का त्याग करेगा। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र द्वारा सशक्त बनी हुई आत्मा स्वयं की परिस्थिति के प्रमाण से स्थूलतया पापों को नीचे लिखे प्रमाण से त्याग करेगा वह इस प्रकार हैः—

(१) मन, वचन और काया से करता नहीं, कराता नहीं और अनुमोदता नहीं।

(२) मन, वचन से करता नहीं, कराता नहीं और अनुमोदता नहीं।
(३) मन, काया से करता नहीं, कराता नहीं और अनुमोदता नहीं।
(४) वचन तथा काया से करता, कराता और अनुमोदता नहीं।
(५) केवल मन द्वारा करता, कराता और अनुमोदता नहीं।
(६) केवल वचन द्वारा करता, कराता और अनुमोदता नहीं।
(७) केवल काया द्वारा करता, कराता और अनुमोदता नहीं।
(८) मन, वचन, काया द्वारा करता, कराता नहीं।
(९) मन, वचन, काया द्वारा करता नहीं, अनुमोदता नहीं।
(१०) मन, वचन, काया द्वारा कराता तथा अनुमोदता नहीं।
(११) मन, वचन से करता, कराता नहीं।
(१२) मन, काया से करता तथा कराता नहीं।
(१३) वचन और काया से करता, कराता नहीं।
(१४) मन, वचन से करता तथा अनुमोदता नहीं।
(१५) मन, काया से करता और अनुमोदता नहीं।
(१६) वचन और काया से करता तथा अनुमोदता नहीं।

(१७) मन, वचन से करता तथा अनुमोदता नहीं ।

(१८) मन, शरीर से करता तथा अनुमोदता नहीं ।

(१९) वचन तथा काया से करता, अनुमोदता नहीं ।

(२०) सिर्फ मन द्वारा कराता, नहीं ।

(२१) वचन द्वारा कराता, कराता नहीं ।

(२२) शरीर द्वारा कराता, कराता नहीं ।

(२३) मन द्वारा कराता, अनुमोदता नहीं ।

(२४) वचन द्वारा कराता, अनुमोदता नहीं ।

(२५) शरीर द्वारा करता, तथा अनुमोदता नहीं

(२६) मन द्वारा करता, अनुमोदता नहीं ।

(२७) वचन द्वारा करता, अनुमोदता नहीं ।

(२८) शरीर द्वारा करता, अनुमोदता नहीं ।

(२९) मन, वचन, काया से कराता नहीं ।

(३०) मन, वचन, काया से कराता नहीं ।

(३१) मन, वचन, काया से अनुमोदता नहीं

(३२) मन, वचन, काया से करता नहीं ।

(३३) मन, शरीर से करता नहीं ।

(३४) वचन, काया से करता नहीं ।

(३५) मन, वचन से कराता नहीं ।

(३६) मन, वचन से कराता नहीं ।

(३७) वचन, काया से कराता नहीं ।

(३८) मन, वचन से अनुमोदता नहीं ।

(३९) मन, काया से अनुमोदता नहीं ।

(४०) वचन, काया से अनुमोदता नहीं ।

(४१) मन से करता नहीं ।

(४२) वचन से करता नहीं।
(४३) शरीर से करता नहीं।
(४४) मन से कराता नहीं।
(४५) वचन से कराता नहीं।
(४६) शरीर से कराता नहीं।
(४७) मन से अनुमोदता नहीं।
(४८) वचन से अनुमोदता नहीं।
(४९) शरीर से अनुमोदता नहीं।

उपरोक्त अनुसार स्थूल प्राणातिपात विरमण के ४९ भांगे होते हैं।

जीवमात्र की परिणति और परिस्थिति कर्म के कारण से सर्वथा अलग-२ होती है। इसी कारण से ही प्राणातिपात (हिंसा) के त्याग में प्रत्येक जीव अपनी-२ मर्यादा में रहकर हिंसा का त्याग करते है। जैसे-२ आत्मबल बढ़ता जाता है वैसे-२ मन, वचन, काया से करना, कराना और अनुमोदना को भी त्याग देता है।

पापकर्म जैसे अनंतानंत है वैसे ही उसके अध्यवसाय भी अनंत है अतः मोहमाया के वश में बना हुआ जीव अनादिकाल से प्राणातिपात के किसी भी भाँगे को समझदारीपूर्वक स्पर्श नहीं कर सका।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होते ही जीवात्मा पाप के अध्यवसाय पर कंट्रोल करने में समर्थ बनता है और जितने अंश में समर्थता आती है उतने अंश में प्राणातिपात विरमण करता एक दिन ऐसा भी आ जाता है। उस समय जीव हिंसा को स्वयं मन, वचन, काया से करता नहीं, कराता नहीं और दूसरे हिंसक मनुष्य के पापकार्यों का अनुमोदन भी नहीं करता है। विरति का स्पर्श जैसे बढ़ता जाता है। उस समय भूतकाल में हुई हिंसा की भी निंदा करता है। वर्तमानकाल में प्राणातिपात न हो उसके लिए आत्मा में जबरदस्त जागृति लाता है।

इस प्रकार तीनों काल के-४९-४९-४९-१४७ भांगे हैं।

इस तरह मृषावाद विरमण, अदत्तादान विरमण, मैथुनविरमण और परिग्रह विरमण के लिए उपरोक्त भांगे समझना।

जबतक जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो तब तक उसके जीवन में पापों की निवृत्ति नहीं होती है और उसके सद्भाव में भी विरति का संभव तत्काल होता नहीं है। पर जैसे-२ सम्यग्ज्ञान होता जाता है वैसे-२ पाप की विरति सुलभ बनती हैं।

अतः भाग्यशाली को गृहस्थाश्रय में रहकर भी जो पाप सर्वथा निरर्थक हो उसका त्याग सबसे पहले होने चाहिए उसके बाद जैसे-२ पापभीरुता बढ़ती जाय वैसे-२ पापी पेट के लिए कराते हुए पाप को भी त्यागकर सही अर्थ में श्रमणोपासक बने।

सारांश यह कि इस प्रकार के भाग्यशाली जैनमतानुयायी श्रमणोपासक ही होते हैं। दूसरे अर्थात् गोशाला के भक्त नहीं। क्योंकि यथार्थज्ञान के बिना किसी को भी पाप की विरति नहीं होती है।

आजीविक के सिद्धांतो की वक्तव्यता :

आजीविक अर्थात् गोशाला के भक्त यह मानते हैं कि "संसार के जीव अप्रासुक सचित्ताहारी हैं। जिससे वे खानेलायक प्राणियों को लकड़ी द्वारा मारकर तलवार या छुरी से छेदकर, शूल आदि से भेदकर पांख आदि उखेड़कर और शरीर की चमड़ी वगैरह उतारकर उस प्रकार का आहार कर सकते हैं।

संसार के सभी जीव जब इस तरह जी रहे है तब गोशाला मत के बारह प्रकार के उपासक गृहस्थ जैसे ताल तालप्रलंब, उदविध, संविध, अलविध, उदय, नामोदय, कर्मोदय, अनुपालक, शंखपाल, अयंपुल और कातर आदि गोशाला को ही अर्हत् (अरिहंत-जिन आदि) मानते हैं। वह माता–पिता की सेवा करनेवाले होते हैं। पांच प्रकार के उदुंबर के फल को

फल, बड़ के फल बोर, पिपला का फल, आदि पदार्थ स्वयं के सिद्धांत वर्जित होने से खाते नहीं है। प्याज, लहसुन, कंद सूरण मूला आदि वस्तु का भी उपयोग नहीं करते। जिस बैल द्वारा व्यापार करते है उसकी खसी भी नहीं करते, नाक छेदते नहीं और त्रस जीवों की हत्या हो वैसे अनाज का भी व्यापार नहीं करते। उपरोक्त वक्तव्य को ध्यान में रखकर भगवती सूत्रकार कहते हैं कि गौशाला के उपासक भी उपर्युक्त भोजन लेते नहीं तो फिर जिन भाग्यशाली के रोम-२ में महावीरस्वामी का वास हो श्वासोश्वांस में जैनशासन की रट हो, अहिंसा के प्रति अटूट श्रद्धा हो और भवांतर की भ्रमणा से वैराग्य हुआ हो, जीव अजीव आदि तत्व के ज्ञाता, पुण्य पाप के फल को जाननेवाले आश्रव बंध को हेय समझनेवाले तथा संवर और निर्जरा को उपादेय समझनेवाले महावीरस्वामी के श्रमणोपासकों को तो संसारवर्धक क्रियाएं छोड़ देनी चाहिए। धीरे-२ छोड़ने की ट्रेनिंग लेनी चाहिए। इसलिए जैनशासन ने १५ प्रकार के कर्मादान को त्याज्य कहा है।

जिससे भयंकर हिंसा हो दोइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय आदि अनेक जीवों का हनन। हो ऐसे व्यापार को कर्मादान कहा है—

"कर्माणि आदीयते संगृह्यते इति कर्मादानम्"

वे कर्मादान हम वंदितुसूत्र की गाथा से जानते हैं—

"इंगालिवणसाड़ी भाड़ी, फोडी सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्यं चेव दंत लक्ख, रस, केस, विस, विसयं ॥२२॥

एवं खु जंतपिल्लण, कम्मं निलंछणं च दवदाणं।
सरदह तलास सोसं असई पोसं च वज्जिज्जा ॥२३॥

अंगारकर्म, भड़भूंजा, सोनी, लुहार, कुम्हार आदि को भट्टी और कोयले आदि पकाने।

वनकर्म—जंगल, साग, पान, लकड़ी काटनी तथा कटवानी।

शकटकर्म—गाड़ी, गाड़ा आदि वाहन और उसके अंगो का व्यापार करना।

भाटीकर्म—घोड़ागाड़ी, बैल आदि को किरायेपर देना।

स्फोटकर्म—खेती, कुंआ, बोरींग आदि।

दंतवाणिज्य—चमड़ा, जीवित जानवरों की चमड़ी, शिंगड़ा, हाथी-दांत, कस्तूरी, बाल, पींछ आदि का व्यापार।

रसवाणिज्य—मद्य, मांस, शराब, मक्खन आदि का व्यापार।

विष वाणिज्य—अफीम, सोमल, खटमल मारने की दवा जहर के इन्जेक्शन, पावडर आदि का व्यापार।

केशवाणिज्य—मोर, तोते आदि के बाल का व्यापार।

लाख वाणिज्य—लाख आदि का व्यापार।

यंत्रपीलन कर्म—कपड़े की मील, कपास का जीन, अनाज पीसने की चक्की आदि मशीनों का व्यापार।

निलंछन कर्म—किसी के अंगोपांग को छेदने, डाम देना आदि।

दवदाह कर्म—जंगल, मकान आदि में आग लगाना।

शोषणकर्म—तालाब आदि के पानी को सुखाने का ठेका आदि लेना।

असतीपोषण—मच्छीमार, कसाई, चोर, जुआरी, वेश्या आदि का पोषण हो वैसा व्यापार करना।

इत्यादि कर्मादान श्रावक को त्यागने योग्य है।

॥ छठा उद्देशक समाप्त ॥

शतक आठवां उद्देशक ७

मुनिराज के वैयावच्चके फलसंबंधी प्रश्नोत्तर :

पंचमहाव्रतधारी मुनिराज के चरण सान्निध्य में रहकर दर्शन, ज्ञान, चरित्रपूर्वक श्रावकधर्म की आराधना करनेवाले गृहस्थ को श्रमणोपासक कहते हैं। जो चतुर्विध संघ में तीसरे नम्बर में हैं। स्वयं की शक्ति और परिस्थिति अनुसार पूरे चतुर्विध संघ के योगक्षेम के लिए जवाबदार बनकर बाल, ग्लान, वृद्ध, आचार्य, उपाध्याय आदि मुनिराज और साध्वीजी की वैयावच्च में ही स्वयं का धर्म मानते हैं जो उत्कृष्टतम धर्म हैं।

अहिंसा, संयम और तपोधर्म की पूर्व आराधना .करनेवाले मुनिराज हमेशा के लिए सेव्य, पूज्य, आराध्य, वंदनीय और नमनीय है। जबकि श्रमणोपासक श्रावक हमेशा के लिए मुनिराज का सेवक, पूजक, आराधक होने से उनको भावपूर्वक वंदन तथा नमस्कार करनेवाला ही रहता है। इस कारण से सात्विक शिरोमणि श्रमणोपासक मन, वचन और काया की पूर्णशक्ति लगाकर मुनिराज की वैयाच्च करते हैं।

देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी को गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे प्रभु —

प्रश्न १—इस प्रकार के मुनिराज को प्रासुक तथा एषणीय अशनपान, खादिम और स्वादिम पदार्थों से प्रतिलाभे तो वैयावच्च करनेवाले श्रावक को क्या फल मिलता है ?

प्रश्न २—ऐसे ही मुनिराज को यदि श्रमणोपासक अप्रासुक तथा अनेषणीय आहार, पानी देवे तो दाता को क्या फल मिलेगा ?

प्रश्न ३—असंयत, अविरति और अप्रत्याख्यात् साधु को प्रासुक या अप्रासुक, एषणीय या अनेषणीय आहारपानी देनेवाले दाता को क्या फल मिलेगा ?

ये तीनों प्रश्न श्रावक से संबंधित है ?

जवाब में भगवान ने कहा–कि हे गौतम !

उत्तर १—सत्ताईस गुण के धारक, पंचमहाव्रतधारी, पवित्र मुनिराज को प्रासुक (अचित) एषणीय (आधाकर्मादि दोषरहित) अशन, पेट भरके खा सके वे रोटी, चावल आदि पदार्थ।

पान—जिससे प्यास मिटे वह पानी, छाछ, धोवन आदि पदार्थ।

खादिम—थोड़े अंश में जिससे भूख मिटे वैसे फल, गन्ना आदि।

स्वादिम—स्वाद लेने लायक सुपारी, लैंग, इलायची, गोली आदि।

उपचार से वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण, औषध आदि द्रव्य द्वारा प्रतिलाभित करे तो वे श्रावक एकांत (जिसमें दूसरा विकल्प नहीं) कर्मों की निर्जरा करते हैं। तथा उस भक्त श्रावक को भक्ति करते किसी प्रकार का पाप नहीं लगता है।

उत्तर २—दूसरे प्रश्न के जवाब में भगवान ने कहा कि ग्लान बिस्तर वश, जंघाबल से कमजोर, वृद्ध, बाल और पठनशील मुनिराज की अप्रासुक (अचित्त होनेपर भी अपवाद आदि के कारण से दोषयुक्त) अनेषणीय (मेड़ा आदि से उतारा हुआ दोषयुक्त) आहारपानी देते श्रावक को बहुत अधिक कर्मों की निर्जरा होती है और पाप अल्प लगता है अर्थात् बीमारी आदि की अवस्था में मुनिराज की भक्ति करनेवाले श्रावक को कर्मों की निर्जरा अधिक तथा पाप बंधन कम होता है।

परम पवित्र मुनिराज की भक्ति अर्थात् सम्यगदर्शन–ज्ञान और चारित्र की भक्ति है। जिससे श्रावक को एकांत लाभ है तथा महालाभ है। पाप बंधक की अपेक्षा निर्जरा अधिक होने से की हुई भक्ति श्रेष्ठ है।

बिस्तर में पड़े हुए मुनियों को जो किसी प्रकार अपना निर्वाह नहीं कर सकते है। उनको अनिवार्य संयोग में अप्रासुक और अनेषणीय आहारपानी देकर भी उनके आर्तध्यानरहित जीवन में भाग लेनेवाले श्रावक को अच्छा मानने में आया है। परन्तु जंघाबल से शक्त होनेपर भी सिर्फ प्रमादवश पड़े हुए मुनिराज को अप्रासुक और अनेषणीय आहार का निषेध है।

दूसरे आचार्य यह कहते हैं कि–गुणवंत पात्र को अप्रासुकादि दान देनेवाले का परिणाम यदि शुद्ध है तो उनको महानिर्जरा है तथा पाप अल्प है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया में आत्मा का परिणाम ही मुख्य है।

भावार्थ यह है कि अत्यन्त म्लान तथा क्षुधावेदनीय सहन करने में असमर्थ मुनिराज के चारित्रपरिणाम स्थिर रहे, स्वयं की अन्तिम आराधना बराबर कर सके उसके लिए किसी भी प्रकार से की हुई भक्ति स्वीकार्य है।

बेशक जहां तक बन सके वहां तक शुद्धता का ख्याल रहे तथा मुनि को असंयम से बचा सके उसका गृहस्थ को उपयोग रखना चाहिए और जहां स्वयं की बुद्धि काम नहीं दे वहां आसपास विराजमान गीतार्थ की सलाह लेकर जिस समय जो योग्य हो वह करना चाहिए।

उत्तर ३–भगवान ने कहा—

असंजय—जो संयम बिना के इन्द्रियों के वेग को नहीं रोकनेवाले, मानसिक विचार में पापकर्म और चारों संज्ञा के अत्यधिक वेगवाले वे असंजय कहलाते हैं।

अविरतः—पापकर्म जिसके बंद नहीं है अर्थात् हिंसा, झूठ, चौर्य

मैथुन और परिग्रह नाम के पांच बड़े पाप में जो सर्वथा आसक्त है तथा विषय वासना और क्रोधादि कषायों के द्वार सर्वथा खुले हैं वे अविरत कहलाते हैं।

अप्रतिहत प्रत्याख्यात पापकर्म—प्रत्याख्यान द्वारा जिसके पापकर्म प्रतिहत नहीं हुए अर्थात् खान–पान कहनी–करनी, बोलचाल, व्यापार–व्यवहार में रहे हुए अनंत पाप में से एक भी पाप में प्रत्याख्यान कर नहीं सकते वे अप्रतिहत प्रत्याख्यात पापकर्म कहलाते हैं।

ऊपर के तीन प्रकार के जीव को आहार पानी के दाता गृहस्थ को एकान्त पापकर्म ही उपार्जन होता है। दिया हुआ आहार प्रासुक या अप्रासुक तथा एषणीय या अनेषणीय हो दाता को रत्तिमात्र भी निर्जरा नहीं होती है।

भगवान ने कारण बताते हुए कहा कि–दिया हुआ दान यह महत्व की बात नहीं है, पर उपयुक्त पात्र को देने से असंयम की वृद्धि, पाप का पोषण और इन्द्रियों को उत्तेजन करनेवाला होने से दाता पापकर्म को उपार्जन करनेवाला होता है।

भाग्यशाली गृहस्थ को थोड़े या अधिक अंश में देशविरति चारित्रधर्म की प्राप्ति होने के बाद उसके सभी अनुष्ठान मोक्ष प्राप्ति के लिए होते हैं।

स्वयं के पापी पेट के लिए अनिवार्य रुप से कई पाप कर्म करने पड़ते हैं तो भी गृहस्थ दिन या रात को एक आसन पर बैठकर किये हुए पाप का मिच्छामि दुक्कड़ देकर पाप को दूर करने की भावना से प्रतिक्रमण करता है अर्थात् सद्भावनापूर्वक पाप का प्रायश्चित्त करता है। ऐसा पापभीरू श्रावक पाप प्रवृत्ति कैसे करेगा ?

स्वयं के पास विद्यमान वस्तु का दान जैसे-ज्ञानदान, अन्नदान, जलदान, वस्त्रदान, स्थानदान करने से स्वयं की आत्मा को आत्मिक लाभ न हो ऐसा दान करने के लिए श्रावक को उत्साह होता नहीं है। मोक्ष

प्राप्त करने के लिए पुण्यकर्म भी सर्वथा क्षय करने होते हैं, तो फिर पुण्य कर्म किस लिए करे ?

इन सभी बातों का ध्यान रखकर जो महाव्रतधारी हो, शुभ अनुष्ठानों का मालिक हो, जीवमात्र के कल्याण की उत्कृष्ट भावनावाला हो, पाप कर्म सर्वथा या देश से बन्द किये हो ऐसे सत्पात्र अहिंसक, सदाचारी ब्रह्मचारी और पूर्ण संयमी बनकर स्वयं की आत्मा का कल्याण करनेवाला बनता है। ऐसे आशय के ये प्रश्न हैं और भगवान ने जवाब दिया है।

व्यवहार में भी हमको अनुभव होता है कि पैसा लेनेवाला मास्टर या पंडित भी अत्यन्त कुपात्र विद्यार्थी को विद्यादान नहीं देता है।

दुकानपर बैठा हुआ व्यापारी हिंसक, शराबी और दुराचारी को पैसे नहीं देना चाहता। तो फिर मोक्ष का आराधक भाग्यशाली सुपात्र को पोषे उसमें रतिमात्र भी अनुचित नहीं है।

बाकि अनुकंपादान या उचितदान द्वारा दीन, दुःखी, अनाथ और दूसरे प्रकार से भी कर्मों के भार से पतित और दलित बने हुए को भरण-पोषण के लिए दान कार्यों को जैन शासन ने निषेध नहीं किया है। जैनशासन प्रवर्तक तीर्थंकर भी दीक्षा अंगीकार के पहले वर्षभर के लिए वार्षिक दान द्वारा दीन दुःखी, लुले लंगड़े आदि को लाखों करोड़ों रुपये और वस्त्र आदि देते हैं और फिर दीक्षा लेते हैं।

शालीभद्र सेठ और तुंगीयानगरी के श्रावक के घर के दरवाजे सभी के लिए हमेशा खुले रहते थे। वस्तुपाल तथा तेजपाल (गुजरात के मंत्री) भी अखंड दान देते थे।

कच्छ भूमि के महाश्रावक जघडुशाह ने चौराशी जात को दान दिया है और भयंकर दुष्काल में पीड़ित मानव और पशुमात्र को भी अभयदान दान दिया है।

भामाशाह ने देश की रक्षा के खातिर स्वयं का सर्वस्व द्रव्य राणा प्रताप को दिया था।

आज भी देश के किसी भी कोने में अकाल पड़ता है तो जैन समाज सबसे आगे रहता है। स्थान-२ पर पांजरापोल तथा जीवदया मंडली के संस्थापक और रक्षक प्रायः करके जैनी ही हैं।

अब थोड़ा अपना विचार करें।

भगवतीसूत्र में महाव्रतधारी को दान देने का स्पष्ट विधान है परंतु महाव्रतधारी की व्याख्या करने में संप्रदायवाद के कारण से जो भूल हो गई तो?

स्थानकवासी संप्रदायक के घासीलालजी महाराज की विद्वता के लिए सभी को मान होनेपर भी अत्यन्त स्पष्ट चालू प्रश्नोत्तर के संदर्भ में उनके रचे हुए भगवतीसूत्र के छटे भाग के ६६४ पेज में महाव्रतधारी मुनि का अर्थ "डोरो के साथ की मुहपति जिसके मुंह पर बंधी हो" ऐसा किया है अर्थात् मुहपति बांधे हुए स्थानकवासी मुनि ही महाव्रतधारी होने से दान के योग्य है। छोटा बालक भी समझ सकता है कि "इस व्याख्या में दिगम्बर श्वेताम्बर, तपागच्छ, खरतरगच्छ, अंचलगच्छ और लोंकागच्छ के सभी मुनि महाव्रतधारी नहीं है।"

सर्वथा संकुचित बुद्धि का उपयोगकर जैनागम के सत्यार्थ को दुषित करनेवाले पू० घासीलालजी महाराज को हमारे पास दया करने के अलावा दूसरा मार्ग नहीं है।

श्रावक के लिए दान धर्म की उपादेयता :

स्वयं की जात को प्रामाणिक माननेवाले श्रीमंत की श्रीमंताई में कम-ज्यादा अंश में भी निम्न तीन दोष तो होते ही हैं!

(१) जान या अनजान में सामनेवाले के मर्म पर कम या ज्यादा अंश

में प्रहार किये बिना श्रीमंताई मिलती नहीं है क्योंकि सभी जीव शालिभद्र नहीं होते।

(२) माप तौल, मिलावट, हिसाब में गड़बड़ वाक्‌चातुरी और ब्याज में कम–ज्यादा अंश में भी असत्यवादिता बिना धन सुलभ नहीं।

(३) बड़ी मछली जैसे छोटी को निगल जाय, बड़ा आफिसर छोटे को दंड दे, बड़ा व्यापारी छोटे व्यापारी पर रोष करता है। इस प्रकार धन प्राप्त करने के लिए भी "मत्स्य गलागल न्याय" का आश्रय स्वीकारे बिना भी श्रीमंताई दुर्लभ है।

उपरोक्त तीन कारणों में से चाहे जैसे कारण से मिली हुई श्रीमंताई में भी दोषों की सुलभता अनिवार्य है। इससे उसकी शुद्धि के लिए पंच महाव्रतधारी मुनियों को संपूर्ण सत्पात्र समझकर और उनके स्वयं के ज्ञानादि की आराधना निर्विघ्न कर सके उसके लिए उनकी भक्ति और वैयावच्च में स्वयं की श्रीमंताई का सदुपयोग करना ही सर्वश्रेष्ठ उपादेय मार्ग है क्यों कि मुनि सर्वथा निष्पाप होते हैं। जिससे श्रीमंताई में मन–वचन–काया तथा धन से भाग लेना चाहिए। इसके जैसा दूसरा कोई धर्म नहीं हैं।

मोक्षरुपी बंगले में प्रवेश करने के लिए दान, शील, तप और भाव ये चार द्वार हैं परन्तु गृहस्थ के लिए तो सर्वश्रेष्ठ दानधर्म होने से उसके द्वारा गृहस्थ स्वयं का कल्याण साध सकता है।

इन चारों धर्म में कार्य कारणता :

इन चारों धर्म में कार्य कारण भाव रहने से सम्यक्‌प्रकार से एक की आराधना में चारों की आराधना का समावेश हो जाता है। जैसे की जो दानी है वह शीलवान भी है और शीलवान तपोधर्मी होता है। तथा उसके सद्‌भाव में भाव धर्म आवश्य होता है इसीप्रकार तप तथा शील संपन्न आत्मा दानी ही होती है वह इसप्रकार–

हम सहज समझ सकते हैं कि गृहस्थाश्रमी के लिए शील, तप तथा आर्त्तध्यान में फंसा होने से भाव धर्म भी अत्यन्त कठिन है अतः सबसे पहले सर्वथा सुलभ दान देने की आदत डालनी चाहिए और भावदया पूर्वक दान देने से एक दिन ऐसा भी आयेगा और यह भावना होगी कि "अत्यन्त कष्टसाध्य श्रीमंताई के द्वारा जब मैं दीन दुखियों के दुःख में भाग लेनेवाला बन रहा हूँ तो फिर एक बार के मैथुन में दो से नौ लाख जीव मर रहे हैं तो मेरे स्वयं के संयम से मैथुन का ही त्याग कर उन विचारे जीवों को भी अभयदान देनेवाला बनूं" इस प्रकार के भाव आते ही उसको शील धर्म के प्रति रुचि होगी और धीरे धीरे वह इस पाप को कंट्रोल में लेगा।

शीलधर्म की आराधना करते हुए उसके विचारों में पवित्रता बढ़ेगी और उसकी स्वयं की आत्मा की दया के प्रति उसका ध्यान केन्द्रित होगा। वह इसप्रकार :-मैं स्वयं की इच्छा से शीलधर्म पालकर दूसरे अनेक जीवों की रक्षा कर रहा हूँ तो फिर अनादिकाल से मेरी आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभ के दूषण में फंसकर अत्यन्त भारी बनी है अतः तपस्या की आराधना से मेरी आत्मा को भारमुक्त करुं उस आशय से तपस्या का आश्रय भी सुलभ बनेगा और एक दिन निम्नप्रकार से भाव की वृद्धि होगी :—

"मेरा जन्म संसार का संचालन के लिए नहीं, वैसे कोई भी जीव मेरे आधीन नहीं तो दूसरे के लिए मुझे क्यों गन्दे भाव रखने और मेरे गन्दे विचार से संसार का क्या बिगड़नेवाला है ? दूसरे के लिए मैं क्यों आर्त ध्यान करुं ? इससे वह जीवात्मा भगवान से एक ही प्रार्थना करता है सभी का कल्याण हो, सभी सुखी बनो, मेरे शत्रुके घर भी दूध रोटी होवे मैं सभी को खमाता हूँ। सभी मुझे क्षमा करो। आज से मैं ऐसा कुछ भी नहीं करुंगा, नहीं लिखुंगा जिससे कोई भी जीव मेरा शत्रु बने।"

इसप्रकार सद्भाव तथा सद्ध्यान का कारण सम्यक्तप है। तप का

कारण शील तथा इसका कारण दान धर्म है।

अब हम चारों कार्य कारणों का विपरीतरुप विचारे।

सम्यगदर्शन से झलकती आत्मा स्वयं के एक हाथ में सम्यक्चारित्ररुपी ढाल और दूसरे हाथ में सम्यग्ज्ञानरुपी तलवार लेकर मोहादि शत्रुओं को परास्त करने के बाद उसकी आत्मा स्वतः या गुरु की कृपादृष्टि से उच्च अवस्था पर आकर संसार के सभी जीवों में स्वयं की ही कल्पना करेगा और स्वयं की शक्ति द्वारा सभी को सुखी बनायेगा। फिर उसको किसी भी व्यक्ति या पदार्थ की हानि–लाभ के लिए भी सुख दुःख नहीं होगा और हमेशा अलिप्त रहेगा। तदन्तर आत्मा को अधिक विशुद्ध बनाने के लिए तप धर्म का आश्रय लेकर उसमें पूर्ण मस्त बनेगा। फिर तो मैथुन कर्म द्वारा लाखों करोड़ों जीवों को किसलिए हनन करनेवाला बनूं। ऐसी भावना होते ही ब्रह्म की उपासना में आगे बढ़ेगा तथा ब्रह्म की आराधना में एकाकारता होते ही संसार के प्रत्येक जीव को यथायोग्य किसी को द्रव्यदान, ज्ञानदान, बुद्धिदान, किसी की चातुरीदान तथा किसी को धर्मदान तथा मोक्षदान देने जितनी शक्ति भी उसमें उत्पन्न होगी।

तीर्थंकर भगवन्त ने भी मोक्ष में जाने के लिए दानादिक चार दरवाजे "अर्थात् जैन शासनरुपी सरोवर में नवतत्त्वरुपी कमल लेने के लिए दान शील–तप–भाव ये चार द्वार कहे हैं। क्योंकि दरवाजे में प्रवेश किये बिना आगे नहीं बढ़ सकते हैं।

अब हम प्रश्नोत्तर में प्रवेश करें—

भगवतीसूत्र में गौतमस्वामी के पूछने से भगवान ने कहा कि आहार प्राप्त करने की इच्छा से श्रावक के घर आये मुनिराज को वह गृहस्थ (गाथापति) दो पिंड के लिए निमंत्रण देते हुए कहता है—हे पूज्य मुनिवर इन दो पिंडों में से एक आप लेना तथा दूसरा उन स्थविर को देना यह कह कर वह गृहस्थ मुनिराज को दो पिंड देता है। धर्मलाभ देकर मुनिराज स्वयं के उपाश्रय आये। एक पिंड स्वयं के लिए रखकर दूसरा पिंड श्रावक

के कहे अनुसार स्थविर को देने के लिए उनकी तलाश करता है। यदि वह मिल जाय तो ठीक अन्यथा इस पिंड का क्या करना? क्योंकि वह पिंड जो स्थविर के लिए निर्णीत हैं। अतः उसका पिंड वह खा जाय तो खानेवाले मुनि को अदत्तादान का दोष लगता है? द्रव्य तथा भाव से सूक्ष्म तथा बादरदोष को त्याग करनेवाले जैन मुनि अदत्तादान का सेवन नहीं करते है। जवाब में भगवान ने कहा कि–हे गौतम! स्थविर की तलाश करते हुए भी नहीं मिले तो गृहस्थ के दिये हुए पिंड को एकान्त, निर्दोष और जीवरहित जमीन में परठ (त्याग) देना चाहिए।

इसी तरह तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ, नौ या दस पिंड को देते हुए गृहस्थ कहता है कि इसमें से एक तुम वापरना तथा बाकि अमुक अमुक को देना। जवाब में भगवान ने उपरोक्त विधि कही तथा वस्त्र, पात्र, रजोहरण के लिए भी यही विधान है। अर्थात् स्वयं ही वापरे और वह मुनि मिल जाय तो उसको देना अन्यथा परठ देना।

जैन मुनि निवृति प्रधान होने से स्वयं के आत्मिक संयम को तथा लिये हुए व्रत को कौनसा भी दूषण नहीं लगे और जो वस्तु स्वयं की नहीं तथा जिसके सेवन से मन-वचन-काया में विकृति-रोग तथा दूसरी कोई बाधा उत्पन्न होने की संभावना रहे या जो वस्तु पास में रखने से स्वयं को कहीं से आर्तध्यान होने का प्रसंग आवे तब वस्तु के उपर का ममत्व सर्वथा छोड़देने के लिए वस्तु को परठ देने का अधिकार है जो आज भी प्रचलित है।

संयम की साधना के दृष्टिकोण को मुख्य मानकर ही जैन मुनियों के लिए ऐसा नियम है।

किये हुए अकृत्य स्थानो-की वक्तव्यता :

"मेरे पात्र में पिंड पड़ो" ऐसी प्रतिज्ञावाला कोई मुनि गोचरी के लिए जाता है। और वहां मूल गुण की विराधना रुप कुछ अकृत्य का

सेवन हो गया हो उसके बाद अकृत्य-सेवी मुनि को स्वयं के सेवन किये गये अकृत्य का संताप-मानसिक खेद हो तथा स्वयं के मन में विचारे कि मेरे से किये गये अकृत्य का अरिहंतादि की साक्षी से आलोचना करूँ मिथ्या दुष्कृत देकर प्रतिक्रमण करूँ। उसकी निंदा करूं, गर्हा करूं और फिर से ऐसा नहीं हो उसके लिए ऐसे अकृत्य के अनुबंध को तोड़कर ही प्रायश्चित कर विशुद्ध होऊं। इत्यादि भावना करके फिर मैं स्थविर के पास जाऊं और उन पूज्य को मेरे अकृत्य की जानकारी देकर उनके दिये हुए प्रायश्चित तपस्या आदि का पालन करूंगा और अकृत्य से मेरी आत्मा को शुद्ध करूंगा।

इसप्रकार के विचार कर वह मुनि स्थविर के पास आने के लिए कदम उठाता है। पर उसके पहले ही स्थविर स्वयं वातादि दोष से मूक या दिवंगत हो जाय ऐसी परिस्थिति में क्या वह आराधक है ? जवाब में भगवान ने कहा कि–हे गौतम वह मुनि अवश्य ही आराधक है पर विराधक नहीं।

इस प्रकार आराधना करने को आनेवाला मुनि स्थविर की मर्यादा में आने के बाद और प्रायश्चित लेने पहले वह स्थविर मुनि मूक या दिवंगत हो जाय तब भी हे गौतम वह मुनि आराधक ही है पर विराधक नहीं। इस प्रकार विहार भूमि में या स्थंडिल भूमि में किसी मुनि से अपकृत्य हो गया हो और उपरोक्त भावना से वह मुनि स्थविर के पास आने को निकले या उपाश्रय में आ जाय। पर प्रायश्चित लेने पहले वह मूक हो जाय या काल कर जाय तो भी वह मुनि आराधक है।

इसी प्रकार कोई साध्वी भिक्षा, विहार तथा निहार के लिए जाते हुए कोई अकृत्य हो गया हो और प्रायश्चित की भावना से स्थविर के पास आवे तथा वह आते ही मूक या काल कर जाय तो गौतम वह साध्वी आराधक ही रहेगी पर विराधक नहीं।

इसका कारण जानने के लिए गौतमस्वामी पूछते है कि-हे प्रभु ! आप किस कारण से उसे आराधक कहते हो ? और विराधक नहीं। भगवान ने कहा कि हे गौतम ! कोई मनुष्य ऊन के ढगले को, हाथी के बाल के ढगले को, सन या कपास के रेसे को या घास की डोरी को तोड़ फोड़ या छेदकर दो-तीन-चार-पांच टुकड़े करे और अग्नि में डाले तब हे गौतम ! तोड़ते, छेदते, भेदते और अग्नि में डालते हुए वे पदार्थ तोड़ाये छेदाये तथा जलाये ऐसे कहलाते हैं कि नहीं ?

गौतम ने कहा कि हे प्रभु ! छेदे हुए को छेदाया, तोडे हुए को तोड़ाया, भेदे हुए को भेदाया और अग्नि में डाले हुए को जलाया कहते हैं।

तब हे गौतम जो साधक अंतरात्मा के पश्चातापपूर्वक आराधना करने तैयार होता है। किये हुए पाप का जबरदस्त पश्चाताप करता है और गुरुसन्मुख भी पाप को प्रकाशित कर दंड लेने की उत्कृष्ट भावना-वाला है वह मुनि आराधक ही बनेगा।

यद्यपि आराधना के लिए आने का काल वर्तमान है तो भी हे गौतम भूत तथा वर्तमानकाल के भेद की कल्पना से आराधना करने में तैयार हुआ मुनि अवश्य ही आराधक है। दीपक में जैसे ज्योत जलती है वैसे ही आराधना करने के लिए तैयार हुआ साधक भी हमेशा दीपक की तरह चमकदार बनता है।

सारांश कि क्षय किये बिना मोहकर्म प्रत्येक आत्मा के असंख्यात प्रदेश में अपनी सत्ता जमाकर बैठा है। जिससे सत्ता में रहा हुआ मोह जब चाहे निमित्त मिलते ही उदय में आये बिना नहीं रहता है और उदय में आया हुआ मोह नटराज की तरह चाहे जिसप्रकार या स्थान से उदय में आयेगा और साधक को फंसायेगा।

यदि साधक मोक्षाभिनंदी हो, पापभीरु हो तो सुखे कपड़े पर लगी हुई धूल जैसे शीघ्र झाड़ देने में आती है वैसे ही साधक स्वयं के कर्म को प्रायश्चित द्वारा खंखेर डालेगा और आराधना के मार्ग में

आगे बढ़कर फिर से अपकृत्य के स्थानों को सर्वथा बन्द करेगा ।

क्रियाओं की वक्तव्यता :

प्रश्न—दूसरे जीव के औदारिक शरीर के आश्रय से अपना काम करते जीव को कितनी क्रियाएँ लगेगी ?

भगवान ने फरमाया कि-हे गौतम ! उस जीव को कभी तीन, चार या पांच क्रियाए लगेगी ? कायिकी, अधिकरणिकी प्राद्वेषिकी परितापनिकी और आरंभिकी ये पांच क्रियाएं हैं।

"क्रियते इति क्रिया" जो किया जाय अथवा जिसके द्वारा किया जाय उसको क्रिया कहते हैं। जहां क्रिया है वहां कर्म है और जहां कर्म है वहाँ संसार है और चारगतिरुप संसार में रहनेवाला जीव संसारी कहलाता है।

संसारी जीव अनंत कर्म–वर्गणाओ में दबकर बहुत ही वजनदार होने से उसके खाने–पीने–उठने–बैठने आदि की क्रियाएं किये बिना चलता नहीं है।

समय-२ बदलते अध्यवसाय के कारण क्रियावंत जीवके लिए यह प्रश्नोत्तर है। क्योंकि क्रियावंत जीव को दूसरे जीव के औदारिक शरीर को उपयोग में लिये बिना नहीं चलता है।

स्वयं के व्यतिरिक्त दूसरे अनंतानंत जीवों से परिपूर्ण इस संसार में देव तथा नारक को छोड़कर एकेन्द्रिय से लेकर पन्चेन्द्रिय तक के जीवों का औदारिक शरीर परस्पर एक दूसरे के लिए उपयोग में आता ही है।

जब हमारा जीव रागात्मक या द्वेषात्मक बनता है तब दूसरे जीव के औदारिक शरीर का उपभोग इस प्रकार करेंगेः—हाथ साफ करने के लिए मिट्टी (पृथ्वीकाय का शरीर) पीने और हाथ–पांव धोने के लिए पानी (जलकाय का शरीर)

रसोई तथा ठंड से बचने के लिए अग्नि (तेऊकाय का शरीर)

शरीर के सुख के लिए वायु (वायुकायकाय शरीर)।

क्षुधा मिटाने के लिए और जीभ इन्द्रिय की लालसा को संतोषने के लिए, गेहूँ, चना, भिंडी, ककड़ी, मोसंबी, आम, भाजी आदी पदार्थ जो वनस्पतिकाय का शरीर है।

जब सिर में पड़ी हुई जुं, लीख, खटमल, मच्छर, मक्खी, कीड़ी आदि से स्वयं का रक्षण करने के लिए, पंचेन्द्रिय कुत्ता, बिल्ली, चूहा, विच्छू सांप आदि जानवरों से बचने के लिए तथा स्वयं के लिए तैयार हुई हवेली में बेइन्द्रिय, वेइन्द्रिय, और चउन्द्रिय जीवों के हनन की उपेक्षा करेगा। तेजाब तथा सोड़े से बने हुए साबुन से धुले हुए कपड़े के मैल का पानी गटर में डालेगा। जिससे वहां रहे असंख्य छोटे बड़े जीव आदी क्षुद्र जंतुओ का नाश होगा। इत्यादि क्रियाएं अहोरात में होती रहती है। उसमें कहीं पर राग तथा द्वेष का चमत्कार है। अर्थात् क्रियाओं के करने में कहीं पर राग रहता है जब दूसरी में द्वेष रहता है। जैसे स्नान करने में राग तथा गंदे पानी को गटर में डालने में द्वेष होता है। सारांश कि राग तथा द्वेष साथ ही रहते है इसलिए कहलाता है कि क्रिया रागपूर्वक हो पर उसका उपयोग द्वेष बिना नहीं होता है।

इसीप्रकार पके हुए सुगंधी आम को हाथ में लेकर सहलाते हुए भले ही राग होगा। पर जहां आम तथा उसके टुकड़े को खाने की इच्छा जागृत होनेपर उसी आम के ऊपर का राग, द्वेष में बदलने ही उस आम को सबसे पहले ठंडे पानी में डुबाओगे उसके बाद खुश होकर आम को मसलने बैठे तथा रग-२ में से रस निकालने की तैयारी करी या चक्कू या या छुरी से उसकी छाल अच्छी तरह निकालकर ५–२५ टुकड़े करते गये और मुंह में रखते गये। इन सभी क्रियाओं में द्वेष तो प्रत्यक्ष रहा हुआ है।

परस्त्री या कन्या को स्वयं की बनाने के लिए पहले तो उसपर राग संज्ञा होती है। फिर प्रेम की मात्रा जैसे-२ बढ़ती जाती है तथा वासना

के प्रबल योग से उस स्त्री को स्वयं की बनाने के लिए अलग-२ प्रकार के छल प्रपंच करके उसको वश में करते हैं।

जहां पर वासना मोह है वहां द्वेष राजा की सवारी आते देर नहीं लगती।

कृष्णराजा की पटरानी रुक्मणी के पूर्व भव के जीव ने मोर के अंडे को तोड़े नहीं, तोड़ने, फोड़ने की भावना भी नहीं थी। केवल रागवश होकर अंडे हाथ में लिए है। बाह्य मन से भी अंडे को किसी प्रकार की हानि करने की इच्छा न होनेपर भी अन्तःकरण में सम्यग्ज्ञान की जब कमी होती है तब जीवमात्र को अहिंसा तत्व की समझ नहीं होती। या राग के कारण दब जाती है। अतः रानीजी भूल गये और मोरनी तथा अंडा जो माता तथा पुत्ररुप में थे। उसका वियोग कराना ही बड़ी हिंसा है और जहां हिंसा है वहां प्रच्छन्न रुप से द्वेष तो होता ही है।

इसतरह जीवमात्र प्रति समय कुछ न कुछ किया करता ही है। माना कि खान—पान—रहनी—करनी तथा कुटुम्ब की रक्षा करने की सभी क्रियाएं अनिवार्य है। जिसको किये बिना जीव नहीं रह सकता है क्योंकि उसके बिना उसका जीवन जोखम में रहने का भय रहता है। अतः क्रिया करनी सर्वथा अनिवार्य है और कराती हुई क्रियाओं में जीव हिंसा भी रही हुई हैं। अतः ऐसे धर्म संकट में भी शास्त्रकार ने कहा है कि कराती क्रियाओं में हिंसा कर्म भले ही लगे पर उसके कर्मों का बंध स्वयं की आत्मा के परिणाम या अध्यवसाय पर निर्भर रहता है। संसार की वासना तथा पुद्गलिक पदार्थ के प्रति माया को जितनी बने उतनी कम करनी तथा उसकी ट्रेनिंग लेना ही अहिंसक मार्ग है। मानसिक जीवन अहिंसामय बनाना जिससे परिणाम की शुद्धि होगी तथा स्थितिबंध कभी पड़ेगा तो प्रतिक्रमण द्वारा दूर होते देर नहीं लगेगी।

प्रश्नोत्तर के भाव इसप्रकार हैं—दूसरे जीव के औदारिक शरीर का

आश्रय लेकर जीव को तीन क्रिया तो अवश्य लगेगी, कभी चार पांच भी लग सकती है । तीन क्रिया अर्थात्–कायिकी–अधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी।

कारण में भगवान ने कहा कि तीनो क्रियाओं में परस्पर अविनाभाव का सम्बन्ध है। अर्थात् जो अवितरागी जीव है वह स्वयं की काया को कंट्रोल में नहीं रख सकता है। जिससे कायिकी क्रिया के लिए तो कुछ कहना नहीं है और जहां–जहां कायिकी क्रिया है वहां अधिकरणिकी प्राद्वेषिकी भी नियत होती है। तीनों क्रिया में कार्यकारण भाव नहीं है पर अविनाभाव सम्बन्ध हैं। माना कि अधिकरण का अर्थ शस्त्र होता है। पर सबसे बड़े से बड़ा शस्त्र अपना शरीर ही है। जिसके लिए मनुष्य भयंकर पापकर्म करने तैयार हो जाता है। व्यवहार में भी कहते हैं कि पापी पेट के लिए क्या नहीं करते ?

द्वेष सिवाय पर जीव मर्दन, हनन, ताड़न, तर्जन, पीड़न आदि क्रियाए नहीं होती है।

इस तरह तीनो क्रिया एक साथ रहनेवाली है। जबकि परितापनिकी और प्राणातिपतिकी कभी हो तो निम्नप्रकार हैं––

यदि जीवात्मा द्वेषवश दूसरे जीव को मन–वचन–काया से परिताप दे तब चौथी क्रिया भी लगेगी। दूसरे जीव को दिया हुआ परिताप जब क्लिष्ट परिणाम का होता है, जब दूसरे प्राणियों के प्राण का अतिपात अर्थात् फिर से जिन्दा न हो सके। उस प्रकार शरीर से अलग कर देना वह प्राणातिपात क्रिया कहलाती है।

जब तक जीव अवीतराग अवस्था में है तब तक उसको मोह–माया –राग–द्वेष–लोभ–परिग्रह और मैथुन आदि पापों की विद्यमानता अवश्य है। इस कारण भगवान ने कहा कि क्रियाओं का मालिक जीव प्रति समय सात या आठ कर्म का बंधक है।

इसी प्रकार नारक तथा असुरकुमारादि देव को भी औदारिक शरीर के आश्रय से ६–४–५ क्रियाएँ होती हैं।

अब कोई जीव वैक्रिय शरीर के आश्रय से क्रिया करे तो वह प्राणातिपातिकी क्रिया छोड़कर पहले की चारों क्रियाओं का मालिक होगा। क्योंकि वैक्रिय शरीर का नाश नहीं हो सकता है। आहारक तेजस और कार्मण शरीर के आश्रय की भी चार क्रिया होती है। क्योंकि इन शरीर का नाश नहीं होता है।

यह सुनकर गौतम स्वामी खुश हुए।

॥ छठा उद्देशक समाप्त ॥

शतक आठवां उद्देशक ५

उससमय राजगृही नाम की नगरी थी। उसमें गुणशील नाम का चैत्य था। पाषाण विशेष से बना हुआ सुंदर पृथ्वीशिला नामक पट्टक था उस चैत्य से थोड़ी दूर अधिक संख्या में दूसरे धर्म के माननेवाले लोग रहते थे।

उस समय स्वयं के तीर्थ की अपेक्षा से आदिकर भगवान महावीर स्वामी तीर्थंकर थे। एक दिन चतुर्विध संघ के साथ गुणशील चैत्य

के उद्यान में पधारे। समवशरण की रचना हुई भगवान की दिव्य वाणी सुनकर खुश हुई पर्षदा स्वयं के स्थान में गई।

जिस समय भगवानमहावीर स्वामी चैत्य के उद्यान में रचित समवशरण में विराजमान थे। उस समय जाति संपन्न, कुलसंपन्न यावत् जीवन के मरण और भय बिना के अनेक स्थविर मुनिराज भगवान से बहुत दूर नहीं और पास में नहीं स्वयं के उचितस्थान में दोनो घुटने ऊंचे और मस्तक नीचे रखकर ध्यानरुपी कोष्ठक में अर्थात् एकाग्रतापूर्वक चिंतन में संयम और तप से आत्मा को भावित करते थे। कोष्ठक में रहा हुआ धान जैसे स्थिर रहता है वैसे स्थविर मुनिओं का मन इन्द्रियों की प्रवृत्ति में भटके बिना स्थिर था। क्रोध मान माया और लोभ नाम के कषायों को बहुत ही पतले कर दिये थे।

इस तरह वे स्थविर जहां थे वहां पर अन्य तीर्थिक आये और साक्षेप पूर्वक इस तरह बोले हे स्थविर ! तुम संयत नहीं हो विरत नहीं और प्रतिहत प्रत्याख्यात पापकर्मवाले भी नहीं। अतः एकान्त बाल हो।

(१) असंयत—अर्थात् वर्तमानकाल में सर्वसावद्य अनुष्ठानों से दूर रहनेवाले संयत कहलाते हैं। हे स्थविरो महावीर के शिष्या तुम संयत नहीं हो सकते। क्योंकि मन वचन और काया से प्राणातिपातादि कार्य करते हो कराते हो और अनुमोदना करते हो।

(२) अविरत—भूतकालीन पापकर्मो से जुगुप्सा करके तथा उनसे दूर रहकर और भविष्य में होनेवाले पाप का संचर करे। उसको विरत कहते हैं पर हे स्थविर तुम ऐसे नहीं हो।

(३) अप्रतिहत पापकर्म—वर्तमानकाल में पापकर्म का संवर करना अवरुद्ध करना, पूर्वकृत अतिचारों की निंदा करनी और भविष्य में पाप कार्य नहीं करुं इस प्रकार अकरण द्वारा पापकर्म का निराकरण करने का जिसमें हो वह प्रतिहत प्रत्याख्यान पापकर्म कहलाता है। हे स्थविर तुम

वैसे नहीं हो अतः अप्रतिहत पापकर्मवाले हो और एकान्तबाल हो अर्थात सर्वप्रकार से ज्ञानरहित हो।

इस प्रकार अन्य तीर्थिको के क्षेपपूर्वक वचन सुनने के बाद रत्तिमात्र भी उछले बिना अन्यतीर्थिको को पूछा कि—हे आर्यो तुम किस कारण से हमको (महावीर स्वामी के शिष्यो) को असंयत, अविरत, अप्रतिहत पापकर्म और एकान्तबाल कहते हो ? (यहां स्थविर अर्थात् जैनमुनि और आर्य अर्थात् अन्यतीर्थिक जानना)।

आर्यो ने कहा कि तुम अदत्त आहार का उपयोग करते हो। अदत्त वस्तु को ग्रहण करने की अनुमोदना करते हो। अतः तुम असंयतादि हो।

स्थविर ने पूछा—हे आर्यो ! हम किस प्रकार अदत्त वस्तु को लेते हैं ? उसका उपयोग करते हैं ? अनुमोदन करते हैं ? और प्राणातिपात का सेवन करते असंयत कैसे हैं ?

अन्य तीर्थिक ने कहा कि—हे ! स्थविर तुम्हारे सिद्धांत के अनुसार दाता द्वारा दी हुई वस्तु अदत्त कहलाती है। तथा ग्राहक द्वारा ग्रहण करने आ रही हो उनको तुम अप्रतिगृहीत मानते हो। पात्र के अन्दर क्षिप्यमान (डालने में आई वस्तु) वस्तु को तुम अनिसृष्ट (अक्षिप्त) समझते हो अर्थात् दीयमान वस्तु काल की अपेक्षा से वर्तमानकालवर्ती होती है। दत्त दी हुई वस्तु भूत कालवर्ती होती है। यदि वर्तमान तथा भूतकाल में भेद मानने में आवे तो उनसे युक्त वस्तु में वे दोनों काल की अपेक्षा से भेद क्यों न हो ? अर्थात् उनमें भी भेद जरुर मानना पड़ेगा। दीयमान वस्तु दत्त नहीं कहलाती। अतः अदत्त ही है और उन वस्तु को तुम ग्रहण करते हो ! अतः हे स्थविरों ! तुम अदत्तादान ग्रहण करनेवाले हो। दाता तुमको जो वस्तु दे रहे हैं, वह दी हुई दत्त नहीं कही जाती। पर अदत्त ही देते हैं। इसलिए जब तक तुम्हारे पात्र में नहीं पड़ती और बीच में ही उसका अपहरण हो जाय तो तुम्हारे मत से दाता की वस्तु

का अपहरण मानते हो। इसलिए वह वस्तु तुम्हारे लिए अदत्त बनती है। इसी कारण से तुम (जैन मुनि) अदत्त वस्तु का आहार करते हो, अदत्त की अनुमोदना करते हो और प्राणातिपात का त्रिविध सेवन करते हो। अतः तुम संयत विरत आदि हो यह कैसे माने ?

प्रत्युत्तर में स्थविर ने कहा कि–हे आर्यो ! हम जैन मुनि अदत्त वस्तु को ग्रहण करते नहीं अनुमोदते नहीं। परंतु हम दत्त वस्तु को ग्रहण करनेवाले ही हैं। हम संयत विरत और प्रतिहत पापकर्मवाले है और सर्वथा ज्ञानयुक्त पंडित है। तात्पर्य को समझाते हुए कहते हैं कि हम दीयमान वस्तु को दत्त, प्रतिगृह्यमाण वस्तु को प्रतिगृहीत, और निसृज्यमान वस्तु को निसृष्ट मानते हैं। अतः पात्र में पड़ती हुई वस्तु को कोई अपहरण करले तो उस वस्तु को हम हमारी मानते है। दाता की नहीं। इससे हम दी हुई दत्त वस्तु को ही ग्रहण करनेवाले है। दीयमान काल भले वर्तमान रहा हो और दत्तकाल भूतकाल भले रहा हो। परंतु इन दोनों को अभेद मानकर ही संसार का व्यवहार चलता है और चलेगा। दाता को देने का भाव है। ग्राहक को ग्रहण करने का भाव है। दाता ग्राहक को देने की कल्पना से देने की क्रियाएं करता हैं। जब लेनेवाला दाता के पास से लेने की भावना से लेने की क्रिया करता है। इस तरह संसार का व्यवहार प्रायः करके दोनों काल को अभेद मानने से सुचारु रुप से चलता है। अतः दीयमान वस्तु अदत्त नहीं कहलाती और हम जैनमुनि दत्त ही लेते है अतः उसको तुम बराबर समझो।

इस बात के अनुसंधान में स्थविर मुनि ने अन्य तीर्थिकों को कहा कि तुम्हारे सिद्धांत अनुसार दीयमान वस्तु अदत्त कहलाती है। जिससे तुम्ही अदत्तवस्तु के भक्षक हो तथा अविरत हो।

उसके बाद आर्यो ने स्थविरों से यह कहा कि हे मुनियों तुम मन–वचन–काया से प्राणातिपात का सेवन करने से असंयत हो यावत् बाल

हो। स्थविरों से कारण पूछने पर उन्होंने कहा कि तुम जैनमुनि एक स्थान पर जाते आते पृथ्वी के जीवों को—

अभिहणद्द—दबाते हो, तुम्हारे पांव से उनको आघात करते हो।

वत्तेह—पैर के आघात से उनके टुकड़े करते हो।

लेसेह—पैर से दबाते हो।

संघाएह—पैर से उनको घिसते हो संघर्षित करते हो।

संघट्टेह—जहां तहां से उनकं एकत्रित करते हो।

परितावेह—उनको परिताप देते हो।

किलामेह—उनको दुःखी करते हो।

उवद्वेह—उन जीवों को मार डालते हो।

इस प्रकार पृथ्वीकाय के जीव को तुम मार डालनेवाले हो। अतः असंयत यावत् बाल हो।

जवाब में स्थविरों ने कहा कि—हम पृथ्वीकाय के जीव को दबाते नहीं यावत् मारते नहीं। क्योंकि हम जो गमनागमन करते हैं वह केवल सर्वथा अनिवार्य रुप, मल—मूत्र के त्याग, ग्लान—बाल—वृद्ध मुनि आदि का वैयावच्च, दूसरे जीव के उपद्रव समय अर्थात् जलकाय या त्रसकाय जीव के संरक्षणरुप संयम की आराधना के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान की तरफ, एक गांव से दूसरे गांव की तरफ जाते है तथा हम पानी—वनस्पति तथा दूसरे कोई सचित्त पदार्थ का स्पर्श नहीं करते है। जो मार्ग प्रचलित होता है वहां से जाते हैं क्योंकि वहां पृथ्वीकाय के जीव नहीं होते हैं।

बिना हल चलाई पृथ्वी सर्वथा सचित होने से पांव भी नहीं रखते मल—मूत्र भी नहीं करते या दूसरे किसी प्रकार का पानी भी नही फेकते। चलते है तो हलका पांव रखकर अर्थात् इर्यासमितिपूर्वक दोनों आंखो का

उपयोग कर जहां एक भी छोटा जंतु न हो इस प्रकार चलते हैं अतः हमारे गमनागमन से एक भी जीव मरता नहीं, दबता नहीं तथा परिताप भी नहीं होता है।

हम जब संयम स्वीकारते हैं तब अरिहंत भगवंतो की तथा गुरु महाराज की साक्षी से मन–वचन काया से करना कराना तथा अनुमोदन से पृथ्वीकाय के जीव का हननरुप प्राणातिपात का सर्वथा त्याग करते हैं। ऐसा करने से सत्तर भेद से अणिशुद्ध संयम का पालन करते हैं। इस कारण से हम प्रागातिपातादि पाप का त्याग करने से तथा ली हुई प्रतिज्ञा का बराबर पालन करने से जैन मुनि ही संयत, विरत और प्रतिहत पापकर्म वाले होते है।

हे तापसो ! तुम वैसे नहीं यह निश्चित जानना। क्योंकि तुम्हारे सिद्धांत में जीव का स्वरुप ही स्पष्ट नहीं है। तथा उनके संयम की रुपरेखा भी नहीं। उसी प्रकार इर्यासमिति आदि की ट्रेनिंग भी नहीं है।

जैन मुनि का स्पष्ट जवाब सुनने के बाद निराश हुए अन्य तीर्थिको ने स्थविर से कहा कि–तुम जैन मुनि गम्यमान (जहां जाने का हो) व्यतिक्रम्य मान (जिस रस्ते को उलांघना हो) उसको अगत तथा अव्यतिक्रांत मानते हो। राजगृही नगरी में पहुँचने की इच्छावाले को तुम लोग उस नगर को असंप्राप्त मानते हो।

जवाब में स्थविर ने कहा कि–हम लोग गन्तव्य स्थान को गत, व्यतिक्रम्यमाण स्थान को व्यतिक्रांत और राजगृही नगरी तरफ प्रस्थान किये हुए को राजगृह संप्राप्त मानते हैं।

अरे तापसो ! व्यवहार की भाषा भी तुमने सुनी है ? नीचे से मंजिल पर जानेवाला अभी तो प्रथम सोपान पर ही पांव रखा है, तो भी हम कहते हैं कि 'वह मनुष्य मंजिल पर गया है, मंजिल अभी संप्राप्त नहीं, तो भी तुम और हम बोलते हैं और भाव समझ लेते हैं। निरक्षर भी इस व्यवहार को सच मानते हैं।

राजगृही नगरी में पहुँचते अभी दो–तीन दिन लगेंगे। तो भी कोई दूसरे को पूछता है "वो भाई कहां गये ?" तब सभी एक जवाब देते है वह भाई राजगृही गया है।

इस प्रकार स्थविर जैन मुनि ने अन्य तीर्थिको को निरुत्तर किया और गतिप्रपात नाम के अध्ययन की प्ररुपणा की।

गतिप्रपात अध्ययन :

जवाब देते भगवान ने कहा कि गतिप्रपात पांच प्रकार के हैं वह निम्न है:—

(१) प्रयोग गति (२) ततगति (३) बंधन छेदगति (४) उपपातगति (५) विहायोगति।

प्रयोगगति के १५ भेद है।

४ मनोयोग ४ वचनयोग और ७ काययोग।

इस प्रकार मन, वचन तथा काया के व्यापार को योग कहते हैं। उसकी गतिप्रवृति का नाम प्रयोगगति है। साराँश कि सत्य–मनोयोग आदि व्यापार द्वारा मन–वचन और काया के पुद्गलों की जो गति हो वह प्रयोगगति हैं।

(२) ततगति—विस्तीर्ण गति जैसे दूसरे गांव जाने के लिए कोई मनुष्य स्वयं के स्थान से रवाना होता है और गंतव्यस्थान पर जल्दी पहुँचने के लिए रास्ते में स्वयं की गति को झड़प से करे वह ततगति कहलाती है।

(३) बंधन छेदगति—कर्म के बंधन का अभाव होनेपर जो गति हो वह बंधन छेदगति है। ऐसी गति जीव मुक्त शरीर की या शरीर मुक्त जीव की होती है।

(४) उपपातगति—तीन प्रकार की है। क्षेत्रगति, भवगति और नो भावगति। नारक, तिर्यंच, मनुष्य देव या सिद्ध के जीव का जिस क्षेत्र में उत्पाद होने का हो उस क्षेत्र पर्यन्त का उसका गमन क्षेत्रोपपातगति कहते हैं। नारकादि जीव की स्वयं के भेद में उत्पादरूप गति को भवोपपात गति कहते हैं।

सिद्ध तथा पुद्गल का गमन नो भवोपपात है।

शेष प्रज्ञापन सूत्र के १६ वे प्रयोगपद से जानना।

॥ आठवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक आठवां उद्देशक ९

गुरु आदि के प्रत्यनीक :

इसके पहले उद्देशक में स्थविर भगवंत के प्रत्यनीक रुप में अन्य यूथिको का वर्णन किया है।

इस उद्देशक में आचार्य उपाध्याय, स्थविर मति, श्रुत आदि के प्रत्यनीक अर्थात् प्रतिसैन्य।

जैसे एक देश के राजा का दूसरे देश का राजा और एक देश के सैनिकों के दूसरे देश के सैनिक शत्रु होते हैं। वैसे ही आध्यात्मिक जीवन महादुष्कर होने के कारण उनके भी प्रत्यनीक विद्यमान होते है। राजगृही नगरी में गौतमस्वामी ने पूछा कि–हे प्रभु! पंचमहाव्रतधारी गुरु भगवंत के प्रत्यनीक कितने हैं ?

जवाब में भगवान ने कहा कि–हे गौतम उनके प्रत्यनीक तीन है। वह निम्न है:—

आचार्य प्रत्यनीक, उपाध्याय प्रत्यनीक, स्थविर प्रत्यनीक।

आचार्य भगवन्त तीर्थंकर की गैरहाजरी में शासन के राजा समान होते है। संपूर्ण जैन समाज के योग क्षेम की सुरक्षा उनके ऊपर होने से शासन के स्तंभ समान है। सूत्रार्थ के व्याख्याता होते है। उपाध्याय भगवंत, आचार्य महाराजा की आज्ञानुसार मुनि को पठन–पाठन करानेवाले तथा चतुर्विध संघ को शैथिल्य से दूर रखनेवाले है, और सूत्र के दाता होते हैं।

स्थविर भगवन्त तीन प्रकार के होते हैं—

(१) ६० वर्ष की उम्र हो वह जाति स्थविर।

(२) समवायांग सूत्र के धारक श्रुत स्थविर।

(३) दीक्षा के २० वर्ष के पर्यायवाले को पर्याय स्थविर कहते हैं।

इस प्रकार जैन शासन के मालिक आचार्य, उपाध्याय और स्थविर भगवंत के प्रत्यनीक गृहस्थ तथा मुनि वेषधारी होते हैं। जो वे महा-पुरुष की जाति, कुल आदि को लेकर अथवा एकाद प्रमाद या भूल को आगे करके उनकी निन्दा, अवर्णवाद करनेवाले होते हैं। उनके पास में रहने पर भी स्वयं के आचार्य, उपाध्याय और स्थविर की सेवा वैयावच्च आदि सत्कर्म से दूर रहते हैं। दूसरे को वैयावच्च आदि के पाठ पढ़ाना हो अथवा व्याख्यान के पाट पर से संघ को गुरुविनय आदि धर्म बताने में बहुत ही होशियार तथा वाक्‌चतुर होते हैं। पर स्वयं के गुरुदेव की सेवा करनी हो वैयावच्च करनी हो, उनके हाथ पांव दाबने हो तथा उनके डल्ले मात्रे की क्रियाओं में कुछ करना पड़ता हो तब वे गुरुप्रत्यनीक कुछ भी नहीं कर सकते हैं और दूर बैठे-२ ही वे गुरुदेव का कुछ न कुछ अवर्णवाद ही बोलते रहते है।

स्वयं के आचार्य उपाध्याय और स्थविर के प्रति अहितकारी, छिद्रान्वेषी और सर्वथा प्रतिकूल व्यवहार करनेवाले होते हैं। मुनिवेष में रहनेवाले, बाहर से गृहस्थों के सामने थोड़ा बहुत कुछ करनेवाले परन्तु अन्दर से गुरु के साथ द्रोहात्मक वर्तन करनेवाले शिष्य दूसरे के सामने अपनी लब्धियों का वर्णन करने में खूब वाक्‌चतुर व होशियार होते हैं, पर स्वयं के जीवन में विद्यादाता गुरु तथा दीक्षादाता गुरु और साधुधर्म में स्थिर करनेवाले गुरु का रत्तिमात्र भी वैयावच्च नहीं कर सकते हैं। निंदा करने का महापाप दुसरे श्रोताओं को बराबर समझा सकते हैं पर स्वयं गुरु की निन्दा से दूर नहीं रहते हैं।

इस प्रकार मुनिवेष में रहनेपर भी भगवतीसूत्रकार उनको गुरु प्रत्यनीक कहते हैं। जिन गुरु के पास दीक्षा लेनेपर भी स्वयं के अंगत कारण गुरु शिष्य की आंख लड़ पड़ती है। फलस्वरुप द्रोही बने हुए शिष्य गुरु के विरुद्ध चलते हैं। समाज तथा स्वयं के जीवन को भी हानि पहुँचाते हैं। क्योंकि गुरुद्रोह महापाप है।

गति प्रत्यनीक—गति के आश्रय से प्रत्यनीक तीन प्रकार के होते हैं—

इहलोक प्रत्यनीक, परलोक प्रत्यनीक, उभयलोक प्रत्यनीक।

इहलोक प्रत्यनीक :

महापुण्य योग से मिली हुई पांचों इन्द्रियों को संयम में रखकर उसके द्वारा अनेक आध्यात्मिक कार्य कर लेने थे, क्योंकि आत्मकल्याण साधने के लिए इन्द्रिये भी साधन हैं। स्वाध्यायबल द्वारा आत्मवश बनी हुई इन्द्रियें साधक के इष्ट साधन में सहायक बनती है। बलद्वारा इन्द्रिय को मार डालने से पाप के द्वार बन्द नहीं होते हैं। बहुत बार हम जानते हैं कि इन्द्रियों को बाह्यदृष्टि से मौन रखनेपर भी साधक स्वयं की सिद्धी के सोपान एक के बाद एक प्राप्त नहीं कर सकता तथा प्रकारान्त से अधःपतन के गहरे खड्डे में गिरकर स्वयं का नाश करता है, क्योंकि बाह्य इन्द्रियें नहीं होनेपर भी अन्धे, बहरे, लूले, लंगड़े मनुष्य को पाप कार्य में मस्त बनते हुए देखते हैं। अतः स्वाध्यायबल, तप जप के सुगम मार्ग में प्रस्थान की हुई आभ्यन्तर इन्द्रियें ही बाह्य इन्द्रिय को कंट्रोल में रखने के लिए पूर्ण समर्थ बनती है।

आभ्यन्तर इन्द्रियों को, सुसंस्कारी मन स्वाधीन करता है तथा संयमधारी आत्मा के आधीन मन होता है। मोक्षमार्ग का सरल मार्ग विद्यमान होनेपर भी कितने अज्ञानी स्वयं की इन्द्रियों को जबरदस्ती से वश में करने के लिए पंचाग्नि तप आदि निरर्थक और कष्ट साध्य

मार्ग को अपनाकर मनुष्य भव को उँधे मार्ग में ले जाकर इस लोक के प्रत्यनीक बनते हैं।

यदि मन में संयम नहीं, इन्द्रियां स्ववश नहीं, आत्मा में अज्ञान है तो नेतीधोती, प्राणायाम, उंधे मस्तक लटकना या पद्मासन से बैठना भी आत्मा तथा मन के लिए निरर्थक साबित होगा और ऐसा होनेपर साधक स्वयं के भव को बिगाड़ेंगे।

परलोक प्रत्यनीक :

जबरदस्तीपूर्वक इन्द्रियों को स्वाधीन करने का मार्ग जैसे निष्कंटक नहीं। वैसे अज्ञान, मोह तथा माया के वश होकर इंद्रियों के सर्वथा गुलाम बननेवाला साधक परलोक प्रत्यनीक है। अर्थात् स्वयं का अगला भव भी बिगाड़ता है। मानव शरीररुपी किराये के मकान से स्वयं की आत्मा की विशेष साधना करनी जरुरी थी पर इन्द्रियों के गुलाम बनकर वह साधक इस भव की मौज तथा आनंद भले ही प्राप्त कर लेगा पर परलोक को तो ऐसा बिगाड़ेगा कि जिससे लाखों भव तक मनुष्य शरीर प्राप्त करना दुर्लभ बनेगा।

इन्द्रियों के गुलाम मानव सर्वथा पराधीन होते हैं। जबकि इन्द्रियों को गुलाम बनानेवाले मनुष्यही सर्वथा स्वाधीन और स्वतंत्र होते हैं।

"स्व" अर्थात् आत्मा और तंत्र अर्थात् आधीन जो भाग्यशाली स्वयं की इन्द्रियों और मन को आत्मवश करेगा वहीं सच्चा स्वतंत्र है। "सा विद्या या विमुक्तये" वही सच्ची विद्या है जो मुक्ति को दिलावे।

यहां मुक्ति का अर्थ सीधा मोक्ष करना नहीं है परन्तु दुष्ट दुराचार मार्ग पर संचार करनेवाली इन्द्रियों से तथा मनसे स्वयं की आत्मा को मुक्त करे वह विमुक्ति है।

अनादिकाल से हमारी आत्मा इन्द्रियों के आधीन बनी है अतः उसका ज्ञान तथा विज्ञान भी आहार–मैथुन–परिग्रह और भय संज्ञा की ही पोषक रही है। क्योंकि जो आहार संज्ञा का गुलाम है वह मैथुन संज्ञा का भी गुलाम है।

जो मैथुन संज्ञा से वासित है वह परिग्रह संज्ञा को कंट्रोल में नहीं कर सकता है और जहां परिग्रह संज्ञा है वहां भय संज्ञा की हाजरी होती ही है।

देव दुर्लभ मनुष्य अवतार को प्राप्त किये हुए मानव को यह समझना चाहिए कि ऊपर की चार संज्ञा तो पशु और पक्षी में भी होती है। अतः पशु सदा विवेक रहित ही होते है।

मनुष्य शरीर प्राप्त करके भी मनुष्य यदि आहार–मैथुन परिग्रह और भय संज्ञा पर कंट्रोल करने की ट्रेनिंग न ले सका तो मनुष्य जीवन भी विवेक भ्रष्ट बनेगा तथा उनका पतन सर्वथा निश्चित है।

इन्द्रियें दुर्जय किसलिए ? :

अनादिकाल से मोह–माया और कामदेव के कुसंस्कारों में पोषी हुई इन्द्रियें और मन के मालिक के शरीर में रहती हुई सात धातु भी अशुद्ध और पापकर्म का पोषण करके उसकी उत्तेजना करनेवाली होती है। ऐसी परिस्थिति में अर्थात् कुवासनापूर्वक इन्द्रियों के गुलाम भले ही बादाम का हलवा, गाय भैंस का दूध, मलाई दही आदि खाते हो, स्वयं के खेत के गेहूँ, चने, बाजरी आदि की रोटी घी में डुबोकर खाते हो। तो भी अच्छी खुराक में से बना हुआ रस तथा रस में से बना हुआ रक्त, मांस, हड्डीयां, मेद, मज्जा और शुक्र भी सर्वथा तामसिक और राजसिक ही बनेगा। श्राद्ध गुण विवरणकार तो यहाँतक कहते है कि क्रोध के आवेश में खाया हुआ अच्छा से अच्छा भोजन भी

मनुष्य या तपस्वी को क्रोधी बनाये बिना नहीं रहता है, वैसे ही काम चेष्टा, गन्दीभावना और कामरस में डूबकर किया हुआ अच्छा भोजन भी मनुष्य को कामुक ही बनायेगा।

इस प्रकार के अत्यन्त कामुक बने हुए माता पिता के शुक्र तथा रज से हमारा शरीर बनता है। उसमें सातों धातुओं के कुसंस्कार उनके पुत्री या पुत्र में आये बिना नहीं रहते। क्योंकि संतानमात्र का शरीर मां के गर्भ में ही बनने से माता का तामसिक या राजसिक रज और पिता का दुराचारी कुसंस्कारी वीर्य ही मुख्य कारण बनकर उस प्रकार की चेष्टा करने का काम करता है। पालने में झुलते हजारों छोटे छोटे बालकों को देखकर फिर अनुमान करते देर नहीं लगती कि इतनी छोटी उम्र में कुसंस्कार आये कहां से ?

जिन संतानो के मां–बाप पौषध–प्रतिक्रमण तथा छोटी बड़ी तपस्या करते है तो भी उनके बालको को कुसंस्कारवाले देखते हैं तब मानना ही पड़ेगा कि कथित धर्म करनेवाले स्वयं के आन्तरिक जीवन को शुद्ध बनाने में बेध्यान जरूर रहे हैं। उसी के परिणामस्वरुप उनके संतान झूठ–प्रपंच और दुराचार के शौकिन बने हैं। यद्यपि जन्म लेनेवाले जीव में आराधना बल कम होने से पूर्व भव के कुसंस्कार की कल्पना करनी झूठ नहीं है, तो भी ऐसे जीव इसप्रकार के कुसंस्कारी माता–पिता के यहां जन्म लेते हैं उसमे उनके उपादान जैसे कुसंस्कारी होते हैं वैसे उनके माता–पिता का कुसंस्कारी जीवन और उनके रज-शुक्र में रहे हुए कुसंस्कार जो निमित्त कारण हैं वे। अत्यन्त बलवाले होने से जन्म लेनेवाली संतान को सुस्कारी नहीं बनने देते हैं।

पढ़लिखकर बहुत ही विद्वान बन जानेपर वैसे ही हजारो के रंजन करने की ताकतवाले, दूसरे को नेक सलाहदेने में बहुत अच्छी तरह अपनी होशियारी बतानेवाले हम स्वयं ही हमारे आन्तरिक जीवन का निरीक्षण

करे तो हम को भी आश्चर्य होता है कि दूसरे को सदाचार दिखानेवाला मैं कितना दुराचारी ? दानेश्वरी की प्रशंसा करने के बाद भी मेरी कितनी कंजुसी ? समताभाव का उपदेश देनेवाला मैं स्वयं कितना क्रोधी ? तपस्या का उपदेशक मैं कितना खानेवाला ? संघ की महिमा गाने के बाद मैंने संघ को कितनी हानि पहुँचाई ? त्याग धर्म की चरम सीमा दिखाने के बाद मैं अकेला कितना परिग्रही ? इत्यादि अगणित बातो का निरीक्षण करते हुए अपने को लगेगा कि ऐसा कैसे होता है ? मन को बहुत ही समझाने के बाद जब ऐसा बनता है तब हमारे पूर्व भव के संस्कार की और माता पिता के कुसंस्कार की ताकत का माप निकालते देर नहीं लगती।

अनेक बार इन्द्रियों तथा मन को आधीन नहीं होने की आत्मिक तैयारी करने के बाद भी किसी थोड़े अंश में निमित्त मिलते ही हमारे मन में शिथिलता आते ही इन्द्रियो की गुलाभी फिर से स्वीकार करके अपकृत्य करने बैठते है और बाद में मस्तक पर हाथ रखकर पश्चाताप करते है।

वैसे पुरी जिन्दगी इन्द्रियो की गुलामी छोड़ नहीं सकते और मगर के आंसू जैसा पश्चाताप भी छोड़ नहीं सके और भव पूर्ण हो गया। इस प्रकार इन्द्रियो के २३ विषम में आसक्त बने हुए जीव परलोक प्रत्यनीक कहलाते है अर्थात् वह स्वयं के अगले भव को बिगाड़नेवाले है।

उभयलोक प्रत्यनीक :

इसमें यह भव तथा परभव को बिगाड़बाले का समावेश होता है। मानवमात्र का जीवन स्वयं के पूर्वभव में किये पापकर्म तथा पुण्यकर्म के आधीन है। तभी लाखों मनुष्यो को हम जानते हैं :—

१. विवाहित जीवन की इच्छा होनेपर भी लग्नग्रन्थी से जोड़ने का सामर्थ्य भी बहुतों को नहीं होता है।

२- तन तोड़ प्रयत्न करनेपर भी दाल-रोटी प्राप्त नहीं कर सकते।

३. जमी हुई गृहस्थी में दिवाली के दिये लगाने थे पर अर्थ के अभाव में संपूर्ण जीवन क्लेष की होली में भस्म हो गया।

४. अर्थ तथा काम के भोगवटे से आशीर्वाद लेना था पर जीवन के प्रारंभकाल में हुई भूल के अभिशाप से वृद्धावस्था अत्यन्त रोगीष्ट तथा आर्तध्यानमय बना दी।

५. अरिहंत की उपासना तो दूर रही पर पापोदय के कारण कामदेव की उपासना में ही जीवन धन बरबाद हो गया।

६. लक्ष्मीदेवी के अभाव में पूरा जीवन भयंकर जंगल के जैसा रहा। संसारभर की असह्य वेदना भुगतते हुए वृद्ध हुए। आकाश के सामने देखकर ही जीवन पूर्ण हुआ। रोष तथा क्रोध ही जीवन में शेष रहे।

कुटुम्बी, मित्रजन या स्त्री का भी आदर प्राप्त नहीं कर सके। अनेक संताप से सारा शरीर और जीवन संतप्त रहा है। यह सब पापकर्म का फल है जिसमें लाखों करोड़ों मनुष्य फंस रहे हैं।

इसके विपरीत पुण्यकर्म का उदय होता है। तब मनुष्य को मनपसन्द भोजन, वस्त्र, औषध, स्त्री-पुरुष परिवार की प्राप्ति होती है। प्रत्यक्ष प्रसंगों को देखने के बाद सहृदय मनुष्य अनुमान से जान सकता है कि मनुष्य अवतार, मानवता, तथा खानदान जीवन के साथ जैनधर्म के संस्कार प्राप्त करने के लिए हमने पूर्वभव में :—

१. अरिहंत परमात्मा की पांचों अंगुलियों से पूजा की होगी।

(२) पंच महाव्रतधारी साधु–साध्वी की भक्ति बहुत अच्छी तरह की होगी तथा उनको गोचरी पानी के लिए पांव का उपभोग किया होगा।

(३) वर्षीतप, वर्धमान तप, आदि की छोटी बड़ी तपस्या के साथ जीवन में संबरधर्म की आराधना की होगी।

(४) सामायिक–प्रतिक्रमण द्वारा हजारो क्षुद्र जंतुओं को अभयदान दीया होगा।

(५) दीन दुःखी अनाथों को भोजन, पानी, औषध और वस्त्र दिये होगे।

(६) साधु साध्वी को पढ़ाने के लिए पंडितों की व्यवस्था की होगी।

इस प्रकार के सुकृत्यो द्वारा उपार्जन किये हुए पुण्य के संभार से प्राप्त मनुष्य अवतार को संसार की माया मे लुब्ध बनाकर फिर से उभयलोक भ्रष्ट होता है। अर्थात् चौर्य, मैथुन और परिग्रह आदि कमा द्वारा इन्द्रियो के विषयों को साधने में तत्पर हुआ मानव स्वयं का यह भव तथा परभव भी बिगाड़ता है। सारांश कि व्यापार में चोरी, झूठे नापतौल तथा व्याज के घोटाले करता हैं। चाहे जैसे पैसावाला होकर "मनपसन्द खानपान करुं" ऐसी वृत्ति और प्रवृत्ति को बढ़ानेवाला इन्सान उभयलोक प्रत्यनीक है।

साधुसमूह प्रत्यनीक तीन प्रकार के होते हैं :—

कुलप्रत्यनीक, गणप्रत्यनीक और संघप्रत्यनीक।

एक आचार्य भगवंत के पास जो मुनि रहते है वह कुल कहलाता है जैसे चान्द्रकुल आदि।

ऐसे तीन कुल मिलकर एक गण होता है अर्थात् तीन आचार्य भगवंत और उनकी आज्ञा में रहे मुनिवर्ग को गण कहते है जैसे कोटिक गण आदि।

सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र गुण से विभूषित सर्व कुल, सर्व गण के सभी आचार्य और उनकी आज्ञा में रहे हुए साधु साध्वी, श्रमण संघ श्रावक–श्रविका संघ अर्थात् अरिहंत के शासन को माननेवाले छत्तीस गुण

के धारक सभी आचार्य भगवन्तो के समुदाय को संघ कहते हैं।

गुण गरिष्ट, कुल, गण और संघ का अवर्णवाद बोलना, परस्पर क्लेश करना संघ के टूकडे करना वह साधु-समूह प्रत्यनीक कहलाता है। पंचम आरा तथा हुंडा अवसर्पिणी होने के कारण सातिशय ज्ञानियो की विद्यमानता नहीं होने से मतिभेद होनेपर समाचारी अलग-२ हो सकती हैं। विधि विधान भी पृथक्-२ हो सकते हैं। किसी समय सभी आचार्य एक स्थान पर इकट्ठे होकर भी फिर वे स्वयं के मुनिओं को लेकर अलग-२ विचर सकते हैं। मतिज्ञान की दुर्बलता होने के कारण कभी किसी समय परस्पर विचार भेद होने की भी शक्यता हो सकती है फिर भी "तत्वंतु केवलिगम्यं......के तात्पर्य से परस्पर मिथ्यादुष्कृत देकर एक भी हो जाते हैं। ऐसी विकट परस्थिति में भी पंचम आरे के दोष से समुदाय में से कोई एकाद मुनि या आचार्य हठाग्रही, वितंडावादी, मिथ्याभिमानी, गुरुद्रोही स्वयं की बोलने की शक्ति द्वारा सारे संघ में मतभेद करावे, संघ को तोड़े. मुनियों को आपस मे लड़ावे, साध्वी संस्था के दो भाग करावे, श्रीमंत या ट्रस्टी में परस्पर बैर झेर या सम्यक्त्व मिथ्यात्व के चक्रपर चढ़ाकर उनके स्वयं के हाथ से बने हुए मन्दिर या उपाश्रय में भेद करावे, स्कूल के धार्मिक मास्टरों को स्वयं के दलाल बनाकर उनके द्वारा संघ की व्यवस्था में तूफान करावे। तथा शास्त्रों का उलटा पाठ पढ़ाकर, गृहस्थ की भावुकता का दुरुपयोग करावे, संघव्यवस्था को छिन्नभिन्न करावे तो भगवतीसूत्र के अनुसार वे कुल गण और संघ के प्रत्यनीक कहलायेंगे।

संघ सत्ता सर्वोपरी सत्ता होने से उसकी अखंडता रखने में ही मानव तथा समाज का कल्याण है।

अनुकंप्य प्रत्यनीक तीन प्रकार के होते हैं—तपस्वी प्रत्यनीक, ग्लान प्रत्यनीक और शैक्षप्रत्यनीक। तपस्वी अर्थात् क्षपक साधु। ग्लान अर्थात्

रोग आदि से पीड़ित बीमार साधु । शैक्ष नई दीक्षा लिये हुए मुनि ।

ये तीनों मुनि भक्ति के योग्य है अतः अनुकंप्य है । उनकी भक्ति करने में और कराने में उनके दोष आदि को प्रगटकर अंतराय करना वह रुप अनुकंप्य प्रत्यनीक कहलाते हैं ।

सूत्र के आश्रय से प्रत्यनीक तीन है । सूत्र प्रत्यनीक, अर्थ प्रत्यनीक और तदुभय प्रत्यनीक ।

सूत्र प्रत्यनीक अर्थात् सम्यग्ज्ञान के खजाना रुप जैन शासन के मूल सूत्रों के प्रति असद्‌भाव रखना, शक्ति होनेपर भी सूत्र को पढ़ने पढ़ाने का अभ्यास न करना तथा पढ़े हुए सूत्र को भूल जाना वह सूत्र प्रत्यनीक है ।

अर्थ प्रत्यनीक वंदित्तु आदि प्रतिक्रमण सूत्र और जीवविचार आदि प्रकरण ग्रन्थ याद्‌कर लिए है परंतु उसके भाव तथा भावार्थ समझने में बेदरकार है । वह अर्थ प्रत्यनीक है तथा तदुभय प्रत्यनीक सूत्र तथा अर्थ के ऊपर बेदरकार रहनेवाले तदुभय प्रत्यनीक है ।

इसी प्रकार भाव प्रत्यनीक भी तीन हैं ।

ज्ञान प्रत्यनीक, दर्शन प्रत्यनीक और चारित्र प्रत्यनीक । यहां भाव अर्थात् पर्याय, प्रशस्त तथा अप्रशस्त दोनों पर्याय जीव में होते है । क्षायिक भाव जो प्रशस्त पर्याय है उसके प्रति उदासीनता रखनी वह भाव प्रत्यनीक है ।

जैसे प्राकृत भाषा में सूत्र किसने रचे ? दान बिना के चारित्र का क्या प्रयोजन ? इत्यादि ।

पांच प्रकार का व्यवहार :

प्रश्न–यही प्रत्यनीक यदि स्वयं अपने आप समझकर स्वयं का धर्म समझ ले और गुरु आदि को मिच्छामि दुक्कडं देकर फिरसे उसका पुनरा-

वर्तन न करे तो उस मुनि को भगवतीसूत्रकार ने आराधक कहा है। ऐसे आराधक मुनि का व्यवहार कैसा होता हैं ? और वे कितने प्रकार के हैं ?

जवाब में भगवान ने कहा कि व्यवहार पांच प्रकार का है–आगम व्यवहार, श्रुत व्यवहार, आज्ञा व्यवहार, धारणा व्यवहार और जीत व्यवहार।

मोक्ष प्राप्त करने की इच्छावाले मुनि, संयमी महाव्रतधारी या निर्ग्रन्थ कहलाते है। द्रव्य तथा भाव से गृहस्थाश्रम के संपूर्ण त्यागी बने हुए मुनि का व्यवहार गृहस्थ के योग्य नही हो सकता है। क्योंकि पाप के द्वार जिसके खुले रहते है वे गृहस्थाश्रमी है और उन पाप के द्वार जिसने बन्द किये हैं वे संयमी कहलाते हैं। गृहस्थी के जैसे खाना, पीना, उठना, बैठना, बोलना, लिखना आदि व्यवहार को संयमधारी स्वीकार नही सकता है और प्रमादवश जो स्वीकारने जाते है तो उसके संयम में दूषण की परम्परा बढ़ने लगेगी। परिणामस्वरुप भाव संयम से उसका पतन होगा।

तब भाव संयम मुनि का व्यवहार कैसा होता है ? उसकी विचारणा भगवतीसूत्र में है।

एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर के मध्य भी अविच्छिन्न रुप से रही हुई श्रमण संस्था को हर समय केवलज्ञानी, चार ज्ञानी, चौदा पूर्वधरी आदि का संपर्क मिल नही सकता वैसे ही श्रुत का सहवास भी बराबर नहीं मिलता है।

जिनपुण्यवन्त संयमधारी को केवलज्ञान की निश्रा प्राप्त हुई है उन्होने केवल ज्ञान रुप आगम का व्यवहार करना, जिनको केवलज्ञान नहीं मिला वे क्रम से चार ज्ञानवाले, तीन ज्ञानवाले, चौदपूर्वी, दसपूर्वी और नवपूर्वी महापुरुष का आगम व्यवहार पालना वह आगम व्यवहार कहलाता हैं।

श्रुतव्यवहार—जिसके भाग्य में केवली आदिका व्यवहार नहीं रहा, उनको तीर्थंकर प्ररुपित और गण धर रचित आचारांग सूत्र आदि श्रुत ग्रन्थो

के अनुसार स्वयं का व्यवहार करना अर्थात् स्वयं की शुद्धि के लिए आचारांग सूत्र आदि पढ़ना, पढ़ाना, विचारना और श्रुत या उसके सिद्धांत के अनुसार स्वयं का व्यवहार बनाकर संयम मार्ग को शुद्ध करना।

आचारांग आदि सूत्र के अनुसार स्वयं की प्रवृत्ति और निवृत्ति का व्यवहार करे वह श्रुत व्यवहार हैं। यद्यपि नौ, दस, ग्यारह, चौदह पूर्व में श्रुत ही विद्यमान है तो भी अतीन्द्रिय पदार्थ के ज्ञान में विशिष्ट हेतुरूप होने से वे सातिशय ज्ञान संपन्न है अतः केवलज्ञानी की तरह वे आगम हैं और आचारांग आदि श्रुत है।

आज्ञा व्यवहार—जिसको श्रुत व्यवहार भी नहीं मिला हैं उनको गीतार्थ के पास से जैसी आज्ञा मिली हो उस प्रमाण ये स्वयं का व्यवहार अर्थात दूर देश में रहे हुए गीतार्थ के पास से शिष्य के द्वारा जो आज्ञा मिली हो उसे अंगीतार्थ को पालनी तथा अतिचार की शुद्धि करनी वह आज्ञा व्यवहार कहलाता है।

धारणा व्यवहार द्रव्य क्षेत्रकाल और भाव का विचार करके गीतार्थ ने जिस प्रकार से शुध्दि की हो उसको याद रखकर वैयावच्च करने वाले को प्रायश्चित देना वह धारणा व्यवहार है।

जीत व्यवहार प्रायश्चित देते हुए सामनेवाले की सहनशक्ती उसका धैर्य आदि देखकर प्रायश्चित देना वह जीत व्यवहार है।

इसप्रकार राग–द्वेष के त्यागपूर्वक स्वयं को जैसा व्यवहार मिला हो वैसे व्यवहार को करनेवाला मुनी आराधक होता है। पांचों व्यवहार में पहले से पहले अधिक बलवान है। जैसे जीत से धारणा उससे आज्ञा, उससे श्रुत तथा उससे भी केवल ज्ञानव्यवहार श्रेष्ठ है।

ऐर्यापथिक बन्ध :

गौतमस्वामी के पूछने से भगवान ने कहा कि–हे गौतम ? बन्ध दो

प्रकार के हैं। ऐर्यापथ बन्ध तथा सांपरायिक बन्ध। ईर्या अर्थात् गमन और उसके लिए पंथ अर्थात् रास्ता उसको ईर्यापथ कहते है। राग–द्वेष रहित जो भाग्यशाली है उनको भी मन–वचन काया के योग होने से मानसिक वाचिक और कायिक व्यापार करना पड़ता है और जहां क्रिया है वहां कर्म है। इस कर्म का बन्ध दो प्रकार से होता हैं। जिस योग के व्यापार में किसी प्रकार का राग नहीं, द्वेष नहीं तथा मोहमाया के संस्कार नहीं, वह ऐर्यापथिक बन्ध कहलाता है ! तद्विपरीत जिसमें रागद्वेषादि की मात्रा रहती उसे सांपरायिक बन्ध कहते हैं।

इस प्रश्नोत्तर में विशेषरूप से ऐर्यापथिक बन्ध की चर्चा है।

११ वे गुणस्थानक में रहे हुए उपशांत मोहवाले।

१२ वें गुणस्थानक में रहे हुए क्षीण मोहवाले।

१३ वें गुणठाणे में स्थित केवली भगवंत।

ऊपर के तीनों गुणस्थानकों में ऐर्यापथिक कर्म का बन्ध माना गया है। इससे नीचे के गुणस्थानकों में इसकर्म को बांधने की योग्यता नहीं है। अतः नर्क के जीव, तिर्यंच, तिर्यंच स्त्रियें, सभी देव तथा देवी इस कर्म को नहीं बांधते, परंतु पूर्व प्रतिपन्न भाग्यशाली मनुष्य तथा स्त्रियें बांधती हैं। प्रतिपद्यमान अर्थात् इसकर्म बंधन के पहले समय में रहनेवाले।

(१) मनुष्य बांधता है। (२) स्त्री बांधती है। (३) मनुष्य बांधते हैं। (४) मनुष्य स्त्रियें बांधती है (५) मनुष्य तथा मनुष्य स्त्री बांधती है। (६) मनुष्य तथा स्त्रियें बांधती हैं। (७) स्त्री तथा मनुष्य बांधती हैं। (८) मनुष्य तथा स्त्रियें बांधती है।

ऐर्यापथिक कर्म को कौन बांधता है ?

(१) स्त्री बांधती है ? (२) मनुष्य बांधता है ? (३) नपुंसक बांधता हैं ? (४) स्त्रियें बांधती है ? (५) मनुष्य बांधते हैं ? (६) नपुंसक बांधते हैं ? (७) नोस्त्री, नोपुरुष तथा नोनपुंसक बांधते हैं ?

प्रत्युत्तर में भगवान ने फरमाया कि हे गौतम ! पहले के छ प्रकार के जीव वेदोदयवाले भी हो सकते है अतः वे ऐर्यापथिक कर्म के बंधक नहीं हैं। परंतु पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से वेदरहित जीव ही बांधते क्योंकि इसमें केवली, क्षीणमोही और सयोगी दोनों प्रकार के होने से पूर्वप्रतिपन्न जीव बहुत होते है। अतः बहुवचन में बात की है प्रतिपद्यमान में वेदरहित जीव या वेदरहित जीवात्माएँ इस कर्म को बांधते है।

प्रश्न—हे प्रभु। वेदरहित जीव, ऐर्यापथिक कर्म को बांधते है तो क्या ?

(१) स्त्री पश्चात्कृत अवेदक जीव बांधती है ?

(२) पुरुष पश्चात्कृत अवेदक जीव बांधता है ?

(३) नपुंसक पश्चात्कृत अवेदक जीव बांधता है ?

(४) स्त्री पश्चात्कृत अवेदक जीव बांधते है ?

(५) पुरुष पश्चात्कृत अवेदक जीव बांधते है ?

(६) नपुंसक पश्चात्कृत अवेदक जीव बांधते हैं ?

(एक संयोगी छः भेद)

(१) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत और पुरुष पश्चात्कृत जीव ?

(२) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत और पुरुष पश्चात्कृत जीवो ?

(३) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत जीव पुरुष पश्चात्कृत जीव ?

(४) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत जीव और पुरुष पश्चात्कृत जीवो ?

(५) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत जीव और नपुसंक पश्चात्कृत जीव ?

(६) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत जीव और नपुसंक पश्चात्कृत जीवो ?

(७) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत जीवो और नपुसंक पश्चात्कृत जीव ?

(८) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत जीवो और नपुसंक पश्चात्कृत जीवो ?

(९) पुरुष अथवा नपुसंक पश्चात्कृत अवेदक

(१०) पुरुष पश्चात्कृत अवेदक जीव और नपुसंको

(११) पुरुष पश्चात्कृत जीवो और नपुंसंक पश्चात्कृत जीव

(१२) पुरुष और नपुसंको पश्चात्कृत अवेदक

(द्विक संयोगी १२ भेद)

(१) पुरुष स्त्री नपुसंको पश्चात्कृत अवेदक ?

(२) पुरुष स्त्री नपुसंको ,, ,, ?

(३) पुरुषो स्त्री नपुसंक ,, ,, ?

(४) पुरुष स्त्रियां नपुसंको ,, ,, ?

(५) पुरुष स्त्रियो नपुसंको ,, ,, ?

(६) पुरुष स्त्रियों नपुसंक ,, ,, ?

(७) पुरुष, स्त्रियों, नपुसंक जीव ,, ?

(८) पुरुषों, स्त्रियों, नपुसंको ,, ?

(त्रिक संयोगी आठ भेद)

इस प्रकार २६ प्रकार से ऐर्यापथिक कर्म बंधता है। पश्चात्कृत अवेदक अर्थात् क्या ?

पहले जिसने पुरुषवेद, स्त्रीवेद या नपुसंकवेद का अनुभव किया हो और फिर से दीक्षित होकर वेदरहित हुए जीवों को।

(१) पुरुष पश्चात्कृत अवेदक कहते है।

(२) स्त्री पश्चात्कृत अवेदक कहते है।

(३) नपुसंक पश्चात्कृत अवेदक कहलाते है।

प्रश्नः—हे प्रभु! ऐर्यापथिक कर्म का बंध भूतकाल में किसीने किया है? वर्तमानकाल में करते है? भविष्यकाल में करेगे? यह

पहला भांगा हुआ, दूसरा भांगा भी निम्न प्रकार का होगा—

(१) किया है ? करते है ? करेंगे ?

(२) किया है ? करते है ? नहीं करेंगे ?

(३) किया है ? करता नहीं ? करेंगे ?

(४) किया है ? करता नहीं ? नहीं करे ?

(५) नहीं किया ? करते है ? करेंगे ?

(६) नहीं किया ? करते है ? नहीं करे ?

(७) नहीं किया ? करता नहीं ? करेंगे ?

(८) नहीं किया ? करता नहीं ? नहीं करे ?

इस प्रकार के ऊपर के आठ विकल्प भवाकर्ष की अपेक्षा से जानने।

अनेक भव में उपशम श्रेणी की प्राप्ति होनेपर ऐर्यापथिक कर्म को ग्रहण करना वह भवाकर्ष कहलाता है। अब आठ विकल्पों को जरा विस्तार से जान ले—

(१) अवेदक (वेद रहित) जीव पूर्वभव में किसी समय मोह का उपशम होनेपर ऐर्यापथिक कर्म का बंध किया था। इस चालू भव में मोह का उपशम होने पर फिर से बंध काता है और भविष्य में भी मोह की उपशान्तता में बंध करेगा।

(२) किसी जीव ने पूर्वभव मे ११ वे गुणठाणे पर आने के बाद बंध किया। १२ वे क्षीण मोह अवस्था में भी करता है पर शैलेशी अवस्था मे बंध नहीं करता।

(३) पूर्वभव में बंध किया परन्तु ११ वे गुण ठाणे से नीचे उत्तर जाने से बन्ध करता नहीं परन्तु फिर से करेगा।

(४) शैलेशी अवस्था के पहले किया फिर करता नहीं और भावी में करेगा नहीं।

(५) पहले किसी भी भव में मोहकर्म का उपशम करने जितनी क्षमता न होने के कारण ऐर्यापथिक कर्म बंध किया नहीं पर चालू भव में स्वयं के पुरुषार्थ बल से उपशांत होकर बंध किया और भविष्य में भी करेगा।

(६) पूर्वभव में किया नहीं और चालू भव मे मोह की क्षीण अवस्था में कर रहा है। भविष्य में करने की जरूरत नहीं।

(७) भव्यजीव की अपेक्षा से पहले किया नहीं अभी करता नहीं पर भविष्य में करने की शक्यता है।

(८) अभव्य आत्मा की अपेक्षा से मोह को उपशांत किया नहीं वर्तमान में मोहरुपी मदमस्त हाथी को कंट्रोल करने की क्षमता नहीं और भविष्य में भी यह शक्ति आनेवाली नहीं। अतः ऐर्यापथिक बंध का मालिक अभव्य नहीं हो सकता।

नवग्रैवेयक देवलोक प्राप्द करना सुलभ है, सामान्य देवअवतार प्राप्त करना अधिक सुलभ है। मनुष्य अवतार में भी राजा महाराजा, सेठ—साहुकार बनकर लाखो करोड़ों और अद्‌लक हीरा-मोती के गहने इकट्ठे करने, वैसे ही बड़ीहुई सत्ता द्वारा हजारो-लाखो को मृत्यु के मुंह मे धकेलने के साथ जीवन मे तुफानी तत्व प्राप्त करना बहुत ही सरल है परन्तु स्वयं की आत्मा को कंट्रोल करके समय समय में उत्पन्न होते काम, क्रोध, मोह और लोभ नाम के गुंडो को मारकर भगाना बहुत मुश्किल है। स्वयं की धर्म पत्नी को लाखों रुपयों के आभूषणों से तथा बंगलों को फेशनेबल बनाने में केवल बिजली की चमक जैसा क्षणस्थायी पुण्य कर्म ही काम कर रहा है। जबकि भवांतर के उपार्जन किये हुए पापकर्म से भारी बनी हुई स्वयं की आत्मा को सुधारने के

लिए मोहकर्म का उपशम करना अत्यन्त कठिन है जो सभी के लिए सुगम नहीं है।

अब ग्रहणा कर्ष (एक ही भव में ऐर्यापथिक पुद्गल को ग्रहण करना) की अपेक्षा से भी पहले प्रमाण से आठ विकल्प समझने और घटाने। यह ऐर्यापथिक बंध सादि सपर्यवसित ही होता है और सर्वदेश से संपूर्ण रुप से बंधता है।

सांपरायिक कर्म का बंध कौन करे ?

सभी नारक, तिर्यंच, तिर्यंच स्त्रियें सभी देव और देवी निश्चय सांपरायिक कर्म के मालिक है। जब मनुष्य और मनुष्य स्त्रियें कषायपूर्वक होते है तब वे निश्चय बंध करते है। वैसे वे सवेद होने से भी कर्म को बांधते है। कषाय तथा वेदरहित मनुष्य तथा स्त्रियें इस कर्म के बंधक नहीं है।

तीनों वेदकर्म की उपशान्ति में अथवा क्षीणता में जब तक यथाख्यात चारीत्र की प्राप्ति न हो तब तक अपगत वेदवाला नोपुरुष, नोस्त्री तथा नोनपुसंक भी इस कर्म के बंधक होते है।

संसारी जीव जब तक यथाख्यात चारित्र प्राप्त नहीं करते, उपशम या क्षपक भी हुए नहीं तब तक निश्चित वे जीवात्मा इस कर्म के मालिक है। अर्थात् सांपरायिक का बंध करते ही रहते है और भविष्य में भी करेंगे मोहकर्म का क्षय होने के पहले भूतकाल में जीव ने इस कर्म का बंध किया है, वर्तमान में कर रहा है और भविष्य में मोहक्षय होने पर बांधेगा नहीं।

उपशांत मोह के पहले जीव ने कर्म बांधा है। उपशांत होने के बाद बांधता नहीं पर मोह की उपशान्त अवस्था से च्युत हो जाय तब बंध करेगा। अनादिकाल से सांपरायिक कर्म के मालिक होने से भूतकाल

में बांधा है वर्तमानकाल में जब मोह का क्षय होता है तब बांधता नहीं और भविष्य में भी बांधेगा नहीं।

उपशान्त मोहवाला बनकर उससे च्युत हो जाय फिर वापिस वह जीव उपशान्त या क्षयदशा को प्राप्त होता है उस अपेक्षा से यह कर्म सादि सपर्यवसित बंध कहलाता है। अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि अनंत है। क्षपक की अपेक्षा से अनादि सपर्यवसित है पर सादि अपर्यवसित भांगा नहीं। आत्मा स्वयं के संपूर्ण देश से संपूर्ण रूप से सांपरायिक कर्म बांधती है।

परिषह सम्बन्धी वक्तव्यता :

प्रश्न–हे भगवन् ! कर्म कितने प्रकार के है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि कर्म आठ प्रकार के है–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय।

राग द्वेष के वजन से भारी बनी हुई आत्मा अनादिकाल से कर्म के चक्कर में फंसी हुई है। वैसे तो आत्मा का प्रति समय के एक एक अध्यवसाय एक एक कर्म ही है पर वे सभी अध्यवसायों का आठ मे समा जाने से कर्म भी आठ है।

यह कर्म जैसे प्रति समय बधते है वैसे भवांतर मे किये प्रारब्ध कर्म भी उदय में आते रहते है। जैसे डोरी पर डाले हुए कपड़े पर नई धूल लगती जाती है और पुरानी धूल अपने आप झड़ती भी जाती है वैसे कर्म के उदय से आत्मा की परिस्थिति भी उस प्रकार की होकर सुख-दुख आते ही रहते है।

कर्मसत्ता त्रिकालाबाधित, सर्वतंत्रस्वतंत्र होनेपर भी वैराग्यराजा की छावनी में प्रवेश किया हुआ पंचमहाव्रतधारी मुनि गुरु की आज्ञा मे रहकर इस कर्म सत्ता के साथ जबरदस्त रण मैदान खेलता है और

एक समय ऐसा भी आ जाता है कि कर्म के एक एक परमाणु को आत्मा के प्रदेशो से अलविदा लेनी पड़ती है। तब आत्मा स्वयं के मूल स्वभाव में आती है और निरंजन, निराकार, शुद्धस्वरुपी, अर्हत सर्वज्ञ, देवाधिदेव, तीर्थंकर, भगवान, परमात्मा, परमेश्वर बनती हैं।

हे प्रभु ! परिषह कितने है ?

जवाब में भगवान ने परिषह २२ बताये हैं।

संयम मार्ग में आगे बढ़ती आत्मा स्वयं के संयम मार्ग से हटे नहीं और कर्म को चकचूर कर डाले उसके लिए उदय में आई अथवा जानबुझकर उदय में लाई हुई विडंबना को सहन करे उसको परिषह कहते है। आत्मा चाहे जिस दशा मे हो तो भी उपार्जन किये प्रारब्ध कर्म का उदयकाल तो सर्वथा निश्चित है।

ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अज्ञानता के कारण दूसरे के द्वारा अपमानीत तिरस्कारित और हंसी का पात्र बनकर आत्मा दुःखी बनती है।

वेदनीय कर्म के कारण से किसी समय पराधीन बनने पर भुखा, प्यासा, ठंडी में ठिठुरना, गर्मी में परेशान होता रहता है तथा दुःख सहन करता है।

मोहनीय कर्म के उदय से जीव किसी समय क्रोधी बनकर दूसरे के प्रेम से वंचित रहता है तथा मित्र का भी दुश्मन बनाता है। मायावी बनकर सगे कुटुम्बियो के साथ किये हुए विश्वासघात का पाप मस्तक पर ले लेता है और लोभी बनकर दूसरे से मार खाता है। इस तरह कर्म के उदय से स्वयं के कर्म भुगतता हुआ और पुनः नवीन कर्म का उपार्जन करता रहता है।

संयमधारी आत्मा कर्म के उदय में सम्यग्ज्ञान के द्वारा स्वयं की

आत्मशक्ति से उन दुःखो को जानबूझकर सहन करता है।

सारांश यह कि अज्ञानी आत्मा दुःखी महादुःखी बनकर कर्म को भुगतती है जब संयमी आत्मा हंसते हंसते कर्म को भुगतती है और उसके चक्र मे से छुटकर अनंत सुख को प्राप्त करने के लिए स्वयं की शक्ति का विकास करता जाता है। जेल में पड़ा हुआ चोर भुखा मरता है, सूखे टुकड़े खाता है, जमीन पर सोता है, ब्रह्मचर्य पालता है, दाढ़ी मूंछ के बाल बढ़ गये है, तो भी अनिच्छा से चोर सब सहन करता है, ऊपर की ये सब बातें संयमधारी के लिए समान है, जैसे संयमी भी भिक्षा से आहार लेता है, जमीन पर सोता है, ब्रह्मचार्य पालता है दाढ़ी मूंछ बढ़ गई है। इसप्रकार दोनो के कर्म तुल्य है, फिर भी संयमी आत्मा उपरोक्तदुःखो को संयम की समझदारी से हंसते हंसते भुगतेगी। अतः एक समान क्रिया होनेपर भी चोर की अपेक्षा से संयमी हजार बार वंदनीय है। जगत के लिए बारम्बार प्रशंसनीय हैं।

स्वयं के संयममार्ग में बाधा हो उस प्रकार का आहार, पानी, स्त्री चर्या, संथारा कपड़े आदि पदार्थ मिलने पर भी उसको तिलांजलि दे देगा और स्वयं के संयम की रक्षा करेगा।

रण मैदान में गया हुआ सैनिक शत्रु सैन्य को पराजित कर जैसे विजय प्राप्त करता है वैसे संयमी आत्मा भी मोहराज के सैनिक को एक के बाद एक पछाड़ता हुआ स्वयं की आत्मा की रक्षा करता मोक्ष की तरफ आगे बढ़ता है और मुक्ति रुपी कन्या की वरमाला पहनता है।

अब परिषह के स्वरुप को जाने:—

(१) दिगिच्छा (भूख) परिषह—तप के पारने या क्षुधा वेदनीय के प्रबल उदय से गोचरी निकला हुआ साधु संयम को दोष लगावे वैसा अनेषणीय सचित आदि दूषणो से युक्त आहार नहीं लेता है परंतु सर्वथा निर्दोष आहार ग्रहण करेगा अन्यथा क्षुधा वेदनीय कर्म को सहन करेगा।

(२) प्यास–परिषह—बहुत प्यास लगने पर भी साधक कुआ, नदी, या वर्षा का पानी ग्रहण नहीं करेगा परन्तु गृहस्थ के वहां तीन बार उबला हुआ पानी लेने का आग्रह रखकर स्वयं के संमय में स्थिर रहेगा।

(३) शीत–परिषह—भयंकर सर्दी में भी संयम की रक्षा के खातिर अग्नि अंगिठी, गर्मी या पड़िलेहन किये बिना के कपड़े की इच्छा नहीं करेगा।

(४) उष्ण परिषह—गर्मी में भी सर्व से या देश मे स्नान को नहीं इच्छता मुनि समभाव में रहेगा और उष्णता से डरकर ठंडी हवा के स्थान की इच्छा नहीं करेगा।

(५) दंश–मशक परिषह—चतुरिन्द्रिय प्राणी विशेष डांस, मच्छर, मक्खी, जूं, खटमल आदि के उपसर्ग को सहन करता हुआ मुनि उन क्षुद्र जंतुओं को व्यथा उत्पन्न करे तथा उनके निवारण के लिए प्रयत्न करे नहीं उनसे भय तथा उनके प्रति द्वेष भी नहीं लावे।

(६) अचेल–परिषह—किसी समय वस्त्र का अभाव हो अथवा जीर्णप्रायः वस्त्र मिले तो भी लज्जा महसूस नहीं करे। दैन्य नहीं लावे तथा दूसरे वस्त्र की आकांक्षा भी नहीं करे।

(७) अरति–परिषह—मोहनीय कर्म से उत्पन्न हुआ मानसिक विकार अच्छे अच्छे को भी चलायमान करने में समर्थ होता है परन्तु आत्मकल्याण का साधक अरति अर्थात् मानसिक खेद को उत्पन्न कराने वाले स्थान मे रहकर भी स्वस्थ रहता है। उसको मानसिक जीवन की ट्रेनिंग समझकर स्थित रहता है। साधक समझता है कि अशुभ पुद्गल तथा नापसन्द खाने पीने की सामग्री, स्थान आदि स्वतः जड़ है तो वे जड़पदार्थ उपयोगवंत मेरी आत्मा को क्या करनेवाले है? यह समझकर अरति स्थान के प्रति द्वेष लाये बिना समताभाव में रहता हैं।

(८) स्त्री परिषह—व्यवहार में या एकांत में रहते कभी कोई स्त्री दुराचार भाव से साधक पुरुष को अथवा दुराचार भाव से कोई पुरुष साधक स्त्री को व्यभिचार के लिए आमंत्रण दे तो भी साधक स्वयं के संयम मार्ग के लिए उसको कांटे के समान समझकर उसको ठोकर मारकर अपने संयम की रक्षा करता है क्योंकि ब्रह्मचर्य साधना ही गुरु कुलवास है और गुरु कुलवास ही ब्रह्मचर्य है जो साधक के लिए अनिवार्य है।

(९) चर्या–परिषह—संयमी को संयम के निर्वाह के लिए एक गांव से दूसरे गांव तथा एक देश से दूसरे देश में जाना सर्वथा उचित है। ऐसा करते हुए कभी विहार में कष्ट आवे तो भी सहन करता है। क्योंकि ग्रामान्तर या देशान्तर संयम की शुद्धि के लिए है तथा विहार के कष्टों से घबराकर एक स्थान में ही रहना वह असंयम है।

(१०) नैषेधिकी परिषह :—उत्तम स्वाध्याय के लिये शून्यग्रह या श्मशान भूमि में कभी समय व्यतीत करना पड़े और वहां कोई उपसर्ग आवे उसे खेद किये बिना सहन करे।

(११) शय्या–परिषह—शय्या अर्थात् वसति। साधु के रहने का स्थान कभी प्रतिकूल भी हो सकता है तो भी मन में दुःख नहीं लावे।

(१२) आक्रोश–परिषह—गोचरीपानी जाते समय कोई अज्ञान मनुष्य साधु को आक्रोश वचन कहे, गाली दे तो भी उसके प्रति भावदया लानी, उसके दुर्वचनों को सहन करना। आत्मा से बलवान बना हुआ साधु या साधक प्रतिक्षण विचारवंत बनेगा क्योंकि भगवान महावीर स्वामी ने चंडकौशिक जैसे नाग के डंख सहन किये, पार्श्वनाथ भगवान ने कमठ के अत्याधिक उपसर्ग सहन किये तो फिर मुझे तो केवल इस भाई के कटुवचन ही सहन करने हैं। पर समझकर आत्मसंयमी स्वयं की संयमसाधना से चलायमान नहीं होगा।

(१३) वध-परिषह :— कभी कोई मनुष्य साधु को लकड़ी से मारने के लिये भी तैयार हो तो भी समताभाव का अवलबंन लेकर उसकी मार को सहन करता है। क्योंकि सहन करना ही समताभाव है, और समताभाव ही साधुता है।

(१४) याचना-परिषह–मोहकर्म के सबल सुभट मान तथा अहंकार ने हमको अनेक भव तक रखड़ाया है। जिससे इस भव में ऐसा न बने इसलिए बात बात में उत्पन्न होनेवाला मान अहंकार को ही खत्म कर डालूं। यह समझकर वे साधु तृण के टुकड़े से लेकर सभी वस्तुओं की याचना करेंगे। उसमें कभी किसी समय मान अहंकार बीच में आवे तो स्वयं की आत्मा का कट्टर बैरी मान को ही दबाने का प्रयत्न करे।

(१५) अलाभ–परिषह—स्वयं के अंतराय कर्म को लेकर किसी वस्तु की याचना करने पर भी वस्तु की प्राप्ति सुलभ नहीं बने तो भी स्वयं के मन में उस वस्तु के लिए आर्तध्यान नहीं करे जैसे मैं गरीब हूँ या मुझे मांगनेपर भी कुछ नहीं मिलता ऐसा दीन भाव भी नहीं लाना चाहिए बल्कि ऐसा सोचे कि "पुद्गलिक पदार्थ संयम नहीं है" अतः जो वस्तु नहीं मिली उसके लिए मैं मेरे संयम मार्ग को बिगाड़ूंगा नहीं और अब से उन पुद्गलिक वस्तुओं का ही त्याग करूंगा।

(१६) रोग-परिषह-संयम भाव में रहने पर भी पूर्वभव कि अशाता उदय में आते किसी रोग की उत्पत्ति भी होने लगे तो भी आत्मा में स्थिर रहकर सहन करना, पर यदि चिकित्सा में अनेक जीव की हत्या हो वैसी दवा नहीं कराते निर्दोष दवा करानी।

(१७) तृणस्पर्श-परिषह–तृणमय संथारा मिलनेपर भी तृण के स्पर्श से जो पीड़ा हो उसे सहन करे पर मुनिधर्म की निन्दा न करे।

(१८) जल्ल-परिषह–जल्ल अर्थात् शरीर, हाथ पांव, मुंह और वस्त्र ऊपर लगे हुए मैल के कारण कभी अरति मानसिक खेद हो तो भी शरीर

को सर्वस्नान या देशस्नान से साफ करने की भावना न रखे।

(१९) सत्कार, पुरस्कार, परिषह—साधक मुनि को पूर्वभव के पुण्यकर्म के योग से अनेक भाग्यशाली गृहस्थ वस्त्र, पात्र, कंबल आदि से सत्कार या बहुत अधिक श्रीमंत तथा राजद्वारी पुरस्कार दे तो भी स्वयं की आत्मा के उत्कर्ष का वर्जन करे। अर्थात् गर्व की मात्रा उत्पन्न नहीं होने दे और उसकी प्राप्ति नहीं होनेपर उसकी आकांक्षा भी न करे।

(२०) प्रज्ञा परिषह—मतिज्ञान विशेष को प्रज्ञा कहते हैं। उस प्रज्ञा के बल से भावुकों का आकर्षण स्वयं की तरफ हो तो भी प्रज्ञा के सद्भाव में मद या गर्व न करे और उसका अभाव हो या बुद्धिबल कम हो तो भी उद्वेग न करे।

(२१) ज्ञान परिषह—मति आदि ज्ञान की विशेषता के सद्भाव में मद तथा कम ज्ञान में खेद न करे। दूसरे ग्रन्थों में इसे अज्ञान परिषह भी कहते हैं। अर्थ एक ही है कि ज्ञानमात्रा कम होनेपर दुःखी न हो और संयम के प्रति तिरस्कार न लावे।

(२२) दर्शन परिषह—अर्थात् नव तत्व के प्रति श्रद्धा। जिनेश्वर देव के अत्यन्त सूक्ष्म भाव को हम न समझ सके तो भी जिनवचन में अश्रद्धा न होने दे।

प्रश्न—कौनसा परिषह किस कर्म के उदय से होता है?

भगवान ने कहा कि-प्रज्ञा—परिषह ज्ञानावरणीय के भेद रुप मति-ज्ञानावरणीय कर्म में समवतार पायेगा। क्योंकि बुद्धि के अभाव में मति ज्ञानावरणीय कर्म काम करता है।

प्रज्ञा के अभाव में दैन्य तथा सद्भाव में मान ये दोनों चारित्र मोहनीय कर्म की सत्ता में होते हैं।

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, बध, रोग,

तृण स्पर्श और मल परिषह से होती पीड़ा में वेदनीय कर्म कारण रुप है और उस पीड़ा को सहन करने में चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम काम कर रहा है। क्योंकि सहन करना यह चारित्र है दर्शनपरिषह जो तत्व श्रद्धा रुप है वह दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम में ही हो सकता हैं।

अरति परिषह में अरति मोहनीय कर्म कारण रुप है। अचेल परिषह का जुगुप्सा मोहनीय कर्म में समावेश होता है, स्त्री परिषह में वेदकर्म काम करता है। नैषेधिकी परिषह से भय की उत्पति होती है अतः भय मोहनीय कर्म में समावेश होता है। याचना परिषह मान मोहनीय कर्म के कारण से है। क्योंकि मान मोह को लेकर याचना दुष्कर होती है आक्रोश परिषह में क्रोध नाम का मोह काम करता है। सत्कार, पुरस्कार परिषह में मान, मोहकर्म के उदय की संभावना होने से मोहकर्म में समावेश होता है।

अलाभ परिषह–लाभान्तराय कर्म के कारण से इस परिषह की संभावना होती है। जो जीव सात कर्म का बंधक है उनको ऊपर के २२ परिषह होते हैं। पर एक साथ बीस परिषह को वेदेगा। जिस समय शीत परिषह का उदय होगा तब उष्ण वेदना नहीं होती। वैसे चर्यापरिषह की विद्यमानता में नैषेधिकी नहीं होती। बाकि का विस्तार मूल सूत्र से जानना।

जंबूद्वीप के दोनों सूर्य की वक्तव्यता :

मेरु पर्वत की समतल भूमि से जंबूद्वीप में उदयास्त होते हुए दोनों सूर्य ८०० योजन की ऊँचाई पर ही विद्यमान है। इसमें किसी समय भी फेरफार नहीं होनेपर भी अर्थात् चाहे जैसी स्थिति में नियत की हुई ऊँचाई से सूर्य कभी भी नीचे नहीं आता तथा इससे ऊपर भी नहीं जा सकता। शास्त्रोक्त हकीकत इतनी सत्य होनेपर भी सूर्य, उदय तथा अस्त के समय दूर होनेपर भी देखनेवाले को पास में क्यों दिखता है ? और दोपहर में पास में दिखता सूर्य इतना दूर क्यों दिखता

है ? अर्थात् दूर रहने पर भी सूर्य उदय के समय देखनेवाले को पास जैसा दिखता है और अस्त के समय भी पास जैसा दिखता है। भर दोपहर में बिलकुल पास में दिखने पर भी दूर-२ लगता है। ऐसा क्यों तथा कैसे होता है ?

जबाब में भगवान ने कहा कि—उदय के समय सूर्य की लेश्या [तेज] का प्रतिघात अर्थात् स्वयं के तेज का विकास नहीं होने से सुदृश्य अर्थात् सभी को देखने जैसा होता है। अतः गौतम ! सूर्य उदयकाल में देखनेवाले को दूर होनेपर भी समीप में दिखता है और अस्त के समय भी ऐसा ही है। जबकि मध्यान्हकाल में सूर्य सभी प्रकार से तेज होता है। अतः दुर्दृश्य देख न सके ऐसा होने से मस्तक के ऊपर पास में दिखने पर भी दूर-२ दिखता है।

हे प्रभु ! जंबूद्वीप के दोनों सूर्य क्या व्यतिकांत में आते हैं ? अति क्रम्यमान क्षेत्र में जाते है ? अथवा गन्तव्य क्षेत्र में जाते है ?

गमन किया हुआ मार्ग जो उलांघ लिया है वह अतिक्रांत उल्लघंन किया जानेवाला मार्ग अतिक्रम्यमान है। और निकट भविष्य में या कुछ घंटे बाद जहां जाने का होता है गन्तव्य क्षेत्र कहलाता है।

भगवान ने कहा कि—सूर्य ने जिस रास्ते को पार कर लिया है उस क्षेत्र में सूर्य नहीं जाता। भविष्य में जिस रास्ते पर जायगा उस रास्ते के क्षेत्र में वर्तमानकाल में नहीं जाता पर गम्यमान क्षेत्र में ही सूर्य जाता है।

जैसे कि दिन भर में सूर्य को लगभग ५५ कला चलने का होता है उसमें से २३ कला चल चुका है तथा २४ वीं कला में चल रहा है। अर्थात् जिस कला का क्षेत्र संपन्न किया है, अतः २२ वीं कला की तरफ सूर्य नहीं आता और गम्यमान कला को छोड़कर आगे की कला के क्षेत्र में वर्तमान में नहीं जायेगा अतः गम्यमान क्षेत्र में ही सूर्य गति करता है। इस प्रकारअतीत या अनागत क्षेत्र को प्रकाशित नहीं करता। परंतु वर्तमान क्षेत्र

को ही प्रकाशित करता है और वह भी संबंधित क्षेत्र को ही प्रकाशता है। ६ दिशाओं को प्रकाशित करता सूर्य स्पष्ट रूप से क्षेत्र को प्रकाशित करता है, तपाता है। दोनों सूर्य स्वयं के विमान से उंचे १०० योजन क्षेत्र को तपाता है।

१८०० योजन स्वयं के नीचे के क्षेत्र को तपाता है। तिर्छा ४७२६३ २०/६० योजन प्रमाण तपाता है। भगवान महावीर स्वामी की दिव्यवाणी सुनकर गौतमस्वामी प्रसन्न हुए प्रभावित हुए तथा भगवान का गुणानुवाद किया।

॥ नवमां उद्देशक समाप्त ॥

शतक आठवां उद्देशक—१०

पुद्गल के बंध की विस्तृत विवेचना :

हे प्रभु! बंध कितने प्रकार के हैं ?

जवाब में भगवान ने कहा कि—बंध दो प्रकार के हैं। प्रयोगबंध और विस्रसाबंध। संपूर्ण ब्रह्मांड (१४ राजलोक) में जो कुछ तत्त्व दिखते हैं। वे या तो जड़ हैं या चेतन हैं। इन दोनों के सिवाय तीसरा एक भी तत्त्व नहीं है। अतः चेतन तथा जड़ का मिश्रण ही संसार है। ये दोनों अपनी अपनी मर्यादा में अनंतशक्ति को धारण करनेवाले हैं। और संख्याबल में चेतन तत्त्व भी अनंतानंत है और जड़ तत्त्व भी अनंतानंत है स्वयं की अदम्य शक्ति के द्वारा संसार में स्वयं भी परिवर्तित होनेपर संसार को भी परिवर्तित करनेवाले हैं। इस प्रकार सर्वथा प्रत्यक्ष संसार के रूपांतर में या परिणामान्तर में ईश्वरीय तत्त्व की कल्पना, युक्ति, अनुभूति और श्रुति को भी सुसंगत नहीं।

हमारे जीवन के प्रत्येक प्रसंग में ईश्वर की प्रत्यक्ष या परोक्ष की हाजरी रही हो ऐसा अनुभव भी किसी ने नहीं किया। स्वयं की जीवन यात्रा में किसी भी जीव को जो कुछ सुख-दुःख, संयोग-वियोग का अनुभव होता है उसमे स्वयं की सद्बुद्धि या दुर्बुद्धि का चमत्कार है। इसके पीछे पूर्वभव के प्रारब्ध कर्म ही काम कर रहे हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान के मालिक तीर्थंकर देव प्रणीत श्रुति (आगम) भी जगत के निर्माण में, संचालन में, पालन या संरक्षण में ईश्वर की सत्ता का इन्कार करती है।

जैन शासन ने ईश्वर को पूज्यतम तथा संसारी को पूजक माना है अर्थात् ईश्वर हमारे पूज्य है तथा हम पूजक हैं।

ईश्वर को आराध्यदेव समझकर प्रत्येक आराधक भाव से परमात्मा की आराधना, पूजा, भक्ति करे यही सर्व श्रेयस्कर मार्ग है।

अनंतानंत पुद्गल परमाणुओं से और स्कंधों से परिपूर्ण संसार मे एक पुद्गल दूसरे से अलग होता है और निमित्त मिलते ही वापिस जुड़ जाता है। अलग हुये पुद्गल वापिस कैसे जुड़ते होंगे ? इन सभी बातों की विस्तृत चर्चा इस उद्देशक में है, क्योंकि संसार का एक पुद्गल परमाणु तीर्थंकरों के ज्ञानचक्षु से अगोचर नहीं। इस कारण संसारभर के पुद्गल परमाणु से लेकर बड़े से बड़े पुद्गल स्कंधों का यथार्थ निर्णय, यथार्थवादी तीर्थंकर के सिवाय दूसरा कोई भी नहीं कर सकता।

बुद्धशासन में बुद्धदेव की हाजरी में उनके शिष्यों द्वारा पूछे हुए अनेक प्रश्नों का उत्तर या स्पष्टीकरण बुद्धदेव ने नहीं किया। 'इदं न प्रष्टव्यं न व्याकरणीयं' यह कहकर अनेक प्रश्नों को टाल दिये हैं। जबकि दूसरों के लिए जो प्रष्टव्य और व्याकरणीय नहीं उसका सब खुलासा जैन द्वादशांगी में स्पष्टरुप से मिलेगा।

गौतमस्वामी के पूछने से भगवान महावीर ने कहा कि हे गौतम ! कितने बंध तो प्रयोग से होते हैं। तथा कितने स्वाभाविक होते हैं। जीव के व्यापार विशेष से जो बंध होता है वह प्रयोग बंध कहलाता है। इन दोनों बंध में से विस्रसा बंध के लिए थोड़ा ही कहने का होने से सबसे पहले उसका निर्णय करने में आया है।

भगवान ने कहा कि–सादिक या अनादिक रुप से विस्रसा बंध दो प्रकार का है।

जिस बंध की आदि हो वह सादिक तथा जिसकी आदि नहीं वह अनादिक कहलाता है।

अनादि विस्रसा बंध तीन प्रकार का है—

धर्मास्तिकाय अन्योअन्य अनादि विस्रसा बंध इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ।

संसार के संचालन में धर्मास्तिकाय अधर्मास्किाय और आकाशास्तिकाय स्वयं अरुपी होनेपर भी पूर्ण शक्त तत्व विद्यमान है। जहां पर आकाशास्तिका का प्रदेश है वहां धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश अनादिकाल से किसी भी जीव की या ईश्वर की सहायता के बिना ही परस्पर बंधे हुए हैं।

खरगोश या गधे को सींग का सर्वथा अभाव होता है। अतः उसके बंध का विकल्प नहीं हो सकता है। परन्तु चर्मचक्षु के मालिक को सर्वथा अदृश्य होनेपर भी ऊपर के तीनों तत्त्व सदैव विद्यमान होने से उसके बंध की विचारणा उपयुक्त है।

भगवान ने कहा कि––तीनों के प्रदेश अनादिकाल से सम्बन्धित हैं। गणधर ने पूछा कि, वे देश बंध से बंधे हुए हैं या सर्वबंध से? भगवान ने कहा कि, वे देश बंध से बंधे हुए हैं। पर सर्वबंध से नहीं।

चटाई खजूर के पत्ते से गुंथी हुई होती है। परन्तु उन पत्तों का संयोजन चटाई के सभी भाग में नहीं होता। अतः दोनों का देश संबंध होने से व्यपदेश भी अलग अलग होता है।

जब सर्व बंध दूध तथा पानी की तरह एकाकार होता है अर्थात् दोनों के प्रदेश परस्पर एकाकार होकर पानी स्वयं का व्यक्तित्व छोड़ता है तब दूध के व्यपदेश से संबोधन करते है। इस प्रकार तीनों तत्व का सर्व बंध मानें तो उनको अपनी अपनी सत्ता छोड़नी पड़ती है। पर ऐसा किसी समय होता नहीं है। भगवान ने कहा कि, तीनों का बंध सर्व बंधन रुप नहीं है यह बंधन अनादिकाल से अनंतकाल तक व्यवस्थित है। किसी समय और किसी की शक्ति से भी इसमें फेरफार नहीं हो सकता है।

अब सादिक बंध के लिए भगवान ने कहा कि हे गौतम ! सादिक विस्रसा बंध तीन प्रकार का है–

बंध प्रत्ययिक, भाजन प्रत्ययिक, परिणाम प्रत्ययिक ।

पुद्‌गल मात्र परिवर्तन के स्वभाववाले होने से किसी समय बड़ा स्कंध (जिसमें अनंतानंत, अनंत, असंख्येय, पुद्‌गल परमाणु है) निमित्त मिलते ही टूटते हैं और टूटते-टूटते एक परमाणुरुप भी बनता है और फिरसे एक परमाणु के साथ दूसरा परमाणु जुड़ता है और दो के साथ अनेक परमाणु जुड़कर फिर से छोटा स्कंध बनता है । यें सभी परिणाम (जिसमे किसी भी ईश्वर का हस्तक्षेप नहीं) हमको भी प्रत्यक्ष है ।

गौतमस्वामी ने पूछा कि—हे प्रभु ! यह बंध प्रत्ययिक क्या है ? कैसे होता है ?

भगवान ने कहा कि—'बध्यते अनेन इति बन्धन' जिसके व्दारा बांधने में आवे वह बंधन है । परमाणुमात्र में रही हुई स्निग्धता और रुक्षता ही एक परमाणु को दूसरे के साथ यावत् स्कंध रुप में भी बांधने का काम करती है ।

परमाणुमात्र में स्निग्धता या रुक्षता रही हुई होती है । बेशक ! तारतम्यभाव से कम ज्यादा हो सकती है । ये दोनों या एक-एक के कारण से पुद्‌गल आपस में बंधते हे । अतः वे बंधन आदि है । इस बंध का समय कम से कम एक समय का है और ज्यादा में असंख्यात काल का है ।

इस बंधन में स्निग्धता और रुक्षता की मात्रा कितनी होनी चाहिये उसकी चर्चा करते हुए भगवान ने कहा है कि समभाग में रुक्षता तथा स्निग्धता हो तो परस्पर बंधन नहीं होता है पर दुगनी से अधिक स्निग्धता तथा रुक्षता होगी तो ही बंधन होगा । जैसे कि परमाणु या स्कंध जिस गुण में है । उससे भी ज्यादा मिलनेवाले परमाणु या स्कंध में दो गुण अधिक गुण होने

चाहिए अथवा जिसमें मिलना है उसमे दो गुण अधिक गुण होने चाहिए और पहले में दो गुण हो तो मिलनेवाले में चार गुण अधिक गुण होने चाहिये। परंतु दो गुण से कम गुण न होना चाहिए। यह नियम स्निग्धता और स्निग्धता गुणवाले के साथ अथवा रूक्षता और रुक्षता के गुणवाले के साथ है। स्निग्ध गुणवाले परमाणु को रुक्ष गुणवाले परमाणु के साथ मिलने का नियम ऐसा है कि परस्पर जघन्य गुण को छोड़कर अर्थात् एक गुण स्निग्ध हो या एक गुण रुक्ष हो तो परस्पर बंधन नहीं होगा परंतु एक गुण से अधिक होगा तो होगा।

"स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धो भवति।
जघन्य गुणानां बन्धो न भवति।
गुणसाम्ये सदृशानामपि बन्धो न भवति।
द्व्यधिकादिगुणानां तु बन्धो भवति"। (तत्वार्थ सूत्र)
तद्यथा :—
"स्निग्धस्य द्विगुणाधिक स्निग्धेन बन्धो भवति।
द्विगुणाद्यधिक स्निग्धस्य स्निग्धेन बन्धो भवति।
रुक्षस्यापि द्व्याधिक गुणरुक्षेण बन्धो भवति।
द्विगुणाद्यधिकरुक्षस्य रुक्षेण बन्धो भवति।
एकादि गुणाधिकयोस्तु सादृशयोर्बन्धो न भवति।
(भाष्य)......

भाजन प्रत्ययिक बंधन क्या है ?

भाजन अर्थात् आधार। यह आधार जिस बंधन में कारण रुप बने उसको भाजन प्रत्ययिक बन्ध कहते हैं। जैसे कि पुरानी शराब में, पुराने गुड़ में, पुराने चावल में होता है। अर्थात एक पात्र में जब इन पदार्थ को अधिक समय तक रखने मे आवे तब पिंडरुप में बन जाने का कारण उस भाजन में उनको भर रखा वह है। इसका कम से कम समय अन्तर्मुहूर्त है और अधिक समय संख्या काल है।

परिणाम बंधन प्रत्ययिक :

परिणाम अर्थात् रुपांतर होना पहले नहीं था और फिर जो होना वह सादिक विस्रसा परिणाम बंध है । जैसे आकाश के बादल अभ्रवृक्ष, गंधर्व-नगर, उल्कापात, दिग्दाह, विद्युत्पात, धूलवृष्टि, चन्द्र तथा सूर्यग्रहण तथा उनका परिवेषण, इन्द्रधनुष्य आदि यह सब परिणाम जो स्वयं होते हैं । इसका कम समय एक समय का है तथा अधिक छ महिने का है ।

इस प्रकार विस्रसाबंध को जान लेने के बाद अब प्रयोग बंध की चर्चा है ।

भगवान ने कहा कि—प्रयोगबंध तीन प्रकार के हैं–(१) अनादि अपर्यवसित (२) सादिक अपर्थवसित (३) सादिक सपर्यवसित ।

मानसिक, वाचिक और कायिक शक्तियों की प्राप्ती जीव को होती है जिससे जीव प्रदेशों का और औदारिक शरीर पुदगल का जो बंध हो उसे प्रयोग बंध कहते हैं ।

(१) अनादि अपर्यवसित बंधः— जीव के असंख्य प्रदेशों में से आठ संख्या के मध्य प्रदेशो का आत्मा के साथ अनादि अपर्यवसित बंध होता है जिस समय केवली भगवान केवली समुद्घात करते हैं उस समय वे समग्र-लोक को व्याप्त करते हैं । परंतु उनके आठ प्रदेश में कौन सा भी अंतर नहीं आता है जब दूसरे प्रदेशों में हलनचलन होता है अतः पहला भेद आठ मध्य प्रदेश को लागू पड़ेगा । सिद्ध भगवंत का दूसरा भेद है ।

सादिक सपर्यवसित बन्ध के चार भेद हैंः—

(१) आलापना बन्ध (२) आलीन बन्ध (३) शरीर बन्ध (४) शरीर प्रयोग बन्ध

[१] आलापना बन्ध नेतर की छाल, लत्ता, चमड़े की डोरी, सन की डोरी तथा कपड़े के टुकड़े से घास की गासडीओं की तथा कपड़े के टुकड़े से

की गांसडियों लकड़ी का गट्ठा, बेल तथा कुपलों के भारे को बांधने के रुप को आलापन बंध कहते हैं ।

(२) आलीनबंध के चार भेद है :—

[१] श्लेषण बन्ध—टूटेफुटे घड़े को काष्ट, चटाई, मकान, दिवाल और उस प्रकार के दूसरे पदार्थों को चूना, लाख, मेण, सरस और आज कल के पदार्थों को जोड़ने की जो टयूब निकाली है उन सभी से जुड़ते हुए पदार्थों को श्लेषण बंध कहते हैं ।

[२] उच्चय बंध :—घास, लकड़ी, पान, या दूसरे पदार्थों की राशि के उंचे ढेर को करने रुप का यह बंध है ।

[३] समुच्चय बंध :– कुआं, तालाब, नदी, बावड़ी, प्याऊ, सभा, मकान, घर, द्वार, सड़क आदि को चूने या सीमेंट से ठीक करने रुप यह बंध है ।

[४] संहनन बंध :—देश तथा सर्व रुप दो प्रकार के हैं :—(१) एक वस्तु के एक देश से दूसरी वस्तु का दूसरे देश से संबंध करना जैसे गाडी के एक भाग को ठीक करने के लिए किसी लकड़ी या लोहे के टुकड़े का प्रयोग करना पड़े वह देश बंध है ।

(२) दूध तथा नीर के संबंध को सर्वसंहनन बंध कहते हैं ।

अब सादि सपर्यवसित बन्ध का तीसरा भेद पूर्वप्रयोग और प्रत्युत्पन्न प्रयोग प्रत्ययिक रुप दो प्रकार के हैं ।

सादि सपर्यवसित बन्ध का शरीर प्रयोग पांच प्रकार का है । प्रयोग शरीर वैक्रिय, आहारक, तैजस, और कार्मण–औदारिक शरीर प्रयोग बन्ध ।

औदारिक शरीर प्रयोग बन्ध के भी पांच भेद हैं ।

एकेन्द्रिय, बेईन्द्रिय, तेईन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय । शरीर

प्रयोग पांच स्थावरों को लेकर एकेन्द्रिय शरीर प्रयोग बन्ध पांच प्रकार के हैं। शेष भेद-प्रभेद प्रज्ञापना सूत्र के २१ वे अवगाह संस्थानपद से जानना।

प्रश्न—हे प्रभु ! औदारिक शरीर प्रयोग बन्ध किस कर्म के उदय से होता है ? अर्थात् कौन से कर्म ? कैसे कार्य तथा अध्यवसाय को लेकर जीवात्मा एकेन्द्रिय स्थान आदि को प्राप्त होता है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि हे गौतम ! सवीर्यता, सयोगता, सद्द्रव्यता से तथा प्रमाद रुप कारण से कर्मयोग, भव तथा आयुष्य के आश्रय से जीव को औदारिक शरीर प्रयोग। नामकर्म का उदय होने से यह बंध होता हैं, सवीर्यता प्रवाह से अनादिकाल के वीर्यान्तराय कर्म के भार से बोझिल बनी हुई जीवात्मा का आत्मिक व्यापार अधिकांश रुप निष्क्रिय जैसा होता है। तो भी अनंतशक्ति की मालिक आत्मा किसी समय पुरुषार्थ शक्ति का आश्रय लेती है तब इस कर्म का कुछ अंश के क्षयोपशय से उत्पादित शक्ति का नाम वीर्य है और वीर्य से युक्तता को सवीर्यता कहते हैं। जो समस्त जीव में और खासकर औदारिक शरीर का प्रकरण होने से औदारिक शरीरधारी जीव में पूर्णरुप से सभी में सवीर्यता रहती है।

सयोगता—वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम जैसे-२ होता जाता है। वैसे-२ मन, वचन तथा काया का व्यापार भी बढ़ता जाता है उस युक्तता को सयोगता कहते हैं।

सद्द्रव्यता–पुद्गल को द्रव्य कहते हैं तथा उससे युक्तता को सद्द्रव्यता कहते हैं।

प्रमाद :—आत्मीयता तत्व से सर्वथा व्यतिरिक्त कथा को विकथा कहते हैं। यह अत्यन्त दुस्त्याज्य और दुष्ट तत्वों से परिपूर्ण होने से मोहराजा के सर्वथा पराधीन जीवात्मा को राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा तथा भोजन कथा में रस आता है। इसीलिए यह विकथा प्रमाद है विषय कषायों की वार्ता भी प्रमाद हैं।

"आत्मानं प्रमाद्यते इति प्रमादः" अर्थात् सर्वतंत्र स्वतंत्र आत्मा को भी बात-२ में उलझन में डाले, मोह करावे, भान भुलावे और धार्मिकता को देश निकाला दे यह प्रमाद है।

कर्म—उपार्जित कर्म के कारण वर्तमान में उदयवर्ती एकेन्द्रिय जाति को कर्म कहते हैं।

योग—उदय में वर्तित काय आदि योग।

भव—अनुभूयमान तिर्यंच आदि भव।

आयुष्य—जिस योनि में जो आयुष्य हो वह उदयवर्ती आयुष्य।

इस सभी कर्म कारणों को लेकर जीवात्मा औदारिक शरीर प्रयोग बन्ध करता है।

अब ऊपर की सब बातों के उदाहरण की कल्पना कर समझ लें।

पंचेन्द्रिय जाति संपन्न मनुष्य को वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुई आत्मिक शक्तियाँ जब मोहवासना से वासित, क्रोध कषाय में धमधमती और लोभराक्षस से परिवेष्टित बनती है तब प्राप्त हुई शक्तियें भी पापमय कार्य करने में तथा हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीगमन तथा संसार की माया बढ़ाने में उपयुक्त बनती हैं। मन, वचन, काया की शक्तियें भी दुष्ट तत्व के आधीन बनकर मर्यादित पापकर्म को उपार्जित करती है और जैसे-२ मनवचन तथा काया के योग पापकर्म में आगे बढ़ते हैं वैसे आत्मद्रव्य भी कृष्ण, नील और कापोत लेश्या से वासित होता है।

इस प्रकार मोह-माया की मदिरा के नशे में बेभान बनी हुई आत्मा को चारों बाजू से प्रमाद घेर लेता है। जैसे बंदर झाड़ की डालियों के ऊपर कूदता है वैसे प्रमादी आत्मा के मानसिक और वाचिक व्यापार भी राजकथा करने, सुनने और दूसरों को सुनाने में ही मशगूल बनते हैं।

दुनिया भर के राजा महाराजा के नाम, उनके युध्द, विजय तथा पराजय की बात करने में प्रमादी आत्मा के ४-५ घंटे पूर्ण होते हैं फिर राजकथा करते करते थक जाय तो देशकथा पर स्वयं का ध्यान केन्द्रित करता है। मानो देश, प्रदेश के इतिहास के ऑल इन्डिया रेडियो ब्रोडकॉस्ट स्वयं ही होते तो इतना अच्छा बनता कि पूछो ही मत। रेडियो के ब्रोडकास्ट करनेवाले के मस्तिष्क में से जैसे जैसे नये नये समाचार निकलते जाते हैं वैसे देशकथा के शौकीन भी ओटले (पेढी) क्लब पर बैठकर दिन के ३-४ घंटे पूरे करते हैं।

मन तो बंदर की तरह अधिक चंचल अर्थात् देशकथा की डालीपर से कूदकर भोजन कथा की स्वादिष्ट कथाओं की गोष्टी में आ बैठता है। घंटे घंटे भर तक दहीबड़ा, पानी पतासा, गांठिया, चिवड़ा, कचोरी, पानी-पूरी, चटनी, भेल आदि चौपाटीपर बिकते हुए द्रव्यों की विचारणा में से ऊंचे ही नहीं आते हैं।

इन सभी बातों के बीच में जब श्रृंगार रस से परिपूर्ण, रसाल, सुदंर, गोरी नवयुवति झांझर का झनकार करती अपने बीच आकर बैठ जाय फिर देखलो इस मनरुपी भाई के दावपेंच, आंखो की मस्ती, बोलने की चालाकी, हाथ पांव के इशारे की करामात...... और फिर तो मानो कामशास्त्र सारा कंठस्थ हो इस प्रकार बाहर निकलता ही जाता है।

इन सभी बातों को जैन शासन ने प्रमाद कहा है जो आत्मा का कट्टर बैरी है। यह प्रमाद हमारी आत्मा पर जैसे जैसे स्वयं का राज्य जमाता जायगा वैसे वैसे बढ़ते पाप कर्म को लेकर जन्मान्तर के लिये एकेन्द्रिय अवतार की योग्यता प्राप्त होती जायगी। क्योंकि भारी वजनदार पदार्थ जैसे नीचेकी तरफ जाता है। वैसे बोझिल आत्मा भी दुर्गति तरफ ही प्रस्थान करने की टिकीट खरीद रहा होता है। फिर एकेन्द्रिय का शरीर मिले और वह भव मिले वैसा ही प्रयत्न आत्मा करती रहती है और अन्त में एकेन्द्रिय भव का आयुष्य भी बांधता है और मोक्ष के द्वार जैसे मनुष्य

भव से पतित हुआ मानव एकेन्द्रिय अवतार में जाकर बहुत लम्बे समय तक वहां से बाहर नहीं आ सकता है।

इसप्रकार औदारिक शरीर संबंधी दुसरी भी वक्तव्यता के साथ वैक्रिय, तैजस शरीर प्रयोगबंध की चर्चा बहुत विस्तार से की है जो मूल सूत्र और टीका से जान लेना। अब कार्मण शरीर प्रयोगबंध जानने जैसा होने से जान ले।

प्रश्न :—हे प्रभु! कार्मणशरीर प्रयोगबंध कितने प्रकार का है?

जवाब में भगवान ने कार्मणशरीर आठ बताये हैं।

(१) ज्ञानावरणीय कार्मणशरीर प्रयोगबंध।

(२) दर्शनावरणीय कार्मणशरीर प्रयोगबंध।

(३) मोहनीय कार्मणशरीर प्रयोगबंध।

(४) वेदनीय कार्मणशरीर प्रयोगबंध।

(५) आयुष्य कार्मणशरीर प्रयोगबंध।

(६) नाम कार्मणशरीर प्रयोगबंध।

(७) गोत्र कार्मणशरीर प्रयोगबंध।

(८) अंतराय कार्मणशरीर प्रयोगबंध।

पांच प्रकार के शरीर में कार्मण शरीर पांचवा है। "कर्मणां समूह इति कार्मणम्"। कृत और क्रियमाण कर्म जब दूध और शक्कर की तरह आत्मा के प्रदेशों के साथ एकाकार होते है वह कार्मणशरीर ही कहलाता है। पहले के चारों शरीर को ग्रहण करने में मूल कारण कार्मणशरीर है जो सूक्ष्मरुप से जाना जाता है।

आत्मा स्वयं ही शुभाशुभ प्रयोग द्वारा जितने कार्य करती है। उसे ही कार्मणशरीर प्रयोगबंध कहते हैं।

हे प्रभु ! ज्ञानावरणीय कार्मणशरीर प्रयोगबंध में कौनसे कारण है। अर्थात् किस कारण और किस कर्म के उदय से इन शरीर का बंध होता है ?

· भगवान ने कहा कि—सात प्रकार से यह कर्म बंधता है।

णाणपडिणीययाए—सम्यगश्रुतज्ञान और ज्ञानी महापुरुष के प्रति प्रत्य-नीकता तथा प्रतिकूलता का भाव रखना तथा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिये विरोध भाव रखना।

णाणनिण्हवणयाए :—सम्यग्ज्ञान और ज्ञानी का अपलाप करना जिस गुरु के पास कुछ अंश में ज्ञान प्राप्त किया हो उसका अपलाप करना उनके लिये खराब शब्द बोलना तथा उनका नाम छिपा देना।

णाणतराएणं :—जिससे जीवमात्र स्वयं की आत्मा को प्रकाश प्राप्त करने में भाग्यशाली होता है उस सम्यग्ज्ञान में अंतराय करना। पढ़ने गुननेवालो को विघ्न डालना।

णाणओसेणं :—सम्यग्ज्ञान के प्रति और ज्ञानी भगवंत आचार्य उपाध्याय, मुनि या गृहस्थ के प्रति द्वेष अप्रीति रखना अर्थात् ज्ञानप्राप्त करने के लिए खराब भाव रखना। जैसे कि धर्मशास्त्र को नहीं पढ़ा तो अपना क्या बिगड़ा? धर्म का पढ़ने से क्या लाखों रुपये मिलेंगें? इस प्रकार ज्ञान के प्रति अरुचि रखनी।

णाणआसायणाए :—ज्ञान की हेलना करनी, ज्ञान की आशातना करनी तथा ज्ञान और ज्ञानी के साथ वक्रता रखनी।

णाणविसंवायणा जोगेणं :—ज्ञान तथा ज्ञानी में अधूरेपन का दावा करना तथा उनमें अनेक दोषों का उद्घाटन करना।

उपरोक्त कारण बाह्य हैं। जब पूर्व भव के उपार्जन किये हुए

ज्ञानावरणीय कर्म के कारण आंतरिक जीवन में इस कर्म के उपार्जन करने के अध्यवसाय ही ज्ञानावरणीय कार्मणशरीर का मूल कारण है । इस प्रकार दर्शनावरणीय कार्मणशरीर प्रयोगबंध के लिए उपरोक्त कारण ही जानना।

ज्ञान तथा ज्ञानी के प्रति प्रत्यनीकता, अपलाप अंतराय, आशातना आदि करनी वह दर्शनावरणीय कार्मणशरीर का मूल कारण हैं । भूत-प्राणी आदि पर अनुकंपा रखनी वह शातावेदनीय कार्मणशरीर प्रयोगबंध का कारण है इसके विपरीत अशातावेदनीय के लिए जिसका विवेचन पहले भाग में आ गया है उससे जान लेना ।

मोहनीय कार्मणशरीर बन्ध :

तीव्र क्रोध, मान, माया और लोभ, तीव्र मिथ्यात्व और तीव्र चारित्र मोहनीय के कारण यह कर्म बंधता है । तीव्र अर्थात्, अत्यन्त मलीन अध्यवसाय पूर्वक कषाय की उदीर्णा करनी, कषायवंत आत्मा का सहवास करना, बारम्बार हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुसंकवेद की उदीर्णा करके इन कर्मों को उदय में लानेवाला इस कर्म को बांधता है ।

क्रोध के पर्याय :— क्रोध, कलह, खार, परस्पर मत्सरभाव, खेद, ईर्ष्या, अधीरता, तामसिकता, संताप, तिरस्कार, दूसरे की अवहेलना, दूसरे के उपकार का नाश इससे बहुत ही चिकने कर्म बंधते हैं ।

मान के पर्याय :— मान, मद, अहंकार, परपरिवाद, आत्मोत्कर्ष परपराभव, परनिंदा, ईर्ष्या, असूया, हेलना, परोपकाररहित जीवन, अक्कड़-स्वभाव, अविनय और परगुण आच्छादन ।

माया के पर्याय :— माया, कपट, कुड विश्वासघात, छल, दूसरे की बात जाहीर करनी, मायामृषावाद ।

लोभ के पर्याय :— लोभ, अति संग्रहशीलता, क्लिष्ट भाव, ममत्व, कृपणता, मूर्च्छा, धन का अतिलोभ, सदा लोभ, धन, पुत्र, परिवार, विषयवासना, वस्त्र, आभूषण, यशकीर्ती, प्रतिष्ठा का लोभ तथा सत्ता की प्राप्ति के लिए बेमर्याद प्रवृति करना ये सब लोभ है।

नारकायुष्य कार्मणशरीर प्रयोग :

महारंभ, महापरिग्रह, अभक्ष्य आहार पानी तथा पंचेन्द्रिय जीव वध करना ये नारक पर्याय के कारण हैं।

तिर्यंच आयुष्य कार्मणशरीर बन्ध :

माया जीवन, कपटपना, असत्य वचन, झूठे मापतोल तिर्यंच आयुष्य बांधने के कारण हैं।

मनुष्यायुष्य कार्मणशरीर प्रयोग बन्ध :

भद्रिक स्वभाव, विनीत, अमत्सरी दयालुता।

देवायुष्य कार्मण शरीर प्रयोग बन्ध

सराग संयम, देशविरती, अज्ञानतप, अकाम निर्जरा।

शुभ नामकार्मशरीर प्रयोगबन्ध।

योग जिसके सरल हो और सभी के साथ प्रेमालु जीवन हो वह शुभनाम कर्म उपार्जन करता है।

इसके विपरीत अशुभनाम कर्म जब मन, वचन, काया, की प्रवृति में और भाषा में वक्रता हो और योगो में विसंवादन अर्थात् अन्यथा प्रतिपन्न वस्तु को अलग प्रकार से कहना वह विसंवादन है।

उच्च गोत्र कार्मण शरीर प्रयोग बन्ध :—

आठ प्रकार के मद से रहित जीव उच्च गोत्र बांधता है जबकि मदो को करनेवाला नीच गोत्र बांधता है वह निम्नप्रकार से:—

(१) जातिमद–अनेक भव में परिभ्रमण करने के बाद राधा वेध के समान किसी भव मे उच्च जाति प्राप्त करने के बाद मनुष्य स्वयं की जाति का मद करे और हल्की जाति के साथ कटु व्यवहार रखे।

(२) कुलमद–स्वयं के कुल की स्वयं ही प्रशंसा करे और सामने वाले को हीनकुलवाला माने और स्वयं के कुल के मद में मस्त रहे।

(३) बलमद–स्नायुबद्ध स्वयं के शरीर के बल में दूसरों में हीनबल की कल्पना करके जहां तहां तुफान करके जीवन पूर्ण करता है।

(४) रुपमद–पुण्योदय से मिली हुई रुप संपति का गर्व करके दूसरों की हँसी में रात-दिन पूरा करता है।

(५) तपमद–वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से मिली हुई तपशक्ति का मद करना।

(६) श्रुतमद–स्वयं के ज्ञान, विज्ञान का मद करना।

(७) लाभ, मद–स्वयं की कमाई के कारण अलग अलग प्रकार के लाभ में मद करके दुसरों का तिरस्कार करना।

(८) ऐश्वर्य मद—स्वयं की ऋद्धि, समृद्धि आदि ऐश्वर्य का मद करना।

इसप्रकार आठों मद यावत् मोक्ष प्राप्ति के लिए विघ्नकारक होते हैं।

अब अंतराय कार्मणशरीर प्रयोगबंध के कारण कहते है।

दान धर्म का अंतराय करने से दानान्तराय कर्म।

लाभ का अंतराय करने से लाभान्तराय कर्म।

भोग का अंतराय करने से भोगान्तराय कर्म।

उपभोग का अंतराय करने से उपभोगान्तराय कर्म और दूसरे की या स्वयं की शक्ति का अंतराय करने से वीर्यांतराय कर्म का बंध होता है।

॥ दसवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक आठवां उद्देशक—११

अन्य यूथिकों के साथ चर्चा :

हे प्रभु! अन्य यूथिको का (अन्य मतावलंबियों) यह मंतव्य है कि:—

(१) शील ही श्रेष्ठ है।

(२) दूसरे ज्ञान को ही श्रेष्ठ मानते हैं।

(३) कोई परस्पर की अपेक्षा के बिना शील तथा श्रुत को श्रेयस्कर कहते हैं।

उपरोक्त प्रमाण से अपनी अपनी मान्यता में वे निम्न तर्क देते हैं।

शील अर्थात् क्रिया–

इस मत को माननेवाले क्रिया मात्र से ही स्वयं के इष्ट की सिद्धी मानते हैं। इष्ट अर्थ की सिद्धी क्रिया से ही होती है ज्ञान से नहीं क्योंकि "ज्ञान स्वतः क्रियारहित होता है–जैसे आकाश"। पुरुष को क्रिया ही फल देती है ज्ञान नहीं। योग्य पदार्थ का ज्ञान होने मात्र से ही सुख नहीं मिलता पर भोग के लिए क्रिया करने से ही सुख मिलता है।

"चंदन की लकड़ी का भार वहन करनेवाला गधा वजन का भागीदार बनता है। पर सुगंध का भागीदार नहीं बनता है। वैसे क्रिया बिना का शुष्क ज्ञानी भी सुगति का मालिक नहीं बनता।"

अर्थात् सुगति का मालिक बनने में ज्ञान ही नहीं पर शील अर्थात् क्रिया की ही आवश्यकता रहती है। अतः इन वादियों का कहना है कि प्राणातिपातादि विरमणरुप क्रिया ही मोक्ष पुरुषार्थ का साधन होने से श्रेयस्कर है।

दूसरे मत वाले इष्ट सिद्धी में ज्ञान ही श्रेष्ठ मानते हैं और कहते हैं कि चाहे जैसी क्रिया करनेवाला यदि ज्ञानरहित है तो इष्ट सिद्धी प्राप्त नहीं कर सकता। "साधक को ज्ञान ही फलदायक होता है क्रिया नहीं। ज्ञान बिना का मालिक चाहे जैसी प्रवृति करे तो भी सिद्धी दिखती नहीं।" पहला ज्ञान तथा फिर दया है। अतः सबसे पहला ज्ञान ही श्रेष्ठ है। बेचारा ज्ञानरहित अज्ञानी पाप तथा पुण्य कैसे जान सकता है?

इसी प्रसंग को दूसरे इसप्रकार कहते हैं–एक दूसरे की अपेक्षा रखे बिना ज्ञान और क्रिया इष्ट सिद्धि के फल देनेवाले होते है" ज्ञान के साथ क्रिया होनी ही चाहिए या क्रिया के साथ ज्ञान होना ही चाहिए। यह मान्यता उचित नहीं मानते हुए वे यह कहते हैं" जिस पात्र से

तर जाय वह पात्र चाहे ज्ञानवान हो तो भी कुछ नहीं और अकेला क्रियावाला हो तो भी कुछ नहीं।" अतः शील और ज्ञान साधक को पवित्र करनेवाला होने से दोनों अपने-२ स्थानपर श्रेष्ठ है तीसरा यह कहता है" क्रिया का उपकारक ज्ञान होने से वह गौण होगा तो भी चलेगा परन्तु मोक्ष के लिए क्रिया की आवश्यकता जरुरी है जबकि इसके विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि ज्ञानपर क्रिया का उपकार है। अतः क्रिया गौण होगी तो भी चलेगा पर ज्ञान तो मुख्य रूप से होना चाहिए। यह चारों पक्ष फल सिद्धि के लिए अनुपयुक्त होने से मिथ्या है।

जैन पक्ष का कथन है कि मोक्ष फल के लिए "आत्मा को प्रकाश करनेवाला ज्ञान, शोधन करनेवाला तप तथा आत्मा, मन और इन्द्रियों को संयमित करनेवाला संयम होता है। अतः ज्ञान, तप और संयम ही मोक्ष का कारण है।" तप और संयम क्रिया होने से शील कहलाता है। जैन शासन कहता है कि "ज्ञान तथा क्रिया अपने-२ स्थानपर मुख्य बन कर ही मोक्षफल देनेवाले बनते हैं। एकचक्र से रथ नहीं चलता है वैसे ज्ञान बिना की क्रिया और क्रिया बिना का ज्ञान फलदायी नहीं बनता अतः "ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः" वन में फंसा हुआ अंधा तथा लंगड़ा यदि एक दूसरे की सहायता न स्वीकारे तो उन दोनों को वहां मरे बिना छुटकारा नहीं है। अतः गौतम ! ज्ञानवती क्रिया और क्रियावान् ज्ञान फलदायी है। ऐसा क्यों है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि मैंने पुरुषों के चार प्रकार कहे हैं–

(१) शील संपन्न है पर ज्ञान संपन्न नहीं।

(२) ज्ञान सम्पन्न है पर शील सम्पन्न नहीं।

(३) ज्ञान और शील सम्पन्न हैं।

(४) ज्ञान और शील सम्पन्न नहीं हैं।

इन चारों मे जो पहला नम्बर का पुरुष है वह शील संपन्न होने से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्यागरुप क्रियावंत होने पर भी ज्ञान संपन्न नहीं होने से त्याग धर्म का सत्यार्थ जान सकने में समर्थ नहीं बनता है। अतः उसको देश आराधक कहा है अर्थात् ज्ञान के अभाव में अकेली क्रिया का ही वह आराधक है। अतः उसमें देश आराधकता ही रहनेवाली है।" दूसरा नम्बर का पुरुष यद्यपि ज्ञान सम्पन्न होने से त्याग करने योग्य तत्त्व को जानता जरूर है पर शील संपन्न नहीं होने से त्याग करने के लिए समर्थ नहीं बनता है ऐसे पुरुष को देश विराधक कहा है। बगीचे में चाहे जितने वृक्ष लगाये हो पर वे फल बिना के हो तो वे सुन्दर दिखते वृक्ष और बगीचा क्या काम का? वैसे ही ज्ञान का फल भी विरति अर्थात् पाप को त्यागने की क्रिया ही है। इसप्रकार ज्ञानी में भी क्रिया न हो तो वह ज्ञान भी बांझ है।

तीसरे नम्बर के महाभाग्यशाली पुरुष जो ज्ञान और शील संपन्न है अर्थात् त्याग करने योग्य तत्त्व हमेशा के लिए त्याज्य है ऐसा ज्ञान उसको है और ज्ञानस्वरुप उन तत्वों को अर्थात् पाप को छोड़ता भी है। अतः उस पुरुष को सर्व आराधक कहा है।

"सर्व आराधक ज्ञान..."

चौथा मनुष्य ज्ञान सम्पन्न भी नहीं और शील सम्पन्न भी नहीं अतः वह सर्व विराधक है। इस विवेचन में ज्ञान सम्पन्नता से सम्यकज्ञान और शील संपन्नता से सम्यकचारित्र लेना। क्योंकि कुत्सित ज्ञान और कुत्सित चारित्र तो जीवमात्र में विद्यमान होता है जिसको लेकर जीवन के अन्तिम श्वांस तक वे जीव स्वयं की आत्मा को सम्यक् प्रकार से जान नहीं सकते। अतः वे —(१) धर्म तथा उसकी व्याख्याओं में कुतर्क-ग्रस्त होते हैं।

(२) पाप तथा पुण्य की मर्यादा में बेध्यान रहते हैं।

(१) आत्मा तथा परमात्मा की पहचान में दरकार बिना के होते है अतः उन जीवों की सर्व विराधक कहा है।

देश आराधक अर्थात् सम्यक बोधरहित होने से मोक्ष मार्ग का कुछ अंश का ही आराधक होने से देश आराधक है।

देश विराधक में सम्यकबोध है पर मोक्ष मार्ग का तृतीय विभाग अर्थात् चारित्र अंश का विराधक होने से वह देश विराधक है।

सर्व आराधक अर्थात् तीनों प्रकार के मोक्ष मार्ग का आराधक होने से वह सर्व आराधक है। मोक्ष मार्ग को जो आराधे वह आराधक और न आराधे वह विराधक है।

आराधना के भेद :

हे प्रभु ! आराधना कितने प्रकार की है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना, और चारित्राराधना रुप आराधना तीन प्रकार की है।

यह तीन प्रकार की आराधना उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य से तीन तीन प्रकार की है।

अनादिकाल से अनंत भवो में मिथ्यात्व वासित आत्मा ने स्वयं के आत्मीय गुणों की विराधना करने के कारण भारी बनी हुई होने से नर्क गति और तिर्यंचगति में ही परिभ्रमण किया है। किसी समय कुछ पुण्य कर्म को लेकर कभी देवगति में गया हो तो भी वहां वह विषय वासना में ही देवगति का आयुष्य पूर्ण करके फिर से दुर्गति का मालिक बनता है। मनुष्य अवतार प्राप्त करनेपर भी मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन तथा भ्रमज्ञान के कारण स्वयं को समझ सका नहीं, मिथ्यादर्शन के कारण स्वयं को देख सका नहीं और मिथ्याचारित्र को लेकर स्वयं को शुद्ध कर सका

नहीं। परिणाम स्वरुप देव दुर्लभ मनुष्य अवतार मिलने पर भी आत्मा तत्त्व या परमात्म तत्व को न पहचानने के कारण विराधक बनी हुई यह आत्मा संसार की यात्रा को कम नहीं कर सका। तथापि अनंत भव में भ्रमण करता हुआ यह जीव स्वयं की अकाम निर्जरा के कारण बहुत चिकने कर्म जब भोग लेता है तब भवितव्यता के योग से आत्मसम्मुख बनकर शक्ति संपन्न बनता है।

बिगड़ी हुई दाल तथा सब्जी को ठीक (स्वादिष्ट) करने के लिए केरी का आचार या निंबू का अचार का उपयोग ही काम आता है जिससे शाक या दाल स्वादिष्ट बनकर खानेवाले को तृप्त करती है।

उसी प्रकार कुवासना के कारण निरंजन निराकार स्वरुप हमारी आत्मा भी हिंसक, झुठ, चोरी आदि कार्यो से अशुद्ध होने के कारण बिगड़ जाती है अतः उसकी जीभ में कड़वाहट, आंखो में जहर, हाथ में मारकाट की आदत, पांव में असंयम, हृदय में क्षुद्रता, मस्तिक में विकार, चाल तथा रहन सहन में हिंसकता होती है। ऐसी स्थिति में किसी समय जागृत बनी हुई आत्मा स्वयं के खराब कर्म को सुधारने के लिए पुरुषार्थ करती है और जिस पद्धति से आत्मा बिगड़ी है उसके विरुद्ध पद्धति का आश्रय स्वीकारकर अपना शुद्धिकरण करती है। उसके लिए सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आचार-पद्धति ही उपयुक्त हैं। आम तथा नींबू का आचार द्रव्य आचार है जबकि दर्शन, ज्ञान, चरित्र की आराधना भाव आचार है।

तीनों की आराधना से सूखे चमड़े के समान बनी हुई आत्मा नर्म पड़ेगी तब जीभ में मीठास आयेगी, आँखो में अमृत का वास होगा, पांव में संयम आयगा, हृदय गंभीर बनेगा, मस्तिष्क निर्विकारी बनेगा और आत्मा अहिंसक बनेगी।

याद रखना कि पापकर्म करने के लिए भी विधिविधान सीखने पड़ते हैं जैसे कि हिंसा के लिए तलवार, धनुष्य छुरी आदि हाथ में

कैसे पकड़ना ? मारते समय पांव कैसे रखना ? पहला हमला किस समय करना ? आदि।

अलग अलग समय में झूठ किस प्रकार बोलना ? दूसरे की सच बात को भी झूठी कैसे करनी ? स्वार्थ के लिए बोलने की भाषा में कैसे फेरफार करना ? आदि।

पक्के घर में या कच्चे मकान मे छेद पाड़ना हो तो कौन-२ से शस्त्र काम आयेगे ? पड़े हुए छेद में पहले सिर डालना या पैर डालकर प्रवेश करना, किसी ताले को तोड़ना या खोलना हो तो लोहे का सलिया उसमे कैसे डालना आदि चोरी करने के लिए भी शास्त्र विद्यमान है।

मैथुन कर्म के शिक्षण के लिए कोकशास्त्र, कामशास्त्र, और ८४ आसन के लिखे हुए शास्त्र और चित्र मौजुद है। इसीप्रकार धनोपार्जन, रक्षण वर्धन आदि को सूचित करनेवाले शास्त्र भी रचे हुए पड़े हैं।

ये सभी पापशास्त्र पढ़कर पाप के द्वारा बिगड़ी हुई आत्मा को सुधारने के लिए धर्म के नीति मर्यादा के पाठ तथा ज्ञान चारित्रादि के पाठ पढ़ने के लिए भी विधिविधानों की अत्यन्त आवश्यकता है जिसकी सूची निम्न है :—

ज्ञानाचार :

(१) जिस समय सम्यग्ज्ञान पढ़ने की आज्ञा हो उस समय वह काल आचार।

(२) ज्ञान देनेवाले गुरु का विनय करना वह विनयाचार।

(३) ज्ञान तथा ज्ञानी का बहुमान करना वह बहुमान आचार।

(४) सूत्र को पढ़ने के लिए तप विशेष करना वह उपधान आचार।

(५) गुरु को भूलना नहीं वह अनिन्हव आचार।

(६) सूत्र का उच्चारण शुद्ध करना वह व्यंजना आचार।

(७) उच्चारण किये जानेवाले सूत्र के अर्थ की विचारना यह अर्थ आचार।

(८) सूत्र तथा अर्थ दोनों की शुद्धी वह तदुभय आचार।

दर्शनाचार के भी आठ आचार :

(१) वीतराग के वचन में शंका न करनी निःशंकित आचार।

(२) जिनमत के बिना दूसरे धर्म की इच्छा नहीं करनी वह निःकांक्षित आचार।

(३) साधु साध्वी के मैले वस्त्र देखकर निंदा न करनी अथवा धर्म के फल में संदेह नहीं करना वह निर्वितिगिच्छा आचार।

(४) मिथ्यात्वियों के ठाठ, चमत्कार देखकर जैन धर्म से चलायमान न होना वह अमूढ़ दृष्टि आचार।

(५) सम्यग्दृष्टि जीव के कम गुण की भी प्रशंसा करनी वह उपबृंक आचार।

(६) धर्म नहीं मिलनेवाले को धर्म देना और धर्म से चलायमान हुए जीव को पैसा, अनाज, वस्त्र तथा दवा देकर स्थिर करना स्थिरीकरण आचार।

(७) स्वामीभाई के हित का विचार करना या सोचना वह वात्सल्य आचार।

(८) दूसरे लोग भी धर्म की अनुमोदना करे वह प्रभावना आचार।

सम्यक्चारित्र के आठ आचार :

मन, वचन, काया से एकाग्र होकर पांच समिति तथा तीन गुप्ति

का उपयोग करना वह चारित्राचार कहलाता है। तीनो की आराधना उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य प्रकार से होती है।

मोक्षमार्ग के प्रति अधिक प्रयत्न जिसमें किसी प्रकार का प्रमाद नहीं। उसे उत्कृष्ट आराधना कहते हैं। प्रयत्न में थोड़ी शिथिलता हो, प्रमाद हो वह मध्यम आराधना है।

प्रयत्न में अधिक शिथिलता और अधिक प्रमाद हो वह जघन्य आराधना है।

किसको कितनी आराधना :

जिस भाग्यशाली को ज्ञान की उत्कृष्ट आराधना वर्तती हो उसे दर्शनाराधना उत्कृष्ट तथा मध्यम होगी। जिसे दर्शनाराधना उत्कृष्ट हो उसे ज्ञानाराधना तीनों प्रकार की होती है।

इसप्रकार ज्ञान और चारित्र का सम्बन्ध भी जानना। जिस भाग्यशाली की दर्शनाराधना उत्कृष्ट होती है उसकी चारित्रराधना तीनों प्रकार की होती है परन्तु जो उत्कृष्ट रुप से चारिचाराधक होगा उसे दर्शनाराधना भी निश्चय उत्कृष्ट होगी। उत्कृष्ट रुप से ज्ञान दर्शन की आराधना करनेवाला कोई उसी भव में, कोई दूसरे भव में मोक्ष मे जाता है और कोई कल्पोपन्न देव के मालिक बनते है। उत्कृष्ट चारित्र-राधक भी एक या दूसरे भव में मोक्ष में जाते हैं और कितने कल्पातीत देवलोक में जाते हैं।

ज्ञान दर्शन की मध्यम आराधना करनेवाला दो या तीन भव में मोक्ष में जाता है और जघन्य से दर्शन ज्ञान तथा चारित्र का आराधक सात या आठ भव से अधिक भव नहीं करता है। आत्मा में जितने अंश में पवित्रता, सरलता और एकाग्रता होगी उतनी ही आराधना सुन्दर बनेगी आराधना का पुद्गलिक शरीर इन्द्रिय तथा मन के साथ सीधा सम्बन्ध

नहीं है पर आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध है। जब दूध तथा शक्कर की तरह आत्मा तथा आराधना का तादात्म्य होगा तब सशक्त बनी हुई आराधना साधक के पाप द्वार बन्द करके पुराने पाप को धो डालने में समर्थ बनेगा।

इन सभी बात का ध्यान रखकर सच्चा आराधक :—

(१) संसार की खटपट के साथ संबन्ध नहीं रखेगा।

(२) गृहस्थाश्रम के किसी भी प्रसंग में भाग नहीं लेता है।

(३) माया, क्लेश तथा कषाय की प्रवृतियों से दूर रहता है।

(४) अनादिकालीन आत्मीय दूषण का दमन करनेवाला होता है।

(५) यथाशक्य गृहस्थी के संसर्ग से और उसकी पहचान से दूर रहता है।

(६) काम तथा लोभ का निग्रह करनेवाला है।

(७) पठन, पाठन, ध्यान और जाप आदि कार्य ही जिसे प्यारा लगता है।

गृहस्थ की एक भी संस्था के साथ राग-द्वेष से परिपूर्ण न हो।

उपर्युक्त प्रसंग में कहीं भी राग—द्वेष रखे बिना ही साधक सच्ची साधकता प्राप्त करता है तथा एक, दो, तीन या अंत में आठवें भव में मोक्ष जाता है। जब श्रुतसामायिक सम्यक्त्वधारी, देशविरतिश्रावक असंख्य भव भी करेगा और दर्शन ज्ञान का धारक होनेपर भी यदि वह चारित्र बिना का है तो असंख्य भव उसको करने होंगे।

पुद्गल परिणाम :

प्रश्न—हे प्रभु ! पुद्गल का परिणमन कितने प्रकार का है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! वह पांच प्रकार का है

यथाहिः-वर्णप्ररिणाम गंध परिणाम, रस परिणाम, स्पर्श परिणाम और संस्थान परिणाम।

अर्थात् जहां वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हो वह पुद्गल ही है। जीव को गंध, वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान नहीं होता अतः पुद्गल नहीं है।

वर्ण परिणाम के पांच प्रकार है—

श्वेत, पीत, रक्त, नील और कृष्ण वर्ण ये मूलवर्ण हैं बाकि एक दूसरे के मिश्रण से होता है। परिणाम से लेकर स्कंध तक के पुद्गल में एक न एक वर्ण निश्चय होता है।

रस परिणाम के पांच प्रकार है—

तिक्त (तीखारस), कटु (कड़वा रस), कषाय (तुरारस), आम्ल (खट्टारस) और मधुर (मीठारस)

गंध परिणाम, सुरभि और दुरभि गंध दो प्रकार के हैं।

आठ प्रकार के स्पर्श परिणाम है। शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, लघु, गुरु, मृदु, कर्कश। परमाणु मात्र में एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श होते है।

संस्थान परिणाम—

कितने स्कंध चूड़ी की तरह गोल होते हैं।

" " गोलाकार होते हैं।
" " तिकोन होते हैं।
" " चोरस होते हैं।
" " लम्बे होते हैं।

आठ कर्म :

हे गौतम! कर्म आठ प्रकार के होते हैं। "क्रियते इतिकर्म" इस व्युत्पत्ति से वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से मन मचन-काया का जो

परिस्पंद होता है वहीं कर्म है और वह परिस्पंद अनंत है परन्तु केवलज्ञानी तीर्थंकर भगवन्त ने आठ विभाग में अन्तर्गत किये होने से कर्म आठ होते हैं।

(१) ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा की ज्ञानशक्ति को ढांकता है।

(२) दर्शनावरणीय कर्म आत्मा की दर्शनशक्ति को अवरोधता है।

(३) वेदनीय कर्म सुख दुःख की वेदना कराता है।

(४) मोहनीय कर्म आत्मा को स्वयं की पहचान और शुद्धि में बेभान कराता है।

(५) आयुष्यकर्म एक गति में से दूसरी गति में रखड़पट्टी कराता है।

(६) नामकर्म चित्रकार की तरह शरीर रचना में फेरफार कराता है।

(७) गोत्र कर्म उच्च तथा नीच के विशेषण से विशेषित कराता है।

(८) अंतरायकर्म सभी प्रकार से आत्मा को विघ्न कराता है।

इस प्रकार आठों कर्म सूक्ष्म निगोद बादर, निगोद और नर्क जीव से लेकर इन्द्र, वासुदेव, चक्रवर्ती, राजा महाराजा और तीर्थंकर भगवन्त को भी होता है।

हे प्रभु! ज्ञानावरणीय कर्म के अविभाग परिच्छेद कितने हैं? भगवान ने कहा कि हे गौतम! वे परिच्छेद अनंत होते है।

एक लेश्या मे से बाहर आते और दूसरी लेश्या में प्रवेश करते ही जीवमात्र के अध्यवसाय एक दो या तीन नहीं होते है पर अनंत होते हैं। जैसे कि रास्ते में चलते हम जब सामने से आते शत्रु महाशत्रु को देखते हैं तब हमारे मस्तिष्क में ढेर सारे विचार आते जाते रहते है और शरीर का परमाणु परमाणु क्रोधावेश में आ जाता है।

प्रेमपात्र स्त्री या कन्या को देखते ही हजारो प्रकार के राग परमाणु से हम ओतप्रोत होते ही हमारे शरीर के परमाणु भी रागवश में मस्त

बन जाते हैं। उस समय आंखों में पूरी दुनिया को भुलादे वैसा नया चमत्कार दिखने लगता है। हृदय उसे मिलने के लिए अधीर हो उठता है तब उस भाई साहब के नेत्र में सूक्ष्म से सूक्ष्म संकेत देखने जैसे हो हो जाते हैं और उसके हाथ के इशारे तो दुसरे मनुष्य सहसा न कल्पे वैसे हो जाते हैं। अनेक प्रसंगों को लेकर मन में जितने अध्यवसाय होते है। कर्म के प्रदेश भी उतने ही बंधते हैं।

परिच्छेद अर्थात् अंश जिसका केवलज्ञानी की प्रज्ञा से भी विभाग नहीं होता, इसलिए उसको अविभाग कहते हैं।

भगवान ने फरमाया कि-आत्मा के अनंतज्ञान प्रदेशों को आवृत करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म के अविभाग परिच्छेद भी अनंत है।

शक्तिसंपन्न सूर्य की किरणे स्वतः प्रकाशमान होनेपर भी उसके ऊपर जब बादल छा जाते है और वे जितने अंश में किरणो को आवृत करते हैं उतनी मात्रा में किरणे प्रकाश नहीं दे सकती है किसी समय बादल घन-घोर छा जाते है तब दिन भी रात के समान हो जाता है। यह बात ध्यान में रखने की है कि बादल चाहे जितने जोरदार होंगे तो भी सूर्य की किरणे सर्वथा अप्रकाशमान नहीं होती और जैसे-जैसे हवा के जोर से बादल हटते जाते है वैसे वैसे किरणे भी उतने अंश में प्रकाश देती जाती है।

इसप्रकार सूर्य की किरण के समान आत्मा के असंख्यात प्रदेशपर ज्ञानावरणीयादि कर्म के बादल प्रवाह के रुप में अनादिकाल से है जिससे अनंत शक्ति की आत्मा अप्रकाशमान जैसी अवस्था भोग रही है।

सम्यग्ज्ञानरुपी हवा जब जोरदार बनती है तब कर्मरुपी बादल भी धीरे-धीरे हटते जाते हैं और आत्मा स्वयं के मूल स्वरुप मे आती जाती है। इस सूत्र में प्रश्न तथा उत्तर इतने ही हैं कि ज्ञानावरणीय कर्म के अविभाग परिच्छेद अनंत होते है। केवलज्ञानी को छोड़कर जीवमात्र का एक एक प्रदेश अनंत अविभाग परिच्छेद द्वारा व्याप्त होता है।

इस प्रकार दर्शनावरणीय कर्म का भी जानना। जिसको ज्ञानावरणीय कर्म होते हैं उनको दर्शनावरणीय कर्म भी अवश्य होते हैं और वेदनीय कर्म के मालिक को ज्ञानावरणीय कर्म भी होते है और नहीं भी होते। जैसे कि केवली को वेदनीय है पर ज्ञानावरणीय नहीं। जिसको मोहकर्म है उसको ज्ञानावरणीय जरूर होता है पर जिसे ज्ञानावरणीय है उसे मोहनीय होता भी है और नहीं भी। क्योंकि केवलज्ञान होनेपर घाती कर्म हैं अतः सबसे पहले मोहनीय का छेद होता है उसके बाद ज्ञानावरणीय का छेदन होता है अतः उन महापुरुष को मोहनीय नहीं होनेपर भी किसी समय कुछ ज्ञानावरणीय होता है।

केवलज्ञानी को वेदनीय है पर मोहनीय नहीं जबकि दूसरे को दोनों होते है। इस प्रकार वेदनीय और आयुष्यकर्म होनेपर भी केवलज्ञानी को मोहकर्म नहीं होता है—

जीव भी पुद्गल है :

प्रश्न—जीव पुद्गली है या पुद्गल ?

जवाब में भगवान ने कहा कि—हे गौतम! जैसे जिसके पास छत्र, दंड या धन होता है वह मनुष्य छत्री, दंडी या धनी कहलाता है। वैसे ही पुद्गल जिसके पास हो उसे पुद्गली भी कहते हैं। क्योंकि शरीर मात्र पुद्गल है, इन्द्रियें पुद्गल है तथा मन पुद्गल है। संसारी जीवमात्र को ये तीनों होते है। अतः वे सभी पुद्गल है। जीव पुद्गल भी हैं क्योंकि जीव यह पुद्गल की संज्ञा है। अतः पुद्गल भी है।

इन कारणों को लेकर ही जैन शासन अनेकान्त शासन है। गधे की पूंछ पकड़कर बैठनेवालो की तरह सिर्फ शब्दो की मायाजाल में न फंसे यही अनेकान्त है। शब्द तो साधन है और अर्थ साध्य है इतना

ध्यान में रखे तो जैन शासन का स्याद्वाद सर्वत्र शांति और समाधि का सर्जक बनकर संसार को नंदनवन जैसा बना देने में पूर्ण समर्थ है।

॥ ग्यारहवां उद्देशक समाप्त ॥

टीकाकार कहते है कि हृदय की भक्तिरुपी आहूति द्वारा जिसका तेज बढ़ा है ऐसे पार्श्वनाथ भगवान की कृपादृष्टि रुपी अग्नि और उस प्रभु का का नाम अक्षररुपी मंत्र की विधी द्वारा विघ्नरुपी इंधन को जलाकर राख कर दिये हैं। अतः संपन्न हुआ है पवित्र शांति कर्म जिसका ऐसे में (अभय-देवसूरी) शिल्पी द्वारा जैसे अच्छा मकान बनकर तैयार होता है वैसा भगवती सूत्र का आठवां शतक भी मैने पूर्ण किया है।

शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, नवयुग प्रवर्तक स्व. श्री विजयधर्म सूरी-श्वरजी महाराज सा. के शिष्य रत्न शासन दीपक स्व. श्री मुनिराज श्री. विद्याविजयजी महाराज के शिष्य न्या. न्या, काव्यातीर्थ, पन्यासपद विभूषित श्री पूर्णानंदविजय (कुमारश्रमण) ने ज्ञान संपन्न भगवतीसूत्र के आठवे शतक के ग्यारह उद्देशक सांताक्रुज उपाश्रय में पूर्ण किये हैं।

॥ शुभं भूयात् सर्वेषां प्राणिनाम् ॥

सर्वे जीवाः जैन तत्वं प्राप्नुयुः ॥

शतक नववां उद्देशक--१

अभी तक के शतक में उद्देशकों की संख्या दस दस ही थी जबकि इस शतक में ३४ उद्देशक हैं।

उद्देशको में विषयानुक्रम।

(१) जंबूद्वीप की वक्तव्यता।

(२) ज्योतिष देव की वक्तव्यता।

(३) ३ से ३० अट्ठाइस अन्तर्द्वीप के एक-२ का एक-२ उद्देशक ऐसे २८ उद्देशक

(३१) सुने बिना भी धर्म को प्राप्त कर सकते हैं?

(३२) गांगेय अणगार की वक्तव्यता।

(३३) ऋषभदत्त, देवानंदा और जमाली का वर्णन।

(३४) पुरुष को मारने की वक्तव्यता।

इस प्रकार ३४ उद्देशक में यह शतक पूर्ण होगा।

जम्बूद्वीप :

एक लाख योजन प्रमाण इस द्वीप का वर्णन पहले भाग में आ गया है जिसमें वर्षा (सात क्षेत्र) और वर्ष धरो (६ पर्वत) तथा उसके नाप आदि का वर्णन है। ये उद्देशक मिथिला नगरी में चर्चित हुए हैं।

चालू अवसर्पिणी काल के चौथे आरे में जब देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी विचर रहे थे उस समय मिथिला नाम की नगरी बहुत ही विशाल और समृद्ध थी। नमिराजर्षि वहां राज्य करते थे। कीचड

में उत्पन्न हुए कमल के समान संसार में रहने पर भी वे राजर्षि संसार से निर्लेप थे।

"काम भोग फणीधर के फण के समान, काया कांच की चूड़ी के समान, यौवन पानी के परपोटे के समान, श्रीमंताई और सत्ता बिजली की चमक के समान इस मनुष्य अवतार को राधावेध की तरह मानने वाले थे। इसीलिए राजगद्दी पर बिराजमान होनेपर भी जन्म के बैरागी त्यागी और तपस्वी थे। एक दिन सिर में उत्पन्न हुई वेदना के कारण राजरानीयें चन्दन आदि औषध घिस रही थी तब रानीयों के हाथ की चूड़ियों की आवाज भी राजा के लिए असह्य थी। परन्तु जब एक ही चूड़ी हाथ में रखकर औषध घिसने लगी तब आवाज नहीं आने से राजा ने पूछा कि, हे मंत्री ! अब आवाज आना क्यों बंद हुई? मंत्री ने कहा रानियों के हाथ में एक ही चूड़ी है। अतः आवाज बंद हुई है। इतना सुनते ही वेदना में पड़ी हुई राजा की आत्मा जागृत बनी और विचारों में आरुढ़ हो गई कि, जहां दो तीन का मिलन था वहां दुःख था। पर जब रानी ने एक ही चूड़ी रखी तब मुझे सुख लगा। अतः जहां संयोग है वहां दुःख है।

"संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुःख परम्परा"

ऐसे त्याग संपन्न राजर्षि की मिथिला में भगवान पधारे। वहां देवोने का समवसरण की रचना की और भगवान ने श्रमण धर्म का श्रावक धर्म तथा शील-तप और भाव धर्म का उपदेश दिया, देशना समाप्त हुई, पर्षदा प्रसन्न हुई तथा मानव अपने-२ घर गये।

उस समय गौतमस्वामी ने भगवान से पूछा कि—हे प्रभु ! जम्बूद्वीप कहाँ पर है तथा किस स्थान पर है?

जवाब में भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! असंख्यात द्वीप और समुद्र के बीच में सब करते छोटा, गोल थाली के आकार जैसा जम्बूद्वीप

है। शरीर के बीच में जैसे नाभी होती है वैसे इस द्वीप के बीच में लाख योजन उँचा मेरु पर्वत है और १४५६००० नदियाँ हैं वह निम्न है–

भरत क्षेत्र में गंगा तथा सिन्धु नदी है।

ऐरावत क्षेत्र में रक्ता और रक्तावली नदी है।

इन नदियों की १४-१४ हजार शाखा है। ये सभी छोटी नदियाँ इन चारों बड़ी नदियों में शामिल हो जाती है। अर्थात् चारों की ५६००० संख्या हुई।

हेमवंत क्षेत्र में रोहित और रोहिताशा नदी है।

हैरण्वत क्षेत्र में सुवर्णकूला और रूपकला नदी है।

प्रत्येक को २८-२८ हजार अर्थात् १,१२००० शाखा है।

हरिवर्ष क्षेत्र में हरि और हरिकांता नदी है।

रम्यकक्षेत्र में नरकांता और नारीकांता नदी है। प्रत्येक को ५६-५६ हजार नदियाँ है।

महाविदेह क्षेत्र में सीता तथा सीतोदा है। परिवार संख्या ५३२००० है।

इन दोनो नदियों में से पहली नदी पूर्व के समुद्र में और दूसरी नदी पश्चिम के समुद्र में गिरती है। इससे अधिक वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति से जानना ऐसा टीकाकार कहते हैं।

॥ पहला उद्देशक समाप्त ॥

शतक नववां उद्देशक-२

यह उद्देशक राजगृही में चर्चित हुआ है। गौतमस्वामी के पूछने से भगवान ने कहा कि हे गौतम! जम्बूद्वीप में भूतकाल और भविष्यकाल में दो चन्द्र तथा दो सूर्य होगे। अर्थात् भूतकाल में जो परिस्थिति थी वह वर्तमानकाल में भी है और भविष्यकाल में भी दो सूर्य और दो चन्द्र जम्बूद्वीब को प्रकाशित करेगें। तारागण की संख्या एक लाख तैंतीस हजार नौ सो पचास (१,३३,९५०) कोड़ाकोड़ी है।

लवण समुद्र में चार चन्द्र तथा चार सूर्य है, ११२ नक्षत्र, ३५२ ग्रह और २६७९०० कोड़ाकोड़ी ताराओं को संख्या तीनों काल में थी हैं और रहेगी।

घातकी खंड में १२ सूर्य और १२ चन्द्र, ३३६ नक्षत्र, १०५६ ग्रह तथा ८०३,७०० कोड़ाकोड़ी तारा है।

कालोदधि समुद्र में ४२ चन्द्र और सूर्य, ३६९६ ग्रह, ११७६ नक्षत्र और २८,१२९५० कोड़ाकोड़ीं तारे है।

पुष्कर द्वीप में १४४ सूर्य और १४४ चन्द्र है, १२६७ ग्रह, ४०३२ नक्षत्र और ९६, ४४, ३०० कोड़ाकोड़ी तारे है।

आभ्यन्तर पुष्करार्द्ध में इससे आधे करने। इस प्रकार अढ़ाद्वीप में १३२ चंद्र और १३२ सूर्य है तीनो काल में रहेगे। पुष्करोद समुद्र में तीनो काल में संख्यात चंद्र और सूर्य हैं। स्वयंभूरमण समुद्र तक में असंख्यात चंद्र और सूर्य प्रकाशित थे, है और होगे।

॥ दुसरा उद्देशक समाप्त ॥

शतक नववां उद्देशक--३-३०

इसमें एक एक अंतर्द्वीप के एक एक उद्देशक जानना। उस प्रकार २८ अंतर्द्वीप के २८ उद्देशक जानना।

इस द्वीपों में मनुष्य रहते है और जीवाभिगम सूत्र से अंतर्द्वीप का वर्णन जान लेना ऐसा टीकाकारने कहा है।

॥ ३ से ३० उद्देशक समाप्त ॥

शतक नववां उद्देशक--३१

सुने बिना भी जीव धर्म को प्राप्त कर सकता है?

अश्रुत्वा अर्थात् अरिहंत आदि के पास से सुने बिना भी साधक को अरिहंत धर्म, बोधिलाभ, धर्म, ब्रम्हचर्य धर्म, संयम, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान आदि ११ पद की प्राप्ति हो सकती हैं? होती है तो किस कारण से? नहीं होने में कारण क्या?

प्रश्न का हार्द समझे उसके पहले पारिभाषिक शब्द को संक्षेप से जान लेना ठीक रहेगा।

(१) तीर्थंकर :

इस पद को प्राप्त करने की योग्यतावाले भाग्यशाली को दो तीन भव पहले से ही ऐसी भावना उत्पन्न होती है।

संसार के जीवमात्र को हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह रुपी महापाप में से बचाकर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रम्हचर्य और संतोष धर्म देनेवाला होऊं।

(२) दीन दुःखी अनाथ और कर्म के कारण परेशान बने हुए जीवों का में सहायद बनूं।

(३) द्रव्य और भाव दरिद्रता को दुर करके उनको धर्म रुपी आम के वृक्ष के नीचे लानेवाला बनूं।

(४) कामीजीयों के काम को दूर करुं।

(५) क्रोधियों के क्रोध को भगानेवाला बनूं।

(६) मायावी को मायाजल से मुक्त करुं

(७) संतोषामृत देकर सभी को संजीवन करुं।

(८) द्रव्य और भाव रोगी को क्षमा आदि दस प्रकार की औषध का पेकेट देकर रोग मुक्त करुं।

इस प्रकार की अभूतपूर्व तथा अजोड़ भावदया से प्रेरित ये महापुरुष वीश स्थान की उत्कृष्टतम, निष्काम और निर्व्याज आराधना से स्वयं की आत्मा को द्रव्य तथा भाव कर्म से मुक्त करके तीर्थंकर नामकर्म की निकाचना करके तीसरे भव में घाती कर्म का नाश करके केवलज्ञान को पाने

के लिए भाग्यशाली बनते हैं और तुरंत ही तीसरे भव में उपार्जित तीर्थंकर नामकर्म का उदय होते ही समवसरण में बिराजमान होकर जीवमात्र को उपदेश देते हैं और चतुर्विध संघ की स्थापना करके तीर्थंकर बनते हैं।

(२) केवली श्रावक—तीर्थंकर भगवन्त के समवसरण में बैठकर धर्म सुना हो तथा शंकाओ का निवारण किया हो वे केवली श्रावक तथा केवली श्राविका कहलाते हैं।

(३) केवली उपासक—केवली भगवन्त की उपासना करनेवाले को केवली के उपदेश का लाभ नहींमिलता पर तीर्थंकर के शिष्यों तथा शिष्याओं के पास से धर्म सुना हो तो वे केवली उपासक तथा केवली उपासिका कहलाती है।

(४) केवली पाक्षिक—जो स्वयंबुद्ध हो उनको केवली पाक्षिक कहते हैं। गौतमस्वामी के पूछने का आशय इस प्रकार है कि जिस जीवात्मा ने केवली, केवली श्रावक श्राविका, उपासक उपासिका या स्वयं बुद्ध से नहीं सुना उनको अरिहंत धर्म आदि की प्राप्ति होगी ?

जवाब का निर्णय करें उसके पहले धर्म आदि ११ पदों का गूढार्थ भी जान लेना आवश्यक है।

(१) जिन प्रज्ञप्त धर्म—राग व्देष का समूल नाश करके केवलज्ञान पाने के बाद समवसरण में बिराजमान होकर जिस धर्म का उपदेश दिया उसको जैन धर्म के नाम से कहते हैं। जिसमें राग, व्देष, मोह और विषय वासना का संपूर्ण विराम होता है। क्रोध, मान, माया और लोभ की संपूर्ण समाप्ति होती है। इन्द्रियो तथा मन का वेग सर्वथा ठंडा हो जाता हैं। भोगैषण, लोकैषणा और वितैषणा का सभी प्रकार से दमन होता है वह जैन धर्म कहलाता हे। ऐसे धर्म के प्ररुपक तीर्थंकर बिना दूसरा कोई नहीं होता है क्योंकि स्वयं के अदम्य पुरुषार्थ द्वारा, त्याग और तप धर्म की

चरम सीमा में की हुई आराधना के बल से नये कर्म के द्वार को संवर धर्म से सर्वथा बन्द करके तथा स्वयं के जुने कर्म के सूक्ष्म से सूक्ष्म एक-एक आवरण परमाणु को तपश्चर्या द्वारा जलाकर राख कर देते हैं। अतः केवलज्ञान के मालिक तीर्थंकर देवाधिदेव का प्ररुपित धर्म ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है।

गौतमस्वामी ने पूछा कि—ऐसा धर्म कैसे प्राप्त होता है ? उसका मूल कारण क्या ?

(२) बोधिलाभ—अनादि अनंत संसार में चक्रवर्ती पद और इन्द्रपद भी उत्कृष्ट पुण्य के जोर से प्राप्त करसकते हैं परन्तु बोधि (सम्यक्त्व) लाभ के लिए पुण्यबल काम नहीं आता पर आत्मा की मोक्षाभिलाषिणी पुरुशार्थ शक्ति ही का ममें आती है क्योंकि संख्याता या असंख्याता भवों में उपार्जित की हुई तथा अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व मोह के कारण बढ़ाई हुई अनंतानुबंधी कषाय की मोहमाया को भगाने के लिये अनंतानं नुबंधी कर्म के कारण से कषाय हुई भवों में उपार्जित की हुई तथा अनंतानुबंधो कषाय और मिथास्वभोर कर्भ के कारण से बढ़ाई हुई अनंतानुबंधी कषाय की मोहमाया को भगाने के लिए आत्मा का अनिवृत करण ही मुख्य कारण रुप से है।

पुरुषार्थी बनी हुई आत्मा अनंतानुबंधी कषायों की माया के साथ जब जबरदस्त रण मैदान खेलती है और काली नागिन करते भी भयंकर इस माया नागिन को दबा देती है तब उस माया की शक्ती अधिकांश रुप में क्षीण होनेपर एक कोड़ाकोड़ी जितने कर्म शेष रहते हैं और ६९ कोड़ाकोड़ी सागरोपम जितने भयंकर कर्म लगभग क्षय होते हैं अथवा शक्तीहीन बनते हैं। उस समय आत्मा को ज्ञान का प्रकाश मिलता है जो अभूतपूर्व होता है। ऐसा प्रकाश प्राप्त की हुई आत्मा ही बोधी लाभ का मालिक बनती है।

अनंतानुबंधी कषाय को दबाये बिना मोहराजा का तथा उसके सैनिको का जोर किसी समय भी कम नहीं पड़ता है। अतः मोहराजा की मार खाकर मुर्दा बनी हुई आत्मा भी लगभग मुर्दे के समान ही होती है।

सम्यकत्व के लिए कषाय का दमन ही मुख्य और अजोड़ कारण है।

इंद्रपद पाकर कबूतर की तरह उड़ते हुए पर्वत को काटना सरल है, चक्रवर्ती या वासुदेव के भोक्ता बनकर लाखों करोड़ों मनुष्यों को यमराज के अतिथि बनाना भी कठिन नहीं, भोगविलास में पूर्ण मस्त बनकर जीवन पूर्ण करना अति सरल है, व्यापार में छल, प्रपंच द्वारा लाखों करोड़ों रुपये को इकट्ठा करना तथा उसको भोगना सरल है परंतु स्वयं की आत्मा का दमन, कषायों का शमन, इंद्रियों का दमन, वृत्तियों का निरासन करना अत्यंत कठिन है तो भी मोक्षाभिलाषी आत्मा सरलता से कर सकती है।

गौतमस्वामी ने भगवान से पूछा कि—हे प्रभु ! बोधिलाभ की प्राप्ति में मूल कारण क्या है ?

(३) अनगार धर्म :—धर्मपत्नी जिसे हो वह गृहस्थी कहलाता हैं क्योंकि गृहिणी ही घर है। ऐसा घर जिसके नहीं है वह अणगार है। जमी हुई गृहस्थी को दोनों परिग्रह अवश्य होते है

मकान, बंगला, पुत्र-परिवार, धन-धान्य, सोना-चांदी और कपड़े आदि के परिग्रह को द्रव्य परिग्रह कहते है। जहां-२ द्रव्य परिग्रह होता है वहां-२ अनिच्छा से भी राग-द्वेष होते ही है अतः क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, झूठ आदि कर्म भाव परिग्रह है।

इस प्रकार दोनों परिग्रह को जिसने भावपूर्वक त्याग किया है वे अणगार मुनि विरतिधर श्रमण कहलाते हैं।

आकाश में रहे हुए नव ग्रहों की तुष्टि पुष्टि शक्य होती है पर आशा, तृष्णा आकाश जितनी अनंत होने से परिग्रह नाम का बड़ा ग्रह सर्वथा दुःस्त्याज्य रहता है।

परंतु सम्यग्दर्शन के प्रकाश में जिसकी आत्मा प्रवेश कर चुकी है ऐसे पुरुषार्थी को द्रव्य परिग्रह अर्थात् स्वयं की आत्मा से सर्वथा

अतिरिक्त पुद्गलिक पदार्थों का त्याग सुसाध्य बनना है तथा सम्यग्दर्शन के प्रकाश में सम्यग्ज्ञान जैसे–२ बढ़ता है वैसे–२ सम्यग्चारित्र का प्राबल्य भी बढ़ता जाता है और ऐसा होनेपर कोह मुडे, मान मुडे माया मुंडे और लोभ मुंडे अर्थात् बालों के मुंडन (लोच) के जैसे स्वयं की आत्मा में अनादिकाल से स्थिति जमाकर रहे हुए क्रोध का भी मुंडन करता है, मान को भी उखेड़ देता है, माया के जाल को तोड़ डालता है और लोभ राक्षस को मार मार कर उसका चूरा करता है। इस प्रकार के द्रव्य और भाव परिग्रह के त्यागी ही अणगार कहलाते हैं।

ऐसा अणगार धर्म, श्रमण धर्म, मुनि धर्म, निग्रन्थ धर्म, समिति गुप्ति धर्म की प्राप्ति सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्र बिना किसी काल में शक्य नहीं है।

(४) ब्रह्मचर्य धर्म— आठों प्रकार के मैथुनवासना के त्याग के बाद ही ब्रह्मचर्य धर्म की प्रप्ति होती है। क्योंकि आत्मा में मैथुनवासना और ब्रह्मचर्य एक साथ नहीं रह सकता। ये दोनों तत्व एक दूसरे के बैरी हैं। वृद्ध अनुभवी कहते है कि जहां मैथुन वासना है वहां भाव ब्रह्मचर्य नहीं और जहां भाव ब्रह्मचर्य है वहां मैथुनवासना और उसकी चेष्टा होती नहीं। मैथुन वासना या उसकी चेष्टा में प्रायः करके द्रव्य ब्रह्मचर्य भी रहता नहीं तो भाव ब्रह्मचर्य की संभावना कहां से हो ? अतः ब्रम्हचर्य की आराधना के लिए आदि कारण मैथुन कर्म की विरति ही है।

मैथुन के आठ प्रकार निम्न हैः—

(१) स्मरण मैथुन—कम या ज्यादा भोगी हुई स्त्री या पुरुष की मधुर वाणी तथा रात्रि को पुनः–२ याद करते रहना वह स्मरण मैथुन है।

शास्त्रकार तो यहांतक कहते हैं कि पुरुष को स्त्री का त्याग या

स्त्री को पुरुष का त्याग शक्य हो सकता है पर परस्पर किये हुए भोग विलास की स्मृति का त्याग अत्यन्त दुस्त्याज्य होता है अतः स्मरण मैथुन को भाव मैथुन कहने में हरकत नहीं।

(२) कीर्तन मैथुन—भोगी हुई, छोड़ी हुई, या मरी हुई स्त्री या पुरुष के भोग के समय हुई मधुर बातों का तथा चेष्टाओं का फिर से कथन करना कीर्तन मैथुन है।

(३) केलि मैथुन—भोग्य पात्र के साथ भोगे हुए भोग को याद करके स्वप्न में भी भोगीजीवन की प्रशंसा करनी और फिर से वैसे भोग स्वप्न में मिले ऐसी इच्छा करनी वह केलि मैथुन है।

(४) प्रेक्षण मैथुन—भोगी हुई स्त्री या पुरुष का रुप रंग, विलासिता का आरोपण दूसरी स्त्री या पुरुष में करके उसके रुप रंग को देखकर स्वयं के भाग्य को यादकर उंडे निसासे डालने अथवा दूसरी स्त्री या पुरुष के अंगोपांग फेशनेबल वेषपरीधान, तथा विलासी चाल को देखकर मानसिक जीवन में चचंलता को उत्पन्न करना उसे प्रेक्षण मैथुन कहते है।

(५) गुह्यभाषण मैथुन—दो मित्र या पति पत्नी के बीच में भोग विलास के अष्टांग तथा ८४ आसन सम्बन्धी मैथुन कर्म की चर्चा में मशगूल रहना वह गुह्यभाषण मैथुन है।

(६) संकल्प मैथुन—मैथुन का संकल्प करना या उस प्रकार के दृश्य, चित्र और कथानक देखकर मानसिक जीवन में मैथुन का संकल्प करना।

(७) अध्यवसाय-मैथुन—अध्यवसाय अर्थात् आत्मिक परिणाम। जिसके मानसिक या वाचिक विचार खराब होगें उनके आत्मिक परिणाम में भी खराबी आये बिना नहीं रहेगी। अतः संसार भर के सभी योगी महायोगीयों के नाथ भगवान महावीर स्वामी ने डंके की

चोट के साथ कहा है कि हे मानव। ब्रह्मनिष्ठ या नैष्ठिक ब्रह्मचारी होने के लिए "अप्पाचेवदमियव्वो" इस उक्ति को चरितार्थ किये बिना संसारभर की एक भी प्राणायाम क्रिया काम आनेवाली नहीं है क्योंकि आत्मा को शुद्ध स्वरुप के लक्ष्य स्थान पर पहुँचाये बिना संसार भर के अच्छे से अच्छे निमित्त कारण भी सफल नहीं होते।

(८) क्रिया निवृति मैथुन—उपरोक्त प्रमाण के सातों मैथुन भाव में मस्त बनकर एक दिन साक्षात् या स्वप्न में मैथुन सेवन करना वह क्रिया निवृति मैथुन है।

व्यवहार नय की अपेक्षा से आठवां क्रिया निवृति मैथुन भले ही खराब हो पर निश्चय दृष्टि से तो आठवे मैथुन का प्रेरक उपरोक्त सातो मैथुन आत्मा का अधःपतन करानेवाले होते है। क्योकि इससे मैथुन संज्ञा बलवती बनकर भव भवांतर के लिए कुसंस्कारो की वृद्धि करानेवाले बनते हैं और जहां तक दुस्त्याज्य मैथुन संज्ञा के सामने जोरदार व्यूहरचना होती नहीं तथा अनादिकाल से आत्मा के साथ एकाकार हुए मैथुन संस्कारों को निकालने के लिए शिक्षा नहीं होती तब तक ब्रह्मचर्य धर्म भी आराधित होता नहीं।

गौतमस्वामी के पूछने का आशय यह है कि-हे प्रभु! इस प्रकार का ब्रह्मचर्य धर्म प्राप्त होने में मूल कारण क्या है?

(५) संयम द्वारा संयम यतना—"यतते प्रतिसमयं आत्मानं उपयोग धर्मे प्रवर्तते इति यतना" अर्थात् सम्यक्चारित्र के पालन में आत्मा में सतत जागृति, ज्ञानमार्ग में आत्मा की मस्ती, पुद्गलिक पदार्थ के प्रति सर्वथा उदासीनता को ही यतना कहते है।

(६) संवर धर्म— कर्म की निर्जरा का विचार किये बिना ही सत्ता में पड़े हुए कर्म की निर्जरा चाहे जितनी हो तो भी आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता है। अनादिकाल से आत्मा के प्रदेश पर अनंत कर्म है यद्यपि अकाम

निर्जरा से उनकी निर्जरा भी हुई है तो भी आत्मा का संसार कम नहीं हुआ है अतः किसी समय तो करोड़ों गुना अधिक नये कर्म भी बंधे हैं। ऐसी परिस्थिति में आत्मा की दशा कैसे सुधरे।

दया के सागर समान तीर्थंकर देव ने कहा कि-हे साधक ! सबसे पहले तू संवर धर्म का पाठ सीखले जिससे तेरा आश्रव मार्ग बंध होगा और निर्जरा तत्व की आराधना सर्वथा लाभदायी बनेगी क्योंकी संवरपूर्वक की निर्जरा ही मोक्ष साधिका होती है। आज के संसार की करुणता हो तो यही है कि हम सभी, जीव के भेद प्रभेद उनके शरीर की अवगाहना, अजीवकाय, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय, सिद्धशिला की चर्चा, शाश्वत बिम्ब की संख्या और मेरुपर्वत की लम्बाई चौड़ाई ही नापने में लग गये है। परन्तु हमारी आत्मा के कट्टर दुश्मन जैसे आश्रव और बंध को पहचानने में बहुत ही ढील करके बैठे हैं। इसीसे जीवन व्यवहार में असत्य वचन, झूठे मापतौल ब्याज में गड़बड़, परिग्रह आदि को छोड़ नहीं सके और जैनधर्म की आराधना के माध्यम से भी "जैनत्व" प्राप्त नहीं कर सके इसीलिये संवरधर्म की आराधना तथा उसके भेदानु भेद का तलस्पर्शी ज्ञान सबसे पहले जरुरी है।

गौतमस्वामी पूछते हैं कि–केवलज्ञानी आदि को सुने बिना भी ऐसा संवरधर्म कैसे प्राप्त होता है ?

(७-८) मतिज्ञान–श्रुतज्ञान—सम्यगदर्शन और सम्यगज्ञान के आवरण कर्म लगभग अलग है तो भी परस्पर एक दूसरे के कार्य कारण भाव से होते हैं उसको हम मना नहीं कर सकते है। अतः जो साधक—

(१) राग-द्वेष और क्रोध कषाय को उपशमित करेगा।

(२) मोहवासना और विषयवासना को संयमित करेगा।

(४) सन्मान और तिरस्कार क दमन करेग

(५) स्वाध्याय, तप और त्याग का पोषण करेगा तब सम्यगदर्शन शुद्ध होते ही मतिज्ञान भी विकसित होगा और श्रुतज्ञान भी पवित्र बनेगा। सम्यग्ज्ञान तथा श्रुतज्ञान की शुद्धता ही सम्यग्दर्शन में स्थैर्य लानेवाली बनेगी। इसप्रकार इन दोनों ज्ञान की प्राप्ति में और आत्म प्रत्यक्ष अवधिज्ञान, मनः पर्यवज्ञान और केवलज्ञान प्राप्त होने में भी मूल कारण क्या है ?

अब इस प्रश्न का आशय समझ ले।

हे प्रभु ! कोई जीव केवली, केवली श्रावक, श्राविका, उपासक, उपासिका, स्वयंबुद्ध की देशना सुने बिना ही तीर्थंकर प्रणीत धर्म, बोधिलाभ, अनगारत्व, ब्रम्हचर्यादि धर्म की प्राप्ति कर सकेंगे ? भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! कोई एक जीव सुने बिना भी धर्म को प्राप्त कर सकता है और कोई एक सुननेपर भी धर्म का लाभ ले नहीं सकता कारण बतलाते हुए भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! जिस भाग्यशाली का ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो गया होगा उसको केवली भगवंत आदि के पास से धर्मोपदेश सुने बिना भी तीर्थंकर प्रज्ञप्त धम का लाभ होगा और जिसने इन कर्म का क्षयोपशम नहीं किया होगा उसको धर्म का लाभ नहीं होता है।

सारांश यह कि जैन धर्म की प्राप्ति का मूल कारण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है तथा जिन भाग्यशाली को केवली आदि के पास से धर्मोपदेश सुनने का अवसर आनेपर धर्म की प्राप्ति होती है उसमें भी तीर्थंकर की वाणी निमित्त कारण होती है और क्षयोपशम रुप स्वयं की आत्मा उपदान कारण रुप मुख्य होती है।

इस सूत्र में 'ज्ञानावरणीय कर्मणां' जो बहुवचन है, उससे अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा रुप, मति ज्ञान, श्रुतज्ञान और मनः पर्यवज्ञानावरणीय का क्षयोपशम ही अपेक्षित है कारण कि, ये चारों ज्ञानावरणीय देशघाति

होने से उसका क्षयोपशम शक्य होता है अथवा इन कर्म का क्षयोपशम चाहे जितना हो तो भी थोड़े बहुत आवरणीय कर्म के स्पर्द्धक तो सत्ता में रहेंगे ही, जबकि केवल ज्ञानावरणीय सर्वघाति होने से उसका क्षयोपशम नहीं होता पर जब होता है तब एक साथ उसका क्षय ही होता है।

भागोल की नदी में लुड़कता हुआ पत्थर जो गोलाकार और चिकना होता है। इसका इतिहास किसी के पास नहीं कि यह पत्थर पर्वत से कब गिरा होगा ? हर वर्ष नदी के प्रवाह में लुड़कता, टूटता फूटता हुआ मेरे गांव की नदी में कब आया ? कौन लाया ? कौन से वर्ष में कितना घिसाता गया ? इतना अच्छा चिकना कैसे बना ? ये सभी प्रश्न करे या न करे ? इसका जवाब हो या न हो ? परंतु कभी भी यह पत्थर जोरदार पवन के कारण पर्वत पर से लुढ़का तो होगा ही ? हजारों लाखों वर्ष तक कहीं घसड़ाया भी होगा ! टूटा होगा ! फूटा होगा ! सभी को पसंद आ जाय। उस प्रमाण से गोल तथा चिकना बन गया होगा ? इसमें भी कितने ही पत्थर तो इतने अच्छे बनते हैं कि शालीग्राम रूप मे पूज्य बनकर पूजे जाते हैं इसीप्रकार अनादि अनंत संसार में कर्म के भार से बहुत वजनदार बनी हुई आत्मा संसार रुपी समुद्र में घसीटती, यमदूतों की मार खाती, पराधीनता में भूख, प्यास सहन करती, ठंड में तथा गर्मी में बेमौत मरने जैसी वेदनाओं को भुगतती अनेक अनेक भव इस जीवात्मा ने पूर्ण किये हैं। जहां कितने ही कर्म के भार से हलका होता गया है और मनुष्य अवतार में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करने का अवसर मिलते ही तीर्थंकर प्रज्ञप्त धर्म का लाभ लेने के लिए भाग्यशाली बनता है।

कर्मों का क्षयोपशम :

चाहे जैसे साधक को जब चाहे और चाहे जिस निमित्त में भी सत्ता में पड़े हुए कर्मों का उदय निश्चित है उस समय कौन सा भी साधक चलायमान होने की तैयारी करेगा ही। परंतु सम्यग्दर्शन के प्रकाश में सम्य-

ग्ज्ञान की आराधना से सम्यक्चारित्र की मर्यादा में रहा हुआ साधक कर्मों के उदय के समय स्वयं के अध्यवसायों को बिगड़ने नहीं देगा। शुद्ध तथा पवित्र लेश्याओं से पतित नहीं होगा और स्वाध्याय बल के जोर से उदय में आये हुए कर्मों को अवश्य क्षय करेगा। भाविकाल में आनेवाले सत्तास्थानीय कर्मों के उदय को सत्प्रवृति और सद्वृति के द्वारा उपशम करेगा। अर्थात् कर्मों को उदय में आने का अवसर नहीं देगा। जैसे कि सम्यग्ज्ञान की वृद्धि के लिए जागृत साधक प्रतिक्षण वांचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, लक्षण और धर्म कथा आदि पांच प्रकार के स्वाध्याय में पूर्ण मस्त रहकर उदित ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करेगा और पढ़ने में पूर्ण एकाग्र चित्त बनकर उदय में आनेवाले कर्मों का उपशम करेगा। ज्ञानावरणीय कर्मों के भारी जीव का, आलसी तथा प्रमादी जीव का, मजाकी मित्रों का, तथा उनके सहवास का सर्वथा विच्छेद करके उदय में आनेवाले ज्ञानावरणीय कर्म का अवरोध करने के लिए भाग्यशाली बनेगा। यहां तक कि स्वयं के शत्रु की भी आँख, कान आदि इंद्रियों का अहित करने का विचार त्यागकर दर्शनावरणीय कर्म के द्वार बन्दकर, उदित दर्शनावरणीय का क्षय करेगा तथा उदय में आनेवाले कर्म का उपशम करेगा। उस प्रकार मोक्ष की ओर अग्रेसर होनेवाले पुरुषार्थी जीव कर्मों के क्षयोपशम द्वारा जैनधर्म के श्रवण का लाभ लेगा।

बोधिलाभ की प्राप्ति के मूलकारण को दर्शाते हुए भगवान ने कहा कि, दर्शन मोहनीय कर्म का क्षयोपशम ही बोधिलाभ प्राप्त करा सकता है जिसकी प्राप्ति होने के बाद चैतन्य स्वरुप आत्मा की पहचान होती है।

खान में से निकले हुए पत्थर को केवल परीक्षक ही जान सकते हैं कि यह हीरा है। तदन्तर उस पत्थर को काटकर उसको तीव्र शस्त्र के द्वारा छेदते-भेदते हुए चमकदार बनाते हैं तब वह हीरा राजा महाराजा

के मुकुट में सुशोभित होता है। इसी प्रकार कर्मों के आवरण के द्वारा हमारी आत्मा भी हीरे के पत्थर के समान है। परन्तु प्रत्येक गतिओं की तीव्र वेदना को सहन करता हुआ स्वयं के आवरणों को स्वयं ही हटाता जाता है और जैसे-२ वे आवरण हटते जाते हैं तब सबसे पहले आत्मा में यथाप्रवृतकरण नाम का जबरदस्त पुरुषार्थ उत्पन्न होता हैं। अन्त में वहीं पुरुषार्थ अनिवृतकरणा में प्रवेश करते ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती हैं। स्वयं की आत्मा का लाभ प्राप्त करने के बाद फिर से दर्शन मोहनीय कर्म का जोर न बढ़े इस लिए आत्मा जागृत बनती है तब केवली भगवान, चतुर्विध संघ, श्रुत धर्म, जिनवाणी जैन धर्म तथा भाव देव के अवर्णवाद का त्यागकर दर्शन मोहनीय कर्म का द्वार बन्द करता है। जिन भक्ति आदि सत्कर्म, अरिहंत के प्रति श्रद्धालु तथा उनके वचन को सत्य मानकर ऐसी रोम रोम की भावमा के द्वारा स्वयं की आत्मा को दृढ़ करता है और उदय में आये हुए मिथ्यात्व का नाश करता है। उसके बाद मिथ्यात्व, कषाय, तथा उनके (मिथ्यात्वी) सहवास का त्यागकर मिथ्यात्व के उदय का अवरोध करता है।

इस प्रकार भाग्यशाली मनुष्य बोधिलाभ को प्राप्त करता है तथा हर समय उसकी शुद्धि का ध्यान रखता है।

अनगार धर्म के मूलकारण :

मुनिधर्म की प्राप्ति के मूल कारण में वीर्यान्तराय और चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम है। आठो कर्म और उसके अनेक भेद में अन्तिम जबरदस्त शक्ति को धारण करनेवाली वीर्यान्तराय कर्म की प्रकृति है। जिसके सद्भाव में अनेक जीवों को जानते हैं कि वे खाते-पीते और श्वासोश्वास लेते हुए भी मरने जैसे जी रहे है।

उनकी इंद्रियां अशिक्षित होने से जड़ होती है। मन उनका मूर्ख होता है, हाथ पैर अशक्त होते है और जम्हाई लेकर पूरा दिन व्यतीत करते है। आँख खोलते है पर मानो संसार में कुछ करने जैसा हैं ही नहीं उस प्रकार जीते है, देव समान जीवन मिला है परन्तु उनको नींद ही प्यारी होती है। अमृत के समान जीवन है तो भी वे आलस्य तथा तथा प्रमाद के पुजारी होते हैं। इस प्रकार की आत्मा तीन प्रकार की होती है:—

(१) बीमार दिल (२) मुर्दा दिल और (३) उलटा दिल

(१) बीमार दिल :

जिसकी आत्मा (दिल) बीमार होती है। इस बीमार दिल के लोग छत या बाजार की पेढ़ीपर बैठकर, धर्म, समाज, गरीब, देश और साधु साध्वी को पढ़ाने के लिए बड़ी-२ बाते जरुर करते है। परंतु स्वयं की जेब में से कुछ धन निकालना हो या समय का भोग देना पड़े तब सब से पहले हीं भागने लग जायेगें अर्थात् ऐसे गायब हो जायेगे कि उनको कितना ही खोजो पर नहीं मिलेंगे। ऐसे जीव चाहे जहांपर बैठकर समाज की अच्छी से अच्छी योजना को धूल में मिलाने का उपाय भी खोज लेंगे। अतः ऐसे जीव बीमार दिल के होने से समाज तथा देश के लिए भार रुप होते हैं।

(२) मुर्दा दिल :

उनकी आत्मा हमेशा मुर्दे के समान होती है जिससे स्वयं के अर्थ तथा काम के सिवाय दूसरे किसी काम में रस नहीं लेते हैं। परमात्मा की कृपा से धन मिलने पर भी उसका उपयोग समाज में छल–प्रपंच, सातो व्यसनों जुआं तथा फैशन के लिए होता है। इस प्रकार के जीव मुर्दा दिल के कहलाते हैं।

(३) उलटा दिल :

जिसकी आत्मा संसार के सत्पुरुषों से उलटी या विपरीत होती हैं उसे उलटा दिलवाला कहते हैं। इनकी शिक्षा, विचार, रहन-सहन धार्मिक ज्ञान बिलकुल उलटा होता हैं। देश या समाज के किसी भी भाग में या धर्म के किसी भी विधि विधान में ऐसे मनुष्य अवश्य मिलेंगे जिससे—

(१) स्वयं के लड़के लड़कियों को विदेश भेजकर भी डाक्टर बनायेंगे पर समाज में बच्चों के लिए हाईस्कूल खोलने में पापकर्म की भावनावाले होंगे।

(२) स्वयं की संतान को मौज शौक से रखेंगे परन्तु समाज में गरीबों के लिए दवा, वस्त्र, मकान तथा अनाज देने का जोरदार विरोध करेंगे।

(३) धर्म के विधि विधान जानने पर भी धार्मिकता या मानवता को निभाने में पूर्ण असमर्थ होते हैं।

(४) स्वयं के विरोधी के अच्छे विधान में भी गलती निकालकर उनके धार्मिक कार्यों को मिटाने का भरसक प्रयत्न करेंगे।

(५) समाज का एक भी कार्य उत्साह से नहीं करते हैं। इन सभी कारणों से वे उलटे दिल के होने से उनके दिमाग में पाप की भावना ही बनी रहती है।

ये तीनों आत्माएं वीर्यान्तराय कर्म तथा चारित्रमोहनीय कर्म के भार से दबी हुई होती है। अतः भावनिक्षेप अनगार धर्म की प्राप्ति ऐसों को सुगमता से नहीं मिलती है परन्तु जागृत आत्मा स्वयं की पुरुषार्थ शक्ति के द्वारा दोनों कर्म का उपशम करके अनगार धर्म प्राप्त कर लेतो है। तब ब्रह्मचर्य धर्म के लिए साधु को पुरुषवेद मोहनीय कर्म, साध्वी को

स्त्रीवेद मोहकर्म और नपुसंक को नपुंसक वेदनीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम अनिवार्य होता है क्योकि मैथुनविरति रुप ब्रम्हचर्य धर्म के लिए वेदमोहनीय कर्म बाधक होता है इसलिए उसका क्षयोपशम ही श्रेष्ठ मार्ग हैं।

वीर्यन्तराय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा हमेशा जागृत रहती है जिससे संयम के द्वार निरतिचार पाल सकने में समर्थ बनती है।

द्रव्याश्रव और भावाश्रव के रुप में आश्रव दो प्रकार के हैं। जिस क्रिया के द्वारा कर्मो का आवागमन हो वह द्रव्याश्रव है और मानसिक अध्यवसाथ को भावाश्रव कहते हैं। इन भावाश्रव का निरोध शुभ अध्यावसाय रुप संवर द्वारा ही सरल होता है और उस संवर के मूल में अध्यवसायावरणीय कर्म अर्थात् भावाश्रव का त्याग ही रहा हुआ है। वह निम्न है।

मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशोम से मतज्ञान।

श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान।

अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान।

मनः पर्यवज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मनः पर्यवज्ञान।

केवलज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपम से केवलज्ञान की प्राप्ति।

उपरोक्त ग्यारह सूत्रों का सारांश यह है कि केवली आदि के पास से धर्म सुने बिना भी जीवात्मा, ज्ञानावरणीय, दर्शनमोहनीय, चारित्र-मोहनीय, वेदमोहनीय, यतनावरणीय, अध्यवसायावरणीय और मतिज्ञाना-वरणीय आदि के क्षयोपशम से जिनप्रज्ञप्तधर्म, बोधिलाभ, साधुता, ब्रम्यचर्य धर्म आदि प्राप्त कर सकता है और जिसने क्षयोपशम नहीं किया हो वह भी केवली आदि के पास से धर्म सुनकर जान सकता है। इतना विशेष और जान लेना कि केवली आदि के पास से जीव भले ही सुनकर

धर्म प्राप्त करले तो भी धार्मिकता आदि प्राप्त करने में मूल कारण तो कर्मों का क्षयोपशम ही मुख्य हैं। जैसे कि महावीर स्वामी के पास से तत्वों का निर्णय करने के बाद मननशीलता रुप क्षयोपशम के माध्यम से गौतम-स्वामी सम्यग्बोध बोधिलाभ आदि धर्म को प्राप्त करने में समर्थ बने हैं और अन्त में केवलज्ञानी भी बने हैं।

एक भव का तपस्वी मुनि तथा आज का मिथ्यात्वसंपन्न विषैला चंडकौशिक नागराज महावीर स्वामी के चरणो में स्वयं की सभी आसूरी शक्तियों को समाप्तकर काले भयंकर नाग के अवतार में भी बिल में मुंह रखकर सम्यकचारित्र को स्वीकार करके देवलोक का अधिपति बनता है।

बुद्धि में भ्रम उत्पन्न होते ही एक भव का कुंभराज स्वयं खंधकसूरी के पांच सौ शिष्यों को घाणी में पीलने का हुक्म देता हैं और मरकर महाहिंसक गीध पंखी का अवतार धारण करता है। जहां जिन्दे प्राणी को पकड़ तथा चीरकर मांस खाने का होता है। इन मृत प्राणियों का कलेजा खानेवाला यह गीध पक्षी एक दिन संयोग से जंगल में गये हुए राम लक्ष्मण और सीता के गृहआंगण में पधारे हुए मुनिराज के चरणो में नतमस्तक होते ही ज्ञानावरणीय और दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने लगता है। जिससे सम्यकचारित्र का प्रकाश भी सरल बना तभी तो उसने—

(१) मैं रात्रि भोजन नहीं करुंगा।

(२) किसी जीव को नहीं मारुंगा।

(३) मांसाहार नहीं करुंगा।

ये तीनों प्रतिज्ञा ले सका और शुद्ध श्रद्धापूर्वक शरीर की परवाह किये बिना पाली तथा देवलोक का मालिक बना।

ये उसके जैसे अनेक उदाहरण जैन कथानक में भरे पड़े हुए हैं। भगवतीसूत्र में जानवरों को भी सम्यक्चारित्र का लाभ माना हैं।

केवलज्ञानी श्री ऋषभदेव से सुने हुए भरत चक्रवर्ती और नहीं सुने हुए मरुदेवी माता ने अनित्यादि भावना रुप भावचारित्र के प्राबल्य से ही चारित्र मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर यथाख्यात चारित्र के फल रुप केवलज्ञान प्राप्त कर सके है। इत्यलं प्रसंगेनः।

अवधिज्ञान की वक्तव्यता :

केवलज्ञानी आदि के पास से कुछ भी सुने बिना जिस प्रयोग से कोई भी जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है। उसकी रुपरेखा इस प्रकार है :—

मिथ्यात्वी मनुष्य जो हमेशा छट्ठ की तपस्या करनेवाले, सूर्य के सामने ऊंचे हाथ रखकर आतापना लेनेवाले, उपशांत, कषायों को पतले करनेवाले मार्दव, सम्यग्गुरु के अनुशासनरहित होनेपर भी भद्रपरिणामी (विनयी) धीरे-धीरे जिसकी लेश्याएँ शुभ बनती जा रही है। ऐसे बाल तपस्वी जीव को विभंग ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशय होने से कभी :

इहा—सद्दर्शन से विचार करावे वह।
अपोह—दलीलों द्वारा विपक्ष धर्म का निरास करानेवाला।
मार्गण—अन्वयरुप से वर्तमान धर्म की आलोचना करानेवाला।
गवेषणा—व्यतिरेक धर्मो की आलोचना करानेवाला।

इस प्रकार से उत्पन्न हुए विभंग ज्ञान द्वारा वे बाल तपस्वी अधिक से अधिक असंख्य योजन पर्यंत के क्षेत्र को जानते हैं, किसी समय कुछ अंश में जीव तथा अजीव को, पाखंडी और सच्चे ज्ञानी को जानते है। देखते है और लेश्या शुद्ध बनती है। ऐसा होनेपर मिथ्यात्वकर्म के अणु सम्यकत्व से वासित होते हैं तथा सम्यकचारित्र को स्वीकारते हैं। "लिंग पडिवज्जइ" तथा तीर्थंकर के वेश को धारण कर विभंग ज्ञान में से शुद्ध अवधिज्ञानी बनते हैं।

इस प्रकार बने हुए ज्ञानी को तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या होती है। मति, श्रुत और अवधि तीन ज्ञान होते हैं। सयोगी होते है उसमें भी मनोयोगी, वचनयोगी और काय योगी भी होते हैं।

साकार तथा अनाकार उपयोगवाले होते हैं। वज्रऋषभ नाराच संघयणवाले होते है और एकसंस्थानवाले होते हैं। जघन्य से आठ वर्ष से अधिक तथा उत्कृष्ट से एक कोटी पूर्व का आयुष्य होता है।

वेद सहित ही होते हैं। पर अवेदी नहीं होते हैं। वे भी पुरुष वेदी और पुरुषनपुंसकवेदी होते हैं। संज्वलन कषाय के मालिक होते हैं। उनको प्रशस्त असंख्यात अध्यवसाय होते हैं।

इस प्रकार बढ़ते हुए प्रशस्त अध्यवसाय द्वारा वे अवधिज्ञानी अनंत नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य और देवभव में से स्वयं को मुक्त करते है और उन गतियों का आधारभूत अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी कषायों का क्षय करते है और बाद में संज्वलन कषायों को छेदता है।

तदनन्तर मोहकर्म को तथा पांचों प्रकार के ज्ञानावरणीय, नवप्रकार के दर्शनावरणीय, तथा पांच प्रकार के अंतराय, तथा मोहनीय को भी छेदते हैं और अपूर्वकरण में प्रवेश किये हुए भाग्यशाली को केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होती है।

यहां 'लिंग पडिवज्जइ' सूत्र के अर्थ में विद्वान मुनिराज श्री घासीलाल कृत भगवतीसूत्र के सातवे भाग में ३८२ पृष्ठ में लिंग शब्द का अर्थ स्वयं के संप्रदाय के अनुसार "सदोरक मुखवस्त्रिका बद्धमुखादि रुपं मुनिवेषः" किया है परंतु सहृदय और सद्विवेक बुद्धि से विचार करते हुए यह अर्थ बिल्कुल अयुक्त और जैनागय को कलंकित करनेवाला है।

कारण यह है कि लोकाशाह को हुए अभी ५०० वर्ष भी पूर्ण नहीं हुए। उसके सौ वर्ष में लवजी ऋषि ने मुहपत्ति मुंह पर बांधी है। यह

बात लगभग ३००-४०० वर्ष के बीच की है। अर्थात् डोरा डालकर मुह-पत्ति बांधने का रिवाज अभी का है। उसके पहले दुनियाभर के इतिहास में या चित्र में भी मुखवस्त्र बांधने का रिवाज नहीं है।

आपरेशन करते हुए डाक्टर, संडास साफ करते हुए हरिजन तथा दम के रोगी स्वयं की दुर्गन्ध छिपाने के लिए मुख के सामने पट्टी या कपड़ा बांधते है इत्यादि तर्कों का आश्रय लेकर मुँह पर हमेशा मुखवस्त्र बांधना सर्वथा अनुपयुक्त है।

शायद संप्रदाय को लेकर कोई प्रयोजन हो तो भी जैनसूत्र के अर्थ को विपरीत करने से कुछ लाभ नहीं होने का है।

गांधी युग के रंग में रंगे हुए स्थानकवासी कॉन्फरेन्स या दूसरे अधिनायकों को आगमों के अर्थ की विपरीतता खटके बिना नहीं रहेगी। इस चालू उद्देशक में अश्रुत्वा और श्रुत्वा अवधिज्ञानी के लिए दूसरी भी अनेक बाते है जो मूल सूत्र से जाननी।

॥ एकतीसवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक नववां उद्देशक—३२

वाणिज्य ग्राम के दूतिपलाश यक्षायतन के उद्यान में पार्श्वनाथ भगवान की परम्परा के गांगेय मुनि ने इस उद्देशक में प्रश्न पूछे हैं और देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी ने जवाब दिये है।

प्रश्न हे प्रभु ! नैरयिकों की उत्पत्ति सान्तर है या निरन्तर तथा असुरकुमार पृथ्वीकायिकादि पांच स्थावर विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, ज्योतिष्क और वैमानिकों की उत्पत्ति सांतर है या निरन्तर ?

सांतर अर्थात् बीच के समय का अंतर हो वह तथा निरंतर में अंतर नहीं होता है।

हे प्रभु ! दूसरी गति में से निकलकर नर्क गति में उत्पन्न होनेवाले जीव सांतर अर्थात् एक जीव को नर्क में उत्पन्न होने के बाद दूसरा जीव थोड़ी देर बाद में उत्पन्न हो वह सांतर है या निरंतर ? इसप्रकार दूसरे जीवों की उत्पत्ति के लिए यह प्रश्न है।

भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! सिर्फ सभी जीव में से पांच स्थावर जीवों की उत्पत्ति निरंतर ही होती है। जबकि दूसरे जीव सान्तर भी होते हैं और निरंतर भी होते हैं।

अनंतानंत स्थावर योनि मे उत्पन्न होनेवाले जीव संख्याबल मे सब जीवों से अनेक होते हैं। क्योंकि स्थावर योनि प्राप्त करने के लिए चारों गतियों के द्वार खुले ही हैं वह इस प्रकार है :—

[१] असंख्यात, संख्यात और अनंत उत्सर्पिणी तक स्थावर जीवों को

वहां ही जन्म तथा मरण अनिवार्य है। अतः स्थावर के जीव फिर से वहां ही उत्पन्न होते हैं।

[२] विषय-वासना, आरंभ-समारंभ और बैर-विरोध में जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्यों को भी प्रायः स्थावर योनि मे ही उत्पन्न होना पड़ता है।

[३] देवगति के जीव अत्यन्त आसक्तिपूर्वक विषयवासना मे लीन बनते हैं तब उनके भाग्य मे भी स्थावर योनी ही लिखी होती है।

[४] धर्म, कर्म, विवेक के बिना तिर्यंचों के लिए स्थावर मे जन्म लेना कठिन नहीं है।

इन कारणों को लेकर स्थावर में जन्म लेनेवाले अधिक होने से उनकी उत्पत्ति निरंतर कही है। जबकि दूसरे सभी जीव अर्थात् स्थावर मे जन्म नहीं लेनेवाला सांतर और निरंतर भी होते हैं। इसी प्रकार उद्वर्तना के लिए भी समझना। वर्तमान में जिस योनी मे जीव विद्यमान हो तथा आयुष्य पूर्ण होनेपर निकलना इसको उद्वर्तना कहते हैं। भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि स्थावर जीवों की उद्वर्तना निरंतर ही होती है जबकि दूसरे जीव सांतर और निरंतर होते हैं।

जीवों के प्रवेशनक :

पार्श्वनाथ भगवान के शिष्य गांगेय मुनि ने भगवान से पूछा कि हे प्रभु! जीवों के प्रवेशक कितने प्रकार के होते है?

वर्तमान में जो पर्याय ग्रहण किये हो वहां से निकलकर जीव जिस दूसरी गति में जाते है उसको प्रवेशनक कहते है। चराचर संसार और उसके अनंत पर्यायों को स्वयं के केवलज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष देखनेवाले यथार्थवादी भगवान ने कहा कि :–हे गांगेय! प्रवेशनक चार प्रकार के होते है।

(१) नैरयिक प्रवेशनक (२) तिर्यंच प्रवेशनक (३) मनुष्य प्रवेशनक (४) देव प्रवेशनक ।

नरकगति में जाने की जिसने योग्यता प्राप्त की है अर्थात् दूसरे भव में रहकर नर्कगति आयुष्य, नरक नामकर्म और नरक अनुपूर्वी कर्म जिसने बांधे हैं वे जीव नैरयिक प्रवेशनक कहलाते हैं ।

तिर्यंच आयुष्य नामकर्म और आनुपूर्वी कर्म के उदय से तिर्यंचगति में जानेवाले जीव तिर्यंच योनी प्रवेशनक कहलाते हैं । समूर्च्छिम या गर्भज मनुष्य का आयुष्य नामकर्म या आनुपूर्वीकर्म बांधकर जो मनुष्य अवतार प्राप्त करनेवाले है वे मनुष्य योनिक कहलाते हैं ।

चारों निकाय के देव में जानेवाले जीव देव प्रवेशनक हैं । गौतमस्वामी ने पूछा कि नारक प्रवेशनक कितने प्रकार के हैं ? भगवान ने कहा सात प्रकार के है वह निम्न हैं:—

(१) रत्नप्रभा नैरयिक प्रवेशनक ।
(२) शर्कराप्रभा नैरयिक प्रवेशनक ।
(३) वालुकाप्रभा नैरयिक प्रवेशनक ।
(४) पंकप्रभा नैरयिक प्रवेशनक ।
(५) धूमप्रभा नैरयिक प्रवेशनक ।
(६) तमः प्रभा नैरयिक प्रवेशनक ।
(७) तमस्तमा प्रभा नैरयिक प्रवेशनक ।

नर्कभूमि में जानेवाले जीव एक-दो-तीन-चार-पांच-छः-सात संख्येय या असंख्यात जीव भी होते हैं । नैरयिक प्रवेशनक द्वारा एक जीव यदि नर्क भूमि में जाय तो क्या वह रत्नप्रभा में ? शर्कराप्रभा में ? वालुकाप्रभा में ? पंकप्रभा में ? धूमप्रभा में ? तमः प्रभा ? तथा तमस्तमप्रभा में जाता हैं ?

भगवान ने कहा कि, पहली भूमि से सातवीं भूमि तक भी जा सकते हैं।

इस प्रकार एक जीव को लेकर नारक प्रवेशनक के सात भांगे बताये हैं। दोनों जीव पहली भूमि से सात भी भूमि में भी जाते हैं। इस प्रकार असंयोगी भांगे सात हुए। अब संयोगी भांगे २१ इस प्रकार जानने।

जैसे दो में से एक जीव रत्नप्रभा में जाय और दूसरा जीव शर्करा प्रभा से सात में तक जाय। ऐसे भांगे निम्नप्रकार से है—

१–२	२–३	३–४	४–५	५–६	६–७
१–३	२–४	३–५	४–६	५–७	
१–४	२–५	३–६	४–७		१ भांगा
१–५	२–६	३–७		२ भांगे	
१–६	२–७		३ भांगे		
१–७		४ भांगे			
	५ भांगे				
६ भांगे					

६+५+४+३+२+१ = २१ भांगे हुए।

सात भांगे असंयोगी को मिलाकर दो नारक प्रवेशन जीव के २८ भांगे हुए।

तीन नरक प्रवेशनक के असंयोगी भांगे पहले की तरह सात सात होते हैं जबकि द्विक संयोगी ४२ और त्रिक संयोगी ३५ भांगे होंगे।

७+४२+३५ = ८४

अब हम द्विक संयोगी के ४२ भांगो के क्रम जाने। तीन में से एक पहेली भूमि में दूसरा दूसरी में शेष दूसरी से सात तक ६ भांगे

दो नारक पहली में, एक नारक दो से सांतवी तक ६ भांगे
एक शर्करा प्रभा में और दो नरक तीन से सात तक ६ भांगे
दो नारक शर्कराप्रभा में और एक तीन से ,, ,, ५ ,,
एक नारक वालुकाप्रभा में और दो चार से ,, ,, ४ ,,
दो नारक वालुकाप्रभा में और एक चार से ,, ,, ४ ,,
एक नारक पंकप्रभा में और दो पांच से ,, ,, ३ ,,
दो नारक पंकप्रभा में एक पांच से ,, ,, ३ ,,
एक नारक धूमप्रभा मां और दो छः से ,, ,, २ ,,
दो नारक धूमप्रभा में और एक छः से ,, ,, २ ,,
एक छः में और दो सात से छः से ,, ,, १ ,,
दो छः में और सात और छः से ,, ,, १ ,,

इस प्रकार सभी ६-।-६-।-५-।-५-।-४-।-४-।-३-।-३-।-२-।-२-।-१-।-१ = ४२

त्रिक संयोग के ३५ भांगे निम्न है—

१—२—३ २—३—४ २—४—५ २—५—६ २—६—७
१—२—५ २—३—५ २—४—६ २—५—७
१-२-५ १-३-६ २-४-७
१-२-६ १-३-७
१—२—७
२—३—४ २—४—५ २-५-६ २-६-७
२—३—५ २—४—६ २-५-७
२—३—६ २—४—७
२—३—७
३—४—५ ३—५—६ ३—६—७
३—४—६ ३—५—७
३—४—७
४—५—६ ४—६—७ ५—६—७
४—५—७

सभी मिलाकर त्रिक संयोग के ३५ भांगे हुए।

७ भांगा असंयोगी
४२ भांगा द्विकसंयोगी
३५ भांगा त्रिकसंयोगी
८४ भांगे पूर्ण हुए।

इस प्रकार चार नैरयिक प्रवेशनक से सभी भांगे उपरोक्त प्रकार से जानने।

सभी भांगे निम्न है—

एक नैरयिकप्रवेशनक			भांगा	७
दो	,,	,,	,,	२८
तीन	,,	,,	,,	८४
चार	,,	,,	,,	२१०
पांच	,,	,,	,,	४६२
छः	,,	,,	,,	९२४
सात	,,	,,	,,	१७२६
आठ	,,	,,	,,	३००३
नव	,,	,,	,,	५००५
दस	,,	,,	,,	८२२८
संख्यात नैरयिक प्रवेशनक			,,	३३३७
असंख्यात नैरयिक प्रवेशनक			,,	३६५८
उत्कृष्ठ जीव के			,,	६४

सातों नरक के प्रवेशनक का अल्प बहुत्व निम्न हैं—

सातवी नर्क के प्रवेशनक सब से कम है क्योंकि सातवी में जाने वाले जीव दूसरी भूमि करते कम होते हैं। इस करते छट्ठी नर्क भूमि में जानेवाले असंख्यात गुणे है। क्योंकि इसमें जानेवाले जीव सातवी करते भी अधिक होते हैं। पांचवी नर्क में जानेवाले असंख्यात गुणे अधिक हैं :

चौथी, तीसरी, दूसरी और पहली में भी आगे आगे असंख्यात गुणा अधिक समझना।

तिर्यंचयोनि प्रवेशनक भी एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक पांच प्रकार के हैं। एक जीव यावत् पंचेन्द्रिय में भी जा सकता हैं। दो जीवों में से एक जीव एकेन्द्रिय में और दूसरा जीव बेइद्रिंय से पंचेद्रिंय तक जाता है।

इस प्रकार नर्क की तरह भांगा की कल्पना करनी पर नर्क भूमि प्रवेशनक सात है जबकि तिर्यंच योनी प्रवेशनक पांच ही है।

यहां इतना ध्यान रखने का है कि तिर्यंच प्रवेशनक एक जीव एकेन्द्रिय में जाता नहीं है क्योंकि प्रतिसमय अनंत जीव एकेन्द्रिय अवतार लेनेवाले होते हैं तो भी यहां एक जीव का प्रवेशनक कहा हैं उसका कारण बतलाते हुए कहा है कि देवादि विजातिय पर्याय में से निकलकर जो जीव वहाँ उत्पन्न होता है उस अपेक्षा से यह बात है क्योंकि अन्य विजातिय पर्याय में से अन्य विजातिय पर्याय में जाने को प्रवेशनक कहते हैं।

असंयोगी भेद पांच है जबकि द्विक संयोगी के १० भेद तथा त्रिक संयोगी के छः भेद हैं।

अल्प बहुत्व में पंचेद्रिंय तिर्यंचयोनिक प्रवेशनक जीव कम है। चतुरिंद्रिय जीव विशेष, तेइद्रिंय जीव अधिक, बेइद्रिंय जीव उससे अधिक और एकेद्रिंय जीव सबसे अधिक हैं।

मनुष्य प्रवेशनक समूर्च्छिम और गर्भजरुप में दो प्रकार के हैं। उसमें से गर्भज कम और समूर्च्छिम सबसे अधिक। देवप्रवेशनक के चार भेद है वे मूल तथा टीका से जानना।

वैमानिक सबसे कम, भवनपति असंख्यात गुणा अधिक, वाणव्यंतर

उससे असंख्यात गुणा अधिक और ज्योतिष्क देव सबसे अधिक है।

चारों गति में से मनुष्य सबसे कम।

नैरयिक असंख्यात गुणा अधिक।

देवयोनिक जीव उससे भी असंख्यात गुणा अधिक और तिर्यंचयोनिक जीव सबसे अधिक है।

गांगेय मुनि पूछते है कि-हे प्रभो ! जो सत् अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से जो विद्यमान है ऐसे नारक नरक में उत्पन्न होते हैं ? या द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अविद्यमान जीव नर्क में उत्पन्न होते है ?

भगवान ने कहा कि—हे गांगेय ! द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से विद्यमान नारक ही नर्क में उत्पन्न होते है अविद्यमान नहीं होते है।

पर्याय उत्पन्न होते रहते है, द्रव्य उत्पन्न नहीं होता है जिससे जो पदार्थ स्वयं के मूलरूप में अविद्यमान हो वह वन्ध्या स्त्री के पुत्र की तरह कैसे उत्पन्न होगा ? अतः अविद्यमान तत्त्व का उत्पाद नहीं हैं। सारांश यह है कि इसमें जीव द्रव्य की अपेक्षा से और नारक पर्याय की अपेक्षा से सत्ता कही हैं।

कोई जीव मरकर नारक पर्याय से नर्क में उत्पन्न होनेवाला हो तब ऐसे जीव को भावी नारक पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य नारक कहने में आता है। वही द्रव्य नारक हुए जीव ही नारक पर्याय में उत्पन्न होते है अर्थात् नर्कगति नामकर्म, नरकानुपूर्वी और नरकायुष्य का उदय एक साथ ही होता है अतः उस समय नरकायुष्य का उदय होने से भावनारक बना हुआ जीव नर्क में नरकपर्याय के रूप मे उत्पन्न होता हैं।

इसी पद्धति से असुरकुमारो से लेकर वैमानिक देव तक जान लेना अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से विद्यमान असुरकुमारादि जीव ही असुरकुमारादि पर्याय मे उत्पन्न होते हैं। अविद्यमान असुरकुमारादि जीव

असुरकुमारादि पर्याय मे उत्पन्न होते नहीं हैं अथवा आयुष्य के उदय से भाव निक्षेप असुरकुमारादि रुप मे बना हुआ जीव ही वहां उत्पन्न होता है। उद्वर्तना का भी जानना आवश्यक हैं। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से विद्यमान नारक ही उद्वर्तना करते है। गधे के सींग की तरह द्रव्यार्थिक नय से अविद्यमान नारक स्वयं के मूल रुप में अविद्यमान वस्तु में उद्वर्तना करते नहीं हैं। इस प्रकार असुरकुमार देव, एकेंद्रिय, विकलेंद्रिय, व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिक देव के लिए भी जानना परन्तु ज्योतिष और वैमानिक देव के लिए उद्वर्तना के स्थान पर च्यवन शब्द को प्रयोग करना। जैसे द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से विद्यमान ज्योतिष तथा वैमानिक च्यवते हैं तथा अविद्यमान ज्योतिष च्यवते नहीं हैं।

गांगेय मुनिजी मूल सूत्र में "सआ" शब्द को आर्ष मानकर विभक्ति परिणाम से "सत्सु" ऐसा अर्थ करके यह प्रश्न करते हैं कि नर्क गति में नारकों का रहने पर भी दूसरे नारक उत्पन्न होते है या नारकों से नर्कगति अविद्यमान होनेपर नारक उत्पन्न होते है? असुरकुमारादि के लिए भी यह जानना। उद्वर्तना के लिए नर्क में नारक के होनेपर भी नारक को उद्वर्तना होती है या अविद्यमानता में?

भगवान ने कहा कि-हे गांगेय! नर्क गति में नारको की विद्यमानता होती है तभी ही दूसरे नारक उत्पन्न होते है और उद्वर्तना करते हैं। नारको की अविद्यमानता में दूसरा कोई भी नारक जीव उत्पन्न नहीं होता हैं और उद्वर्तना भी नहीं करते है। इस प्रकार असुरकुमार से वैमानिक तक जानना। सारांश यह है कि कौनसी भी गति तथा कौनसी भी योनी बिना जीव की नहीं रहती है।

हे प्रभु! आप श्री ऐसा क्यों फरमाते है कि नर्कगति में नारको की विद्यमानता हो तभी दूसरा नारक जन्म लेता है और उद्वर्तित होता है।

भगवान ने कहा कि-हे आयुष्यमान् ! गांगेय गधे के सींग के समान, आकाश के फूल के समान, बांझ के पुत्र के समान तथा मृगजल के पानी के समान यह लोक नहीं है क्योकि तैंतीस करोड़ देवता परिश्रम करके थक जाय तो भी असद्भूत पदार्थ को सत् कर नहीं सकते हैं। गधे के सींग का सर्वथा अभाव है इससे जो सर्वथा असत् है वह तीन काल में भी असत् ही रहेगा। परन्तु यह लोक ऐसा नहीं है पर तीनो काल में सत् तथा शाश्वत् है। यह बात में जैसी कह रहा हूँ वैसी ही पुरुषादानीय तेईसवें भगवान श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर भी कह चुके है अतः नर्क गति किसी काल में भी जीव बिना की नहीं थी, नहीं है, और नहीं रहेगी।

एकेंद्रिय जीव बिना की एकेंद्रिय योनी किसी भी काल में खाली हुई नहीं थी, वर्तमान में नहीं तथा भूतकाल में होगी नहीं। वैसे ही अनंतानंत जीव किसी काल में भी असंख्यात या संख्यात होनेवाले नहीं हैं अर्थात् तीनों काल में अनंतानंत ही रहनेवाले है क्योकि लोक हमेशा शाश्वत और सत् हैं।

इस प्रकार महावीर प्रभु ने पार्श्वनाथ तीर्थंकर के सिद्धांतो से ही गांगेय की शंका का समाधान किया है। क्योंकि तीर्थंकरों की देशना सर्वथा एक ही होती हैं। कहा है कि :—

रागाद् द्वेषात् तथा मोहात् भवेद्वितथवादिता।

तदभावे कथं नामाऽर्हतां वितथवादिता ॥

ये तु रागादि भि र्दोषैः कलुषीकृत चेतसः।

न तेषां सुनृताबाचः प्रसरस्ति कदाचन ॥

तीर्थंकर रागद्वेष तथा मोहरहित होने से उसकी एक वाक्यता अखंड रहती हैं

संख्यातीत वर्षों के पहले के तीर्थंकर ने जो आर्थिक देशना दी है वही बात शब्दांतर में भी दूसरे तीर्थंकर कहते हैं।

इसीलिए यथार्थवादिता अरिहंत के सिवाय और कहीं नहीं हैं।

हे भगवान! आपने जिस पदार्थों की प्ररुपणा की है उन पदार्थों को आप स्वयं जानते है? आगम की सहायता बिना जानते है? कि आगम की सहायता से जानते है?

भगवान ने कहा कि हे गांगेय! केवलज्ञान से युक्त होने से मैं सर्वज्ञ हूँ। अतः उपर्युक्त नारकादि जीव उनकी गति-आगति स्वभाव आदि को स्वयं जानता हूँ। मुझे आगमादि की सहायता की जरूरत नही हैं। अन्य पुरुषों के वचन सुने बिना भी तीर्थंकर पूर्व दिशा, पश्चिम दिशा, उत्तर या दक्षिण दिशा के सभी पदार्थों को जानते है।

हे प्रभु! नरकादि गति में जो जीव उत्पन्न होते हैं वे स्वयं ही उत्पन्न होते है या ईश्वर आदि की सहायता से उत्पन्न होते है? क्योंकि दूसरे सिद्धांतवादियों का यह कहना है कि "जीव अज्ञ है अतः स्वयं के सुख दुख को भोगने के लिए समर्थ नहीं है जिससे उन जीव को सुख दुःख का अनुभव ईश्वर कराता है और ईश्वर की इच्छा के अनुसार जीव नर्क और स्वर्ग में जाते हैं।"

हे प्रभु! ऊपर की दूसरे वादियों की ये दलीले क्या सच्ची हैं? अथवा सच्ची न हो तो आपका क्या मत हैं? आप भी जीव की गति आगति के लिए कौन सा कारण देते है?

प्रश्नों का जवाब देते हुए भगवान ने कहा कि "सयं नेरइआ नेरइएसु उववज्जंति" अर्थात् हे गांगेय! नर्क में जानेवाले जीव स्वयं नर्क में जाते है पर ईश्वर की प्रेरणा से नहीं जाते हैं क्योंकि काल आदि के कारणसमूह से व्यतिरिक्त किसी दूसरी युक्ति से ईश्वर की सिद्धि नही होती हैं। अतः निम्न कारण से जीव नर्क में जाते है :—

(१) कम्मोदएणं—नर्कगति नामकर्म, नरकानुपूर्वी नामकर्म, और नरकायुष्य कर्मों का एक साथ ही उदयकाल हो तब जीव नर्कगति में जाता है।

(२) कम्मगुरुयत्ताए:—कर्मों का उदय तो केवली को भी होता है अतः कर्मों से जो बोझिल हो वह नर्क में जाता है।

(३) कम्मगुरुसंभारियत्ताए:—कर्मों के भार की जिसको पराकाष्ठा हो वह नर्क में जाता है। रुई आदि वस्तुएं प्रमाण में अधिक होनेपर भी उसका वजन कम हो सकता है अतः उसकी निवृत्ति के लिए कर्मों के भार की पराकाष्ठा अनिवार्य हैं।

कर्म तो शुभ भी हो सकते है अतः उनकी निवृत्ति के लिए अशुभ कर्मों का विपाक का उदय बतलाया है अर्थात् वद्धकर्म के रस की तीव्रता हो तब नर्क में जाता है :

सारांश यह है कि अशुभ कर्म के विपाक का उदय हो वह भी तीव्ररुप में तब जीवआत्मा स्वयं नर्क में उत्पन्न होता है क्योंकि कर्मों के फल को भुगतने में ईश्वर की सत्ता किसी काल में भी सिद्ध नहीं है। अतः हे गांगेय ! नारक स्वयं नर्क में उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार असुरकुमारों का भी जानना पर उनको शुभ कर्म का उदय होता है।

पृथ्वीकाय में भी एकेंद्रिय पृथ्वीकायादिक रुप में नारक की तरह स्वयं उत्पन्न होता हैं।

इस प्रकार चरम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की वाणी को सुनकर गांगेय मुनि बहुत खुश हुए और सप्रतिक्रमण पांच महाव्रतो को उच्चरे और सिद्ध बुद्ध हुए।

॥ ३२ वां उद्देशक समाप्त ॥

शतक नववां उद्देशक—३३

इस उद्देशक में ऋषभदत्त ब्राह्मण तथा देवानंदा ब्राह्मणी और जमाली का विस्तार से वर्णन किया है।

ब्राह्मणकुंड नगर में समवसरण की रचना हुई और भगवान महावीर स्वामी ने धर्मोपदेश दिया

इस उद्देशक में तीनों के जीवन को संक्षेप में करके मूल सूत्र के अनुवाद के रूप मे ही कहा है वह निम्न है :—

ऋषभदत्त तथा देवानंदा के समय ब्राह्मणकुंड नगर ऋद्धि समृद्धि से संपूर्ण, बाजार तथा भवन से सुशोभित और त्रिक, चतुष्क तथा विशाल मार्ग से शोभित नगर था। उसके बाहर बहुशालक यक्षायतन था। उसमें ऋद्धिसंपन्न, बुद्धिप्रभावी, तेजस्वी, प्रसिद्ध ऋषभदत्त नाम का ब्राह्मण रहता था। वह चारों वेदों का अपूर्व ज्ञाता तथा ब्राह्मणों के विधि विधान में पारंगत था। पंचमहाव्रतधारी श्रमणों का उपासक, जीव अजीव आदि तत्वों का पूर्ण ज्ञाता, पुण्य और पाप को पहचाननेवाला होने से अपनी आत्मा में संयमित था। उसकी देवानंदा नाम की ब्राह्मणकुल संपन्न धर्मपत्नी थी। उसके हाथ पैर के तलिये स्वाभाविक ही सुकुमाल थे। उसका दर्शन सभी को प्रिय था। वह अत्यंत ही सुंदर, श्रमण तथा श्रमणीओं की उपासिका तथा जीवादि तत्वों को जाननेवाली थी। एक समय जीवमात्र के तारणहार भगवान महावीर स्वामी उस समय यक्षायतन में समोवसरण मे विराजित हुए तथा बारह पर्षदा भगवान के चरणों में बैठी है।

भगवान के आवागमन को सुनकर ऋषभदत्त ब्राह्मण बहुत ही खुश हुआ। आनंदविभोर से उसका रोम-रोम विकसित हो गया तथा जहां उसकी धर्मपत्नी देवानंदा थी वहां आकर इस प्रकार कहा :—

हे देवानुप्रिये! ग्रामानुग्राम विहार करते हुए चराचर संसार को धर्मोपदेश देते हुए भगवान महावीर स्वामी बहुसालक चैत्य में पधारे हैं। जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित है।

अतः इसप्रकार के अरिहंत का नाम तथा गोत्र जो सुनने में आवे तो महान फल मिलता है। अत्यन्त श्रद्धापूर्वक अरिहंत के सामने जाना, पंचांग प्रणिपातपूर्वक वंदन करना तथा अपनी शंकाओं के निवारण के लिए प्रश्न पूछने, उनकी सेवा (वैयावच्च) में रहना, वह अति महान फल देनेवाला होता है। एक जैन वचन के श्रवण से अच्छा फल मिलता है तो विपुल अर्थ का ग्रहण करना, महाफल अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति करावे, उसमे क्या आश्चर्य ? अतः हे देवानुप्रिये! अपन वहां चले और भगवान को वंदन, नमन तथा पर्युपासना करे। क्योंकि अरिहंत की वैयावच्च दोनों भव के लिए सुखरुप, हितरुप और शुभकर्म के अनुबंध के लिए होती है। इस प्रकार स्वयं के पति के मुख से यह बात सुनकर देवानंदा ब्राह्मणी बहुत ही खुश हुई। उसके रोम रोम विकसित हुए और मस्तक झुकाकर, हाथ जोड़कर स्वयं के पति की बात को स्वीकार किया।

ऋषभदत्त ब्राह्मण स्वयं के कुटुम्बीजन को बुलाकर भी यही कहता है कि हे देवानुप्रियों! तुम शीघ्र से शीघ्र चलनेवाला प्रशस्त, एक रंग के समान खरी पुच्छवाले, समान सिंगवाले, आभूषणों से युक्त, चलने में उत्तम चांदी की घन्टियो से सुशोभित और सोने की नथ से बधे हुए बैल से युक्त रथ को तैयार करो जो सभी प्रकार से सुन्दर, उत्तम और धर्म स्थान के योग्य हो।

यह सुनकर ऋषभदत्त के सेवको ने खुश होकर रथ को तैयारकिया

फिर ऋषभदत्त ने स्नान कर, अल्प परंतु महामूल्यवान आभूषणों को धारण किया तथा घर से बाहर आकर रथशाला के प्रांगण में आया और रथ पर आरूढ़ हुआ। इधर देवानंदा ब्राह्मणी ने भी स्नान किया, मंगल प्रायश्चित किया, झांझर, मणी का कंदोरा, हार, हाथ में कड़े, अंगुलिये धारण की पुष्पों को बालों में लगाया, मस्तक पर चंदन लगाया तथा धूप से शरीर को सुगंधित किया। इस प्रकार लक्ष्मी के समान वह ब्राह्मणी स्वयं की सभी दासियों के साथ घर से बाहर आकर रथ पर आरूढ़ हुई।

इस प्रकार वे ब्राह्मण दंपति ब्राह्मण कुंड से नीकलकर यक्षायतन तरफ आते है तथा रथ से नीचे उतरते है और :—

सचित्त वस्तुओं का त्याग करते हैं

विनय से शरीर को झूकाते हैं।

भगवंत को देखकर ही अंजली करते हैं।

मन की एकाग्रता साधते हैं।

अचित्त वस्तुओं का त्याग नहीं करते है।

इन पांचो अभिगम पूर्वक दंपत्ति समवसरण में आते है, तीन प्रदक्षिणा करते है, वंदन, नमन करते है तथा भगवान के सामने खड़े रहते है। देवानंदा भी भगवान को वंदन नमन करके खड़ी है इतने में तो उसके हृदय में भी स्नेह का सागर उमड़ पड़ता है क्योंकि स्नेह को तो धर्म या नीति सूत्रों का बंधन नहीं होता है अतः आनंद के अतिरेक के कारण उसके रोम-२ विकसित हो गये, शरीर फूलने लगा कंचुकी का बंधन टूटने लगा और आयुष्य की अवस्था परिपाक होनेपर भी स्तनों से दूध की धारा छूट पड़ी।

इस सारे दृश्य को देखकर इन्द्रभूति गणधर तथा पर्षदा को आश्चर्य

हुआ तब भगवान को वंदन तथा नमन करके गौतम ने भगवान से पूछा कि हे प्रभो ! यह क्या लीला है !

भगवान ने कहा कि हे गौतम ! देवानंदा मेरी माता है मैं उसका पुत्र हूँ। अतः मुझे देखकर उसका हर्ष समा नहीं रहा है। फिर बड़ी पर्षदा में भगवान ने धर्म कहा। सभा खुश हुई तथा अपने-२ घर गई।

खुश हुए ऋषभदत्त में भगवान को तीन प्रदक्षिणा दी तथा स्कंद तापस की तरह अलंकार का त्याग किया और भगवान को कहा कि—

"हे प्रभु ! संसार असार ही है जहां क्रोध, कषाय की आग तथा विषय वासना की ज्वालांए चारों तरफ से प्राणियों को जला रही है।" अतः हे प्रभो ! मैं संयम लेने को चाहता हूँ यह सुनकर भगवान ने दीक्षा दी

उसके बाद देवानंदा ब्राह्मणी भी आर्या चन्दनबाला के पास दीक्षा ली, मुंडित हुई तथा ग्यारह अंगो का अभ्यासकर अनेक प्रकार से तपश्चर्या करके सर्व कर्मा का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया तथा मोक्षपद की अधिकारिणी बनी।

जमाली का चरित्र :

उसीं समय ब्राह्मण कुंड नगर के पश्चिम दिशा में क्षत्रियकुंड नामका नगर था ! उसनें जमाली नाम का राजकुंवर रहता था। वह धनधान्य से परिपूर्ण, तेजश्वी, विपुल विस्तृत भवनवाला, सुन्दर शयन और वाहनो का स्वामी था। स्वयं के महल में बत्तीस प्रकार का नाटक देखता तथा उसमे भाग लेकर बहुत ही प्रसन्न होता था। प्रत्येक ऋतु के योग्य साधनों का भोक्ता तथा पांचो इंद्रियों के २३ विषयों में पूर्ण मस्त रहता था।

एक दिन श्रृंगारक (शिंगोड़ा के आकार जैसा रस्ता) त्रिक (तीन रास्ते का जहां मिलन हो) चत्वर (चोक) चतुष्क (चार रस्ते मिलते हो) वहां इकट्ठा हुआ

जनसमूह—(जनब्यूह)

जनबोल—(लोगों की अव्यक्त ध्वनि)

जन कलकल—(वचन विभाग मालूम पड़े वैसे शब्द)

जनोर्मि—(एक दूसरे के साथ टकरा जाय वैसी भीड़)

इत्कलिका—(मनुष्यों का छोटा समूह)

जनसन्निपात—(अलग-२ स्थान से आकर लोग इकठ्ठे हो)

प्रज्ञापना—(सामान्य कथन)

प्ररुपणा—(विशेष कथन)

उपरोक्त मानव समूह निम्न प्रकार की बाते करता था कि—"हे देवानुप्रियो ! जरा ध्यान देकर सुनो अभी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, भगवान महावीरस्वामी ब्राह्मण कुंडनगर के बहुशालक उद्यान में रचित समवशरण में बिराजमान है।"

अतः ऐसे अरिहंत का नाम श्रवण भी पुण्य के लिए ही होता है तो वंदन, नमन और पर्युपासना के लिए तो क्या कहना ?

उन अरिहंत का एक भी शब्द सुनने से मनुष्य का कल्याण होता है तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररुप अर्थ के विपुल श्रवण सर्वथा अनिर्वचनीय है जिससे चलो हम सभी भगवान की वंदन, नमन और उनकी पर्युपासना करने चले। सभी भाग्यशाली समवसरण की तरफ चलते बने।

इस प्रकार स्वंय के महल के पास से जनसमूह को जाता देखकर जमाली राजकुंवर को आध्यात्मिक, चिंतित, प्राथित, कल्पित और मनोगत विचार आया।

आध्यात्मिक—जमीन में पड़े हुए अंकुर की तरह जो विचार केवल आत्मा में ही हो वह।

चिंतित—अंकुरे को जैसे पांदड़े आये वैसे आत्मा में आये हुए विचार पुनः-२ परावर्तित हो।

प्रार्थित—पल्लवित लता की तरह मैं यह करके ही रहूँगा वह......

इस प्रकार के विचार जो अभी मनोगत ही है। परंतु अब स्वयं को भी इष्ट रुप में लगते ही जमाली राजकुंवर को यह विचार आया कि :—

"आज क्षत्रिय कुण्ड नगर में क्या इंद्रोत्सव है? या कार्तिकेय वासुदेव नागदेव, यक्ष, भूत, कूप, तालाब नदी या हृद आदि का महोत्सव है?"

इस कारण से उग्रजातीय, भोगजातीय, इक्ष्वाकुवंशीय, नागवंशीय कुरुवंशीय, क्षत्रिय, भट, भटपुत्रों, ब्राह्मण, मल्लकी, लच्छवी जाती के लोग युवराज, तलवार, भांड, सेठ, सेनापति आदि सभी एक ही दिशा में क्यों जा रहे हैं।"

तब जमाली ने स्वयं के अंतःपुर के सेवक से पूछा कि, शृंगार किये हुए ये विशिष्ट लोग इकट्ठे होकर एक तरफ क्यों जा रहे हैं? जवाब में सेवक ने कहा कि हे राजकुंवर! देवाधिदेव, पतितपावन, भगवान महावीर स्वामी ब्राह्मणकुण्ड नगर के उद्यान में बिराजमान है, उनको—

वंदणवत्तियं–मन, वचन और काया की एकाग्रतापूर्वक भगवान को वंदन करने के लिये।

पुअणवत्तिय–द्रव्य से पंचाग प्रणिपातपूर्वक और भाव से कषाय के निरसनपूर्वक पूजने के लिये।

सक्कारवत्तिय–आत्मकल्याण के लिए तीर्थंकर देव का सत्कार करने के लिये।

सम्मानवत्तीय–देवाधिदेव के सम्मान के लिए।

बोहिलाभवत्तीय–केवली भगवान का वचन श्रवण करने से हमें सम्यक्त्व का लाभ हो उसके लिए।

तब कितने कुतुहलपूर्वक दर्शन के लिए, अश्रुत आगम का रहस्य जानने के लिए, निशंकित होने के लिए, अर्थ का निश्चय करने के लिए और कुछ श्रद्धापुर्वक देशविरति धर्म, सर्वविरति धर्म स्वीकारने के लिए जा रहे हैं।

सेवक के मुख से यह बातें सुनकर जमाली भी खुश होकर बहुत शीघ्रता से चलनेवाले चार घंटवाले अश्व रथ को तैयार करने का आदेश दिया तथा स्वयं स्नान करके निम्नप्रकार से—

गणनायक–बड़े समूह के मुख्य लोग ।

दंडनायक–राजतंत्र के परिपालक ।

राजा–स्वंय के मंडलिक राजा ।

ईश्वर—युवराज पदविभूषित ।

तलवर–राजा के सम्माननीय लोग !

मांडलिक—पांच सौ गांव के अधिपति ।

कौटुंबिक—अनेक कुटुंब के परिपोषक ।

इभ्य—हाथी के प्रमाण के द्रव्यराशि के स्वामी ।

शेठ—सुवर्ण पटबंध से शोभित मस्तकवाला ।

सेनापति—सेना के नायक ।

सार्थवाह–परदेश जानेवाले ।

दूत—राजा के आदेश को निवेदन करनेवाला ।

संधिपाल—राज्य की सीमाओं का रक्षण करनेवाला ।

अवलगक–सेवा कर्म करनेवाला ।

मंत्री–राज्यकर्म में राजा को सलाह देनेवाले ।

सचिव–राज्य संचालन में राजा को मदद करनेवाले ।

महामंत्री–मंत्रीमण्डळ का अग्रसर ।

गणक—ज्योतिष महाराज
दौवारिक—द्वारपाल।
अमात्य—राज्य के अधिष्ठायक।
शेठ—चरण सेवक।

उपरोक्त सभी तंत्रीओं के साथ जमाली रथपर आरूढ़ होकर भगवान महावीर स्वामी को वंदन करने के लिए चला। वहां जाकर तीन प्रदक्षिणा देकर भगवान के सामने बैठा।

मधुर ध्वनि में धर्मोपदेश देते हुए भगवान ने कहा कि, "हे भाग्यशालियों! जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष शाश्वत है।"

इस प्रकार तत्त्वों की विशद व्याख्या के रुप में देशना सुनकर अधिक प्रसन्न हुई पर्षदा विसर्जित हुई और अपने-२ स्थान पर गई।

प्रसन्न हुए जमाली राजकुमार ने भगवान को तीन प्रदक्षिणापूर्वक कहा कि, हे प्रभु! आपके प्रवचन के प्रति मुझे श्रद्धा उत्पन्न हुई है। प्रवचन की सत्यता सर्वथा अकाट्य है। हे नाथ! मेरी इच्छा आपके पास प्रव्रज्या धर्म स्वीकार करने की है। अतः मुझे दीक्षा प्रदानकर अनुग्रहित करे।

भगवान ने कहा कि, "हे देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा रुचे वैसा करो। ऐसे पवित्र मार्ग मे विलंब नहीं करना चाहिये।"

फिर जमाली समवसरण से बाहर आकर रथ मे बैठकर घर आया तथा माता-पिता के पास जाकर कहता है कि—"हे अंब! आज मैंने भगवान महावीर स्वामी के धर्म का श्रवण किया। जो मुझे बहुत ही पसंद आया जिससे वह धर्म मुझे इष्ट होने से रुचिकर लगा है तथा मैं दीक्षा अंगीकार कर जीवन मे उतारना चाहता हूँ।

माता-पिता ने कहा कि—हे बेटा! तुझे धन्य है तथा तूने बहुत ही अच्छा कार्य किया है। महान से महान पुण्य उपार्जन किया है।

जमाली ने कहा कि, जन्म, जरा और मृत्यु आदि से पूर्ण इस संसार से भयभीत हुआ मैं आकुल-व्याकुल हो गया हूँ। संसारी आत्मा को ये तीनों भय बहुत सता रहे हैं। अतः आज्ञा देवे ऐसी मेरी विनंती है।

स्वंय के पुत्र जमाली की अनिष्ठ, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ और फिर से नापसंद आये ऐसे वचन सुनकर उसकी माता पसीना तरबतर हो गई अंग कंपायमान तथा निस्तेज हो गया मुख पर दींनता आ गई तथा जमीन पर गिर पड़ी। शीतलोपचार से होश में आने के बाद कहा कि हे बेटा! तू हमारा एक ही पुत्र है और हमारा आधार हो। तेरा वियोग हमारे लिए असह्य होने से हमारी मृत्यु के बाद में ही दीक्षा लेना।

जमाली ने कहा की हे माताजी! यह मनुष्य भव, शरीर और मन के अनेक कष्टों से भरपुर है। जरा और मरण के दुःख तो हृदय को कंपकंपानेवाले है। मनुष्य शरीर अध्रुव अनियत और क्षणभंगुर है। पानी के परपोटे की तरह और सन्ध्या के रंग जैसा अचिरस्थायी है अतः कौन जाने कि आपका पहले मरण हो? या मेरा? इससे आपकी हाजरी में ही में दीक्षा लेना चाहता हूँ।

माताजी ने कहा कि-हे बेटा तेरा शरीर भोग समर्थ है अतः संसार भोग से विरक्त बनने के बाद दीक्षा लेना।

जमाली ने कहा कि हे माता पिता! शरीर के आधारपर मनुष्य भव सम्बन्धी के जो भोग भोगने में आते है वह शरीर अपवित्र और नाशवंत है। जिसमें बमन, पित्त, कफ, वीर्य और रक्त का क्षरण प्रतिक्षण होता रहता है। अतः काम भोग बमन पित्त, कफ, वीर्य और रक्त का क्षरण करानेवाला है। इसमे विष्ठा, मूत्र और नाक आदि मैल भरा होने से शरीर दुर्गन्धमय है। ऐसे शरीर के द्वारा कामभोग का आनंद लेना अज्ञान मनुष्य ही पसंद करते हैं। घर मे रहे हुए हीरा-मोती, सोना-चांदी, आदि पदार्थ चोरों को भी पसंद होते हैं। इसी कारण से मैं दीक्षा लेने की इच्छा कर रहा हूँ।

अश्रुपूर्ण हृदय से माता-पिता ने जमाली को दीक्षा की अनुमति दी।

फिर जमाली के पिता ने स्वयं के आज्ञाकारी सेवकों को बुलाकर कहा कि—तुम शीघ्रता से क्षत्रियकुण्ड नगर को बाहर तथा अंदर से स्वच्छ करो तथा ध्वजाएँ बंधाओ। प्रव्रज्या अभिषेक की सामग्री भी इकट्ठी करो। इस सूचनाओ का पालन सेवको ने किया। स्नान से निवृत होकर जमाली ने सभी प्रकार के शृंगारधारण किये, मूल्यवान वस्त्रपहने तथा रजोहरण ओर पात्र मंगाने के लिए अपने पिता को कहा। नाई ने जमाली का मुंडन किया और बालो को जमाली की माता को दिये फिर उत्तर दिशा में बैठाकर जमाली को स्नान कराया और बड़ी ही शालीनता से जमाली का दीक्षा का वरघोड़ा ब्राह्मणकुण्ड नगर तरफ रवाना हुआ।

जमाली को आगे करके उसके माता-पिता भगवान महावीर के पास आये और वंदन आदि करके इस प्रकार कहा कि हे भगवंत! यह जमाली हमारा एकमात्र पुत्र है जो हमें बहुत ही प्यारा है तो भी संसार से भय पा कर आपके पास दीक्षा लेने तैयार हुआ हैं।

भगवान ने कहा कि 'हे देवानुप्रिय तुमको जैसा अच्छा लगे वैसा करो पर ऐसे शुभकार्य में विलंब नहीं करना चाहिए। भगवान के शब्द सुनकर जमाली बहुत ही हर्षित हुआ। तीन प्रदक्षिणा देकर वंदन और नमन किया। ईशान कोन में जाकर स्वयं के हाथ से वस्त्रालंकार उतारे और माता ने लेकर कहा कि हे बेटा! संयम के योगरुप अर्थ में प्रयत्नशील रहना अप्राप्त संयमयोग की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना। सावधानी पूर्वक संयम की आराधना करना तथा एक क्षय भी प्रमाद न करना। तत्पश्चात् जमालीमुनि को तथा भगवान को वंदन करके घर गये। फिर जमालीमुनि ने भी ग्यारह अंगो का अध्ययन किया

(उपरोक्त जमालीं का चरित्र भगवतीसूत्र के मूल पृष्ठ से संक्षेप में लिखा हैं।)

जीवात्मा का उत्थान अत्यन्त पुरूषार्थगम्य होने से दुर्लभ है जबकि पतन मार्ग अत्यन्त सरल है। हम जान गये है कि बहुत ही वैराग्यपूर्वक दीक्षित हुए जमाली मुनि ने ज्ञान, ध्यान, चतुर्थभक्त, छट्ठ, अट्ठम, अधमासक्षमण और मासक्षमण जैसी अनेक छोटी बड़ी तपस्या करके स्वयं की आत्मा तथा मन का दमन करके संयम में बहुत मस्त बन गये थे परन्तु जमाली मुनि का यह दमन सार्थक नहीं हुआ क्योंकि—

भवपरंपरा में उपार्जन की हुई कर्म की ग्रंथिये बहुत ही विचित्र तथा दुर्भेद्य होती है। यद्यपि सम्यकृत्व की प्राप्ति के समय सातो कर्म प्रकृतिओं का क्षयोपशम जरूर होता है तो भी उपशम अर्थात् उपशम।

दबे हुए मनुष्य का दाव किसी समय स्वयं के पक्ष में आते ही स्वयं के विपक्षी को मारे बिना नहीं रहता है। उसी प्रकार उपशम कर्म भी सर्वथा विश्वास के पात्र नहीं होते हैं।

जमाली मुनि भी उत्कृष्ट ज्ञानी, तपस्वी और ममत्वरहित जरूर बने हैं परन्तु सम्यग्ज्ञान की पकड़ जैसी दृढ़ होनी चाहिए वैसी न होने के कारण मिथ्यात्व कर्म के उदय के समय वे स्थिर नहीं रह सके। दीक्षा लेने के पहले और दीक्षित होने के बाद अनेक वर्ष तक जमाली मुनि की ऐसी श्रद्धा बहुत ही मजबूत थीः—

(१) मोहनीय कर्म को बिलकुल नष्ट किये बिना केवलज्ञान नहीं होता है। अर्थात् मोहनीय कर्म के नष्ट होनेपर ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

(२) केवलज्ञान होने के बाद ही तीर्थंकर कहलाते हैं।

(३) महावीरस्वामी ही सच्चे अर्थ में तीर्थंकर हैं।

(४) महावीरस्वामी को छोड़कर दूसरे कोई तीर्थंकर नहीं हैं

(५) तीर्थंकर के बचन किसी काल में मिथ्या नहीं होते हैं।

(६) छद्मस्थ न समझ सके तो उसमें तीर्थंकर की भूल नहीं हैं।

(७) मैं स्वयं छद्मस्थ हूँ तीर्थंकर नहीं।

इस प्रकार रोम रोम में श्रद्धा रखनेवाला जमाली मुनि का भी दबा हुआ मिथ्यात्व कर्म जब जोरदार उदय में आया तब श्रद्धा से बिलकुल डगमगा गया और महावीरस्वामी के तत्वों को भी झूठ मानने लगा।

जमाली मुनि के संयम और तपस्या में ज्ञानबल का मिश्रण जैसा चाहिए वैसा नहीं होने के कारण ही उपशम कीया हुआ मिथ्यात्व अत्यन्त शक्तिवान बनकर जब उदय में आया तब उसको फिर से उपशम करने की शक्ति समाप्त होने के कारण छिद्रान्वेषी चोर की तरह दर्शनमोहनीय का तीव्र विपाकोदय स्वयं का जोर बता सका और उत्थान पाये हुए जमाली मुनि की आत्मा आंख के पलकारे के समय में ही पतन के गहरे गर्त में जा पड़ी।

दुर्भेद्य कर्म की जबरदस्त ताकत होने के कारण मुहपत्ति की प्रतिलेखना के समय 'सम्यकत्व मोहनीय परिहरु' यह बोल जरुर बोला जाता है।

प्रश्न यह है कि सम्यकत्व को किसलिए परिहरुं कहा ? जवाब में यह हो सकता है कि आत्मा के लिए किराये स्वरुप क्षायोपशमिक सम्यकत्व जब जमाली की तरह उदय में आवे और साधक के पास उपशय की शक्ति न हो तो आत्मा के लिए खतरा हो सकता है।" अतः प्रत्येक साधक सावधानी रखे और स्वयं के मूल खजाने जैसा क्षायिक सम्यकत्व प्राप्त करने के भाव रखे तो वह आत्मा खतरे में से बच सकेगी।

अब हम आगे बढ़े और जमाली का विचार करे। पुरुषार्थ योग जैसे पूर्ण शक्त हैं, वैसे ही भवितव्यता नाम का योग भी स्वयं की मर्यादा में पूर्ण शक्तिवान है। इसी कारण एक दिन जमाली मुनि ने भगवान महावीर स्वामी को वंदन और नमन करके यह कहा कि हे प्रभु ! मैं मेरे पांच सौ शिष्यों के साथ अलग विहार करना चाहता हूँ अतः मुझे अनुमति दीजिए

दया के सागर भगवंत ने जमाली मुनि की बात का निषेध भी नहीं किया और अनुमति भी नहीं दी। दूसरी तीसरी बार पूछने पर भी मौन रहे।

जमाली मुनि स्वयं के शिष्यों के साथ विहार करने लगे और चंपानगरी के पूर्णभद्र चैत्य के उद्यान में आकर अवग्रह की याचनापूर्वक स्वयं की आत्मा को भावित करते हुए विहरते हैं।

एक दिन ·

अरस—(हिंग, जीरा आदि से रहित होने से बिन स्वाद का)

विरस—(रस रहित भोजन)

अंत—(रस रुप होने से सर्वधान्यान्तवर्ती)

प्रांत—(वासी होने से सर्वथा साधारण)

रुक्ष—(घी आदि से रहित लुखा भोजन)

तुच्छ—(सत्त्वहीन)

कालातिक्रांत—(भूखप्यास के साथ के बाद मिलना)

प्रमाणातिक्रांत—(भूखप्यास के प्रमाण से अधिक)

शीत—(बिलकुल ठंडा भोजन)

उपरोक्त आहार लेने से जमाली मुनि को शूलादि रोग होने से बहुत ही बिमार पड़ा। दाहज्वर जैसा रोग होने से बैठने की भी शक्ति न रही अतः उनके शिष्यों को संथारा करने के लिए कहा!

गुरुवचन तहत्ति करके मुनि संथारा बिछाने लगे। अधिक वेदना से आकुल-व्याकुल होकर जमाली मुनि ने फिर से शिष्यों को पूछा कि 'सोने के लिए संथारा कर लिया है? या कर रहे हो अर्थात् बिस्तर हो गया है? या हो रहा हैं। पहली भूतकालीन क्रिया है तथा दूसरी वर्तमानकाल की दोनों में भेद करके कहने में आया है। इस प्रकार कृत और क्रियमाण दोनों काल का निर्देश हैं।

जब जमाली मुनि ने यह प्रश्न पूछा तब शिष्यों ने कहा कि-हे गुरु हम आपकी आज्ञा के अनुसार बिस्तर बिछा रहे हैं पर बिछाया नहीं हैं। अत्यन्त सरल स्वभाव से कहे हुए शिष्यों के वचन को सुनते ही जमाली मुंनि को अब उपशम किया हुआ मिथ्यात्व मोहकर्म उदय में आया और आत्मगत, चिंतित, प्रार्थित, कल्पित और मनोगत निम्न विचार आये—

आत्मगत—बुखार के जोरदार प्रभाव के कारण जीभ जैसे कड़वी हो जाती है वैसे मिथ्यात्व के तीव्र उदय से जमाली को भी भगवान महावीर के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हुई और उनके वचनों की विरोध भावना के अंकुर की उत्पत्ति होने लगी।

चिंतित–अंकुरे में से जैसे जैसे पत्ते निकले वैसे जमाली मुनि के हृदय में भी अश्रद्धा बढ़ती गई तथा साथ साथ विरोध भी बढ़ता गया।

प्रार्थित—विकसित लता जैसे पल्लवित होती है वैसे जमाली का चिंतित विचार बढ़ता ही गया जिससे उसके मन में महावीर के वचन बिलकुल अश्रद्धेय हैं, ऐसी भावना बढ़ी। फिर तो महावीर मुझे इष्ट नहीं है ऐसे विचार उत्पन्न हो गये।

जमाली मुनि भूत और वर्तमान रुप कृत और क्रियमाण में भेद मानकर, उन दोनों में अभेद का प्रतिपादन करनेवाले भगवान के वचन को मिथ्या और असत्य माननेवाले हुए है। कारण देते हुए कहते हैं कि बिछाने में आ रहा संथारा बिछाया नहीं है। "अतः संस्तीर्थमाण संथारक असंस्तृत है।" जिससे क्रियमाण शय्या संस्तारक जैसे अकृत होता है वैसे संस्तीर्यमाण संस्तारक असंस्तृत ही रहता है। उसी प्रकार चलायमान वस्तु अचलित, उदीर्यमाण अनुदीर्ण, वेद्यमान अवेदित, प्रहीयमाण अप्रहीण छिद्यमान अछिन्न, भिद्यमान अभिन्न, दह्यमान अदग्ध म्रियमाण अमृत और निर्जीर्यमाण वस्तु अजीर्ण ही होती है।

तीव्रज्वर के जोर से अच्छा से अच्छा भोजन भी अजीर्ण होकर वमन

के रुप में बाहर आता है वैसे मिथ्यात्व के जोरदार आक्रमण के प्रभाव से उपरोक्त विचार तथा वचन जमाली के अणु-अणु में व्याप्त हो गये।

फिर तो स्वयं के शिष्यों को बुलाकर कहा कि–हे मुनियों ! तुम मेरी बात ध्यान से सुनो।

वे चलायमान वस्तु को चलितप्रमाण से कहते हैं।
वे उदीर्यमाण वस्तु को उदीर्ण कहते हैं।
वे वेद्यमान वस्तु को वेदित कहते हैं।
वे प्रहीयमाण वस्तु को प्रहीण कहते हैं।
वे छिद्यमान वस्तु को छिन्न कहते हैं।
वे भिद्यमान वस्तु को भिन्न कहते हैं।
वे दह्यमान वस्तु को दग्ध कहते हैं।
वे म्रियमान वस्तु को मृत कहते हैं।
वे निर्जीर्यमाण वस्तु को निर्जीर्ण कहते हैं।

इसप्रकार का महावीर का भाषाव्यवहार सत्य कैसे हो सकता हैं ? इससे उनका उपदेश सर्वथा असत्य है ? क्योंकि चलने के लिये तैयार हुई वस्तु वास्तविक रुप से अचलित ही होती है तथा निर्जीर्यमाण वस्तु निर्जीर्ण नहीं हैं।

हे शिष्यों ! तुम भी यही कार्य कर रहे हो ना ? "संथारिया अभी बिछा रहे हो, बिछाया नहीं हैं"।

इसी प्रकारसे चलती वस्तु को 'चली' ऐसे कहना मिथ्या है जिससे क्रियमाण वस्तु कृत नहीं है पर अकृत ही हैं। करती हुई वस्तु कृत अर्थात् कर ली हो तो फिर उसमें "करण क्रिया" मानने का प्रसंग उपस्थित होनेपर अनेक दोषो की संभावना रहेगी ! क्योंकि जो कृत हो वह क्रियमाण नहीं होता हैं। घड़ा याहुआ मटका फिरसे घड़ाता नहीं है। वैसे ही कृत चलित

आदि वस्तु में भी 'करण रुप' क्रिया करने में आवे तो करण क्रिया का कभी अंत नहीं आयेगा ।

दूसरी बात यह है कि करणरुप क्रिया अकृत में होती हैं कृत में नहीं होती तथा अविद्यमान वस्तु किसी क्रियाद्वाराही विद्यमान बनती है। जैसे वर्तमान कालमें मिट्टी में घट विद्यमान नहीं परंन्तु किसी क्रियाविशेष से उसमें घट पर्याय उत्पन्न होता दिखता है। जिससे क्रियमाण को कृत कहना यह अत्यन्त विरोधाभास हैं। एक घटना के निर्माण में अधिक क्रियाओं की जरुरत होती हैं। प्रारंभ काल में ही घड़ा बनता नहीं है।उस का निर्माण होनेपर ही दिखता हैं जब क्रिया का अवसान होता है। इन कारणों को लेकर क्रियाकाल में कार्य की विद्यमानता माननी उचित नहीं है।

इस प्रकार जमाली के कथित, प्रतिपादित, प्रज्ञापित और प्ररुपित विचारों को साधुओ ने श्रद्धापूर्वक माना और स्वीकारा है। परंतु जिनको जमाली के वचन रुचे नहीं उन मुनियो ने बहुत ही हिम्मतपूर्वक जमाली को समझाने का प्रयत्न किया वह निम्न हैं।

" जो वस्तु अकृत-अभूत और अविद्यमान होती है वह अभाव विशिष्ट ही होनेसे आकाश पुष्प की तरह उसका निर्माण अशक्य ही होता हैं।"

यदि अकृत-अविद्यमान की उत्पत्ति होती हो तो गधे को सींग की उत्पत्ति भी माननी पड़ेगी जो किसी काल में शक्य नहीं क्योंकि खरविषाण असत् है।

कृत को करने में करणरुप क्रिया कि समाप्ति न हो उसमें जिन दोषोंकी तुमने कल्पना की है वे दोष तो अकृत को करने में ही लागू पड़ते हैं अतः दोषोंकी समानता दोनों तरफ समान हैं।

मूलरूप से ही अविद्यमान वस्तु का निर्माण किसी काल में शक्य नहीं। ऐसा होनेपर भी उसकी निष्पत्ति हो तो असत् को करने में क्रिया कीं समाप्ति हो सके ऐसा नहीं है अथवा क्रिया का वैफल्य होगा।

घड़े की क्रिया कलाप में अधिक समय लगता हो तो उसका निषेध हम नहीं करते हैं क्योंकि एक वस्तु के निर्माण में दूसरी क्रियाएं भी दीखती है। स्थास, कोस आदि कार्यान्तर के आरंभ में कार्यान्तर घट किस प्रकार दिखेगा ? क्योंकि घड़ा बनने के प्रारंभ में घड़ा दिखता नहीं है पर क्रियमाण का समय निरंश होने से क्रियमाण कृत ही होता है। यदि वर्तमान समय रूप क्रियाकाल में वस्तु को अकृत मानने में आवे तो समय पूरा होने के बाद भी उसकी उत्पति बन सके ऐसा नहीं है। वर्तमान काल में जो कार्य न हुआ हो तो भविष्य में कैसे होगा ? दोनो काल में क्रिया असंबध्यमान है जिससे क्रियाकाल में ही वस्तु को कृत कहने में अड़चन नहीं है। उपरोक्त बातों को माननेवाले श्रद्धावान मुनि जमाली को छोड़कर महावीरस्वामी के चरणौ में वापिस आगये।

धीरे-२ जमाली रोग मुक्त हुआ और शरीर जब सशक्त बना तब एक दिन चंपानगरी के पूर्णभद्र के चैत्य में बिराजमान भगवान महावीर-स्वामी के पास आकर जमाली ने भगवान को साक्षेप कहा कि—"जिस प्रकार आपके अनेक शिष्य छद्मस्थ भाव में विचरते हैं उसी प्रकार मैं छद्मस्थ नहीं पर उत्पन्नदर्शन, ज्ञान और चरित्र से युक्त अरिहंत हूँ, जिन हूँ और केवली पर्याय में विचरता हूँ।"

जमाली का वचन सुनकर गौतमस्वामी ने कहा कि—"हे जमाली ! केवली का केवलज्ञान पर्वतादि से भी अवरुद्ध होता नही है। अतः यह प्रत्यक्ष दिखता 'लोक' शाश्वत है या अशाश्वत ? जीव शाश्वत है या अशाश्वत ? इस प्रकार गौतमस्वामी के प्रश्न सुनकर जमाली सकपका गया।

यद्यपि जमाली भी पंडित था तथा अनेक वर्षों तक महावीर के वचन के प्रति श्रद्धालु था और ग्यारह अंग का ज्ञाता था। इतना होनेपर भी गौतमस्वामी के आतपनाम कर्म की छाया में विद्वान महापंडित भी मुंझाते हुए तेजरहित बन जाते हैं तो फिर तीव्रातितीव्र दर्शन मोहनीय कर्म के

उदय से बेचारे जमाली का क्या पूछना? सारांश कि गौतमस्वामी के प्रश्नों का जवाब जमाली न दे सका।

"मतिमूढ़ मानव का ज्ञान अदृष्ट होता है और बुद्धी विलुप्त होती है अथवा सम्यकत्व से भ्रष्ट हुआ ज्ञान और विज्ञान शंकित होकर उसके मालिक का ही मारक बनता है।" ग्यारह अंग के ज्ञाता जमाली की भी यही दशा हुई।

दया के सागर भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि–हे जमाली! स्वयं की जात को केवलज्ञानी माननेपर भी वास्तविकता को छुपा नहीं सकते हैं।

भगवान ने कहा कि–लोक शाश्वत ही है। अशास्वत नहीं। पहले लोक न था, अभी है तथा भविष्य में नहीं रहेगा ऐसा नहीं है। क्योंकि शाश्वत वस्तु हमेशा द्रव्यनय की अपेक्षा से शाश्वत होती हैं। अशाश्वत नहीं। इसी प्रकार जीव भी हमेशा है। उसका नाश नहीं है। जबकि पर्याय की दृष्टि से लोक अशाश्वत भी है। कारण यह है कि उत्सार्पिणी अवसर्पिणी के समय लोक में परिवर्तन होता है उसी प्रकार गतियों के कारण से जीव भी अलग–२ प्रकार से संबोधित होता हैं।

शरीर में बुखार का जबरदस्त प्रभाव हो तब अच्छे से अच्छा घी दूध और पौष्टिक आहार भी कड़वा लगता है उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी बुखार आत्मा के अणु–२ में भर गया हो तब उसे तीर्थंकर की वाणी भी अप्रिय लगती हैं। इसमें तीर्थंकर का दोष नही है क्योंकि सूर्यनारायण की हाजरी को घुवड देख नहीं सकता हैं। जोरदार वर्षा में सभी वनस्पतियें पल्लवीत होती है तो केर का वृक्ष पत्रविहीन ही रहता है। बेचारे घुवड या केर के वृक्ष की भवितव्यताही जब ऐसी है तो सूर्य या वर्षा क्या करे? वैसे ही संसार के जीवमात्र को तीर्थंकर की वाणी रोचक लगती है जबकि मिथ्यात्वी और अभव्य को कड़वी लगती है। शुभवीर विजयजी भी कहते हैं "मिच्छ

अभष्य न ओलखे एक अन्धो एक काणों रे, प्रभु तुज शासन अति भलु माने सुरनर राणो रे।"...

'स्वयं नष्टः परान् नाशयति...' इस न्यायानुसार जमाली मरकर १३ सागरोपम की स्थितिवाला किल्बिषिक देव हुआ हैं।

ये देव तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) तीन पल्योपम की स्थितिवाले।
(२) तीन सागरोपय की स्थितिवाले।
(३) तेरह सागरोपम की स्थितिवाले।

इसमें से तीन पल्योपम की स्थितिवाले देव ज्योतिष तथा पहले और दूसरे देवलोक के बीच रहते हैं।

तीन सागरोपम के किल्बिषिक पहले और दूसरे देवलोक के उपर तथा सनत्कुमार और महेंद्र देवलोक के नीचे रहते हैं।

तेरह सागरोपमवाले ब्रह्मदेवलोक के ऊपर और लांतक देवलोक के नीचे रहते हैं।

मनुष्य लोक के हरिजन के समान ये किल्बिषिक देव कौन से कर्म से होते हैं ?

भगवान ने कहा कि–हे गौतम ! नीचे लिखे अनुसार किल्बिषिक देव की उत्पत्ति होती है :—

(१) आचार्यद्रोही—बहुश्रुत तपस्वी तथा महान उपकारी ऐसे आचार्य भगवन्त की निन्दा, हेलना, आदि करने से।...

(२) उपाध्याय द्रोही—पाठक, उपाध्यायका द्रोह करने से।...

(३) कुलद्रोही— एक ही आचार्य के परिवार में रहे हुए मुनियों का द्रोह तथा द्वेष करने से।

(४) गणद्रोही— अनेक कुलो के समुदाय रुप गण का द्रोह करने से।

आचार्य उपाध्याय की यशगाथा, उनकी विद्वता और तपस्या आदि सद्‌गुणों की निन्दा करना। उनकी प्रसिध्दी होती हो तब उनसे विरोधी व्यवहार करना, हलके पटकने, अवर्णवाद बोलना, अपकीर्ति करना, स्वयं की कल्पित, असत्य और बैर झेर से भरी हुई मान्यताओं को आगे कर कदाग्रहपूर्वक संघ में झगड़ा पैदा करना और मृत्यु के समय आलोचना न करनी ऐसे जीव इस प्रकारकी कनिष्ठ देवयोनि प्राप्त करते हैं।

देवलोक में से च्यवकर चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए चार पांच भव में सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी के वचनों में श्रद्धा रखते हुए गौतमस्वामी बहुत ही खुश हुए। मुनियों तथा साध्वियों ने भी जमाली का दृष्टान्त सुनकर स्वयं के चरित्र की शुध्दि के लिए सावधान हुए।

॥ ३३ वां उद्देशक समाप्त ॥

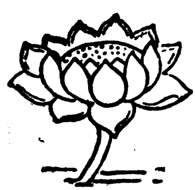

शतक नववां उद्देशक—३४

मगध देश की राजगृही नगरी में यह चौतीसवां उद्देशक प्रकाशित हुआ हैं।

गौतम भगवानने पूछा कि-हे प्रभु ! कोई पुरुष दूसरे पुरुष का हनन करता है तो क्या वह मारनेवाला मरे हुए पुरुष की ही हत्या का भागी बनता है कि उसके अनुसंधान में दूसरे जीव को भी मारता है ?

भगवान ने कहा—कि हे गौतम ! एक पुरुष की हत्या करनेवाला पुरुष दूसरे जीवों को भी मारनेवाला बनता है।

भगवान ने कारण बताते हुए कहा कि, यद्यपि मारनेवाला पुरुष यह यह मानता है कि मेरा लक्ष्य पुरुष को ही मारने का है परंतु यह उसका भ्रमित ज्ञान है। क्योंकि एक जीवके आश्रय से उसमें दुसरे जीव भी रहते है। जैसे उसके सिर में जूँ, लीख, पेट में करमिये तथा उसकी कमाई पर उसके पुत्र, परिवार, स्त्री आदि का भी जीवन निर्वाह होता हैं। उस स्थिति में एक पुरुष को मारने से दूसरे जीवों का भी मारने का दोष लगेगा। अतः हे गौतम ! एक को मारने पर अन्य जीवों की हत्या का पाप लगता है। इसी प्रकार घोड़ा, हाथी, सिंह आदि की हत्या करते हुए उसके आश्रित अन्य जीवों की हत्या भी संभावित है तथा उन जीवों की हत्या भी मूल जीव को मारने से ही होती है।

यद्यपि दूसरे जीवों को मारने का उसका आशय नहीं है पर एक जीव आश्रय से दूसरे भी अनेक जीव वहां रहते हैं। अतः सभी का अज्ञान यही सबसे बड़ा पाप है। कहा है कि-"अज्ञानेन आवृतं ज्ञानं तेन

मुह्यन्ति जन्तवः। एकः शत्रुर्न द्वितीयो ऽस्तिशत्रुः अज्ञानतुल्यं पुरुषस्य राजन् येनावृत ! कुरुते संप्रयुक्तो घोराणि कर्माणि सुदारुणानि"

❖ ❖ ❖

हे प्रभु ! कोई मनुष्य त्रस जीव (बेइन्द्रिय) की हत्या करते हुए केवल त्रस जीव की हत्या करता है कि दूसरे जीवों की भी ?

भगवान ने कहा कि-मारनेवाले के मन में भले ही त्रस जीव को मारने का भाव हो तो भी मरते हुए मनुष्य के साथ उसके आश्रय में रहे हुए दूसरे त्रस जीव भी मरते हैं। अतः एक जीव को मारने से दूसरे को हत्या का भी उसे पाप लगेगा।

संसारवर्ती कोई भी जीव किसी समय भी सर्वथा एकाकी रहनेवाला नहीं है। क्योंकि अनंता अनंत कर्म वर्गणाओं में फंसा हुआ जीव दूसरे जीव के साथ राग तथा द्वेष के संबंध से जुड़ा हुआ होता है और उन राग द्वेष को भुगतने के लिए चाहे जिस गति में भी उस जीव को छोटा बड़ा परिवारिक जीवन अवश्य होता है। अतः एक जीव के आश्रय से दूसरे जीव भी वहां अवश्य होते हैं। वैसे कि "जहां जहां पानी है वहां वहां वनस्पति है।" ऐसी स्थिति में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र बिना का मनुष्य हर हालत में भी उपयोग शून्य होने से जब जब वह पानी का उपयोग करेगा तब पानी के साथ रही हुई वनस्पति और असंख्यात जीव को भी मारेगा ही क्योंकि पानी को हवते हुए उसके आश्रय में रहे हुए त्रस जीव भी मरे बिना नहीं रहेंगे।

अचित्त पानी किसलिए :

ऐसा होनेपर भी पानी जीवन है और जीवन जीने के लिए पानी का उपयोग बहुत ही अनिवार्य है। इसी से सम्यग्ज्ञानी आत्मा पानी को अचित्त करके उसका उपयोग करेगी।

यद्यपि पानी को आगपर रखने से उसमें रहे हुए त्रस जीव तो मरेंगे ही तो भी पानी की अनिवार्थता को जानते हुए प्रति समय होती हुई जीवोत्पत्ति से बचने के लिए भावदयापूर्वक वे भाग्यशाली पानी को एक बार अचित करते हैं। अतः उबला हुआ पानी ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

ऋषि हत्या का पाप :

गौतमस्वामी पूछते हैं कि-एक त्यागी, तपस्वी ऋषि की हत्या करने से उस जीव को दूसरे जीवों की हत्या कैसे लगेगी !

भगवान ने कहा कि-हे गौतम ! समझदारीपूर्वक पापभीरु आत्मा पाप की निवृत्तिरुप सर्वविरति धर्म स्वीकारती है तथा वैसे व्रतधारी की संख्या लाखो में एक ही होती है जबकी दूसरे जीव स्वार्थ, क्रोध, लोभ पूर्वक माया और प्रपंच में आकर मोहवासना में पूर्ण मस्त बनकर संपूर्ण संसार को विषम बना देनेवाले होते हैं। ऐसी स्थिति में संपूर्ण त्यागी, तपस्वी, अहिंसक और संयमधारी ऋषि ही संसार को अहिंसा, संयम और तप का उपदेश देनेवाले होने से संसार में थोड़ी बहुत भी शान्ति तथा समाधि दृष्टिगोचर होती हो तो वह महाउपकार ऋषियों का ही है। स्वयं सर्वथा त्यागी होने के कारण परिश्रम की परवाह किये बिना ऋषि ग्रामानुग्राम पैदल विहार करते है और अहिंसा संयम आदि का उपदेश देते हैं। इसलिए ऋषिहत्या महापाप कहलाती है भगवान ने कहा कि, ऋषियों के उपदेश से अनेक जीव पापों से मुक्त होकर मुक्ति को प्राप्त करते है जहां किसी भी प्रकार का मानसिक पाप नहीं होता है।

अतः अनेक जीवों को अभयदान देनेवाले, दिलानेवाले मुनि की हत्या का मन, वचन तथा काया से निषेध कहा है।

हे प्रभु ! जो व्यक्ति दूसरे जीव की हत्या करते हैं वे क्या उन्हीं के साथ बैर बंधन बांधते हैं ! या मरनेवाले दूसरे जीवों के साथ भी पाप से संबंधित होते हैं ?

भगवान ने कहा कि-हे गौतम ! जिसकी हत्या होती है उसके साथ तो वैर बंधता ही है साथ साथ उसके आश्रित मरनेवाले दूसरे जीवों के साथ भी पाप बंधन होता है।

हे प्रभु ! चलता हुआ वायु एक वृक्ष को नीचे गिराती है तब उस वायु के जीवों को कितनी क्रिया लगती है ? भगवान ने कहा कि कभी तीन, कभी चार, कभी पांच क्रियाएं लगती हैं।

नदी के किनारे मिट्टी द्वारा जिसके मूल ढ़ंके नहीं है वे वृक्ष मूल से लेकर बीज तक अर्थात् मूल, कन्द, स्कन्द, छाल, शाखा, प्रवाल, पान, पुष्प, फल तथा बीज सहित वृक्ष को गिराता वायु पांचो क्रियाओं का मालिक बनता हैं।

॥ चौतीसवां उद्देशक समाप्त ॥

❀ समाप्ती वचन ❀

युगप्रवर्तक, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, स्वर्गस्थ १००८ श्री विजयधर्म सूरीश्वरजी महाराज बीसवीं शताब्दि के शुक्र के तारा जैसे चमकदार, गुरु के तारा के समान सौम्य, युधिष्ठर की तरह स्वयं के शत्रु के लिए भी सच्चे सलाहकार, ब्रह्मचर्य की आराधना से ओजस्वि, संयम की आराधना के द्वारा तेजस्वी तथा अहिंसा के प्रचार के लिए अहिंसक भाषावादी थे। उनका गुनगान संसार के सभी भाषावादियों ने किया है। उन सूरीश्वरजी के अनन्य चरणोपासक, अप्रमादी, स्वाध्यायमस्त, आगमरहस्यज्ञाता, शासन दीपक, प्रचंड वक्तृत्व शक्तिधारक मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज थे। सिन्ध जैसे हिंसक देश में भी अहिंसा तथा जैन धर्म के प्रचार करनेवाले पूज्य गुरुदेव के चरणों में दीक्षित और शिक्षित हुए पन्यास श्री पूर्णानंदविजय म. (कुमारश्रमण) ने केवल स्वयं के स्वाध्याय के खातिर तथा अगले भव में भी जैन संस्कार बने रहे इसलिए भगवतीसूत्र के नवमें शतक को स्वयं की यथाबुध्दि से विवेचित किया है।

शुभं भूयात सर्वजीवानम्। सव जीवा भद्रं प्राप्नुयु:।

॥ शतक नवमां समाप्त ॥

शतक दसवां उद्देशक १

भगवतीसूत्र के दसवें शतक में चौतीस उद्देशाओं का समावेश होता है। उन प्रत्येक का वर्णन निम्न है :—

पहले उद्देशक में दिशायें सम्बंधित दूसरे में संवरधर्मी श्रमण सम्बंधित, तीसरे में आत्म ऋध्दि से देव तथा देवियें कितने आवासान्तरों को उल्लांघते है चौथे में श्याम हस्ती मुनि के प्रश्न सम्बंधित, पांचवे में चमर आदि इन्द्र तथा इंद्राणि सम्बंधित छट्ठे में सुधर्म सभा के सम्बंधित और सात से चौतीस उद्देशक में उत्तर दिशा के २८ अन्तर्द्वीप का वर्णन है।

इस प्रकार ३४ उद्देशक में यह शतक पूर्ण होता है।

दिशा के लिए कथन :

राजगृही नगरी में समवसरण में बिराजमान होकर त्रिशला नंदन देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी ने पर्षदा के सामने धर्म कहा और वह सुनकर प्रसन्न होकर पर्षदा अपने-२ स्थान पर गई।

विनय धर्म से अति नम्र गौतमस्वामी ने पूछा कि—हे भगवंत ! पूर्व दिशा जीवस्वरुप है या अजीव स्वरुप है ?

भगवान ने फरमाया कि-हे गौतम ! पूर्व दिशा में एकेन्द्रियादि जीव और पुद्गलास्तिकाय अजीव के रहने से जीव तथा अजीव रुप है। इस प्रकार पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, उर्ध्व और अधोदिशा के लिए भी जानना।

हे प्रभो ! दिशाएँ कितनी है ?

हे गौतम ! दिशाओं की संख्या दस है।

पौरस्त्य (पूर्व दिशा) (२) पौरष्य दक्षिणा (पूर्व तथा दक्षिण दिशा) के बीच का अग्निकोण) (३) दक्षिण दिशा। (४) दक्षिण पश्चिमा (नैऋति कोण) (५) पश्चिम दिशा (६) पश्चिमोत्तर दिशा (वायव्य कोण) (७) उत्तर दिशा (८) उत्तर पौरस्त्या (ईशान कोण) (९) उर्ध्वदिशा (१०) अधोदिशा।

हे प्रभु! दसो दिशाओ के नाम कौन से हैं?

(१) इंद्र जिसका स्वामी है वह अैंद्री दिशा (पूर्व दिशा)
(२) अग्नि जिसका स्वामी है वह आग्नेयी दिशा (अग्नि कोण)
(३) यम जिसका देवता है वह याम्या (दक्षिण दिशा)
(४) नैऋति जिसका देवता हैं वह नैऋति (नैऋत्य कोण)
(५) वरुण जिसका देवता है वह वारुणी (पश्चिम दिशा)
(६) वायु जिसका देवता है वह वायव्य (वायव्य कोण)
(७) सोम जिसका देवता है वह सोम्या (उत्तर दिशा)
(८) ईशान जिसका देवता है वह अैशानी (ईशान कोण)
(९) अत्यन्त विमल होने से विमल दिशा (उर्ध्व दिशा)
(१०) रात्रि के समान अंधकारमय होने से (अधोदिशा)

चारों दिशाएं शकटोर्द्धि (गाड़ी के उंध) जैसे आकारवाली है।

चारों दिशा मुक्तावली के आकार जैसी है। उर्ध्व और अधोदिशा रुचक (गाय के स्तन) जैसी है।

हे प्रभो! पूर्व दिशा जीव रुप है? जीव देशरुप है? जीव प्रदेश रुप है? अजीव रुप है? अजीव देशरुप है? अजीव प्रदेश रुप है?

हे गौतम! पूर्व दिशा जीवरुप भी है, जीव देश रुप भी है; जीव प्रदेश रुप भी है। इसी प्रकार अजीव रुप, अजीव देश रुप, और अजीव प्रदेश रुप भी है। पूर्व दिशा जीव स्वरूप होने से वहां एकेन्द्रिय बेइंद्रिय

तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय अर्थात् केवली जीव होते हैं।

इसी प्रकार एकेन्द्रिय से यावत् केवली के देश और प्रदेश रुप भी है। सारांश यह है कि पूर्व दिशा में एकेन्द्रिय जीव तथा केवली जीव भी रहते हैं।

इस दिशा में जो अजीव रहते हैं वह रुपी अजीव और अरुपी अजीव रुप दो प्रकार के हैं।

रुपी अजीव के चार भेद हैं!

(१) स्कंध (२) स्कंध देश (३) स्कंध प्रदेश (४) परमाणु पुद्गल अर्थात् पूर्व दिशा में पुद्गलों के स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु भी है।

अरुपी अजीव निम्न रुप से सात प्रकार के हैं।

(१) धर्मास्तिकाय का देश।
(२) धर्मास्तिकाय का प्रदेश।
(३) अधर्मास्तिकाय का प्रदेश।
(४) अधर्मास्तिकाय का देश।
(५) आकाशास्तिकाय का देश!
(६) आकाशास्तिकाय का प्रदेश।
(७) काल (अद्धा)

इस दिशा में धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीन द्रव्य नहीं हैं पर उसके देश और प्रदेश होते हैं।

कारण बताते हुए भगवान ने कहा कि, धर्मस्तिकाय से संपूर्ण धर्मास्तिकाय का बोध होता है और सूत्र में 'नो' शद्ब का अर्थ निषेधार्थक होने से पूरे धर्मास्तिकाय का निषेध समझना इसी प्रकार से अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय का समझना। भगवतीसूत्र में इसी प्रकार सात भेद ही माने हैं।

जबकि उत्तराध्यपन सूत्र के छब्बीसवे अध्ययन की पांचवी गाथा में धर्मास्तिकायादि तीनों का समावेश करने से दस भेद होते हैं।

इस सूत्र के अनुसार पूर्व दिशा में धर्मास्तिकाय नहीं पर उसके देश और प्रदेश है। अधर्मास्तिकाय नहीं पर उसके देश और प्रदेश है। आकाशास्तिकाय नहीं पर उसके देश और प्रदेश हैं। कालद्रव्य का भी प्रदेश हैं।

अतः सात प्रकार के अरुपी अजीव के आश्रयरुप बनी हुई पूर्व दिशा अजीवरुप भी है

आग्नेयी दिशा जीवरुप, जीवदेशरुप और जीवप्रदेश रुप हैं ?

गौतम ! आग्नेयी दिशा जीवरुप नहीं है क्योंकि विदिशा मात्र एक प्रदेश की ही पोली होने से असंख्यात प्रदेशी जीव का वहां अवगाहन नहीं होता है। अतः आग्नेयी विदिशा को जीवरुप नहीं पर देश ओर प्रदेश रुप मानी हैं।

एकेन्द्रिय जीव सकललोक व्यापी होने से उसके देश वहां विद्यमान होते हैं।

अब तीन-३ भागों का वर्णन करते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के अनेक देश और बेइन्द्रिय जीव का एक देश रुप यह दिशा है। क्योंकि एकेन्द्रिय जीव करते बेइंद्रिय जीव कम है। १ भाग।

एकेंद्रिय जीव के अनेक देश और बेइंद्रिय जीव के अनेक देश। दूसरा भाग।

एकेंद्रिय जीव के अनेक देश और बेइंद्रिय जीव के अनेक देश। तीसरा भाग।

इसमें एकेंद्रिय जीव का बहुत्व और बेइंद्रिय जीव का एकत्व और बहुत्व विवक्षित हैं। अतः तीन भांगे समझने।

तेइंद्रिय के भी इसी प्रकार के भांगे हैं :-

आग्नेयी दिशा में एकेंद्रिय के अनेक देश तेइन्द्रिय का एक देश। अनेक देश और तेइंद्रियजीव के अनेकदेश रूप तीन भांगे जानना।

इसी प्रकार चउरिन्द्रिय पंचेद्रिय और केवली प्रदेश के भी तीन-२ भाग समझना।

इसी तरह दूसरी दिशा विदिशा में भी ऐसा ही जानना।

शंका—उर्ध्वदिशा में सिद्ध के जीव होते हैं। पर अधो दिशा में नहीं होते तो वहां सिद्धजीव के देश और प्रदेश की कल्पना कैसे होगी ?

समाधान—समुद्‌घातरूप दंडादि अवस्थावाले सिद्धजीव को लक्ष्यकर जीव के देश–प्रदेश की संभावना का इन्कार नहीं कर सकते हैं।

सूर्यादि के प्रकाश के कारण से काल का व्यवहार संभावित है, अतः अधोदिशा में काल का व्यवहार नहीं होने से वहां ६ भेद समझना।

उर्ध्व दिशा में भी सूर्य का सद्‌भाव नहीं है। ऐसा होनेपर भी मेरुपर्वत के स्फटिककांड में सूर्य के प्रभा की संक्रांति होती है। उसके द्वारा सूर्य का प्रकाश वहां पहुँच सकता है। अतः उर्ध्वदिशा में समय का व्यवहार है।

शरीरों की वक्तव्यता :

भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण रूप में शरीर पांच हैं।

सिद्धों के शरीर नहीं :

आठों आठ कर्मों का सर्वथा नाश करने के बाद ही सिद्धशिला प्राप्त जीवों को "सिद्धाणं नत्थि देहो।" इस सूत्र के अनुसार शरीर नहीं होता

है। क्योंकि, पुण्य पाप के प्रारब्ध कर्मों को भुगतने के लिए शरीर रहित कोई भी जीव कर्मों को भुगत नहीं सकता है। अतः जहां–जहां कर्म सत्ता है वहां वहां शरीर हैं। सिद्ध के जीव संपूर्ण रुप से निरंजन, निराकार और शुद्ध स्वरुप होने से उनका अवतार नहीं होता है और जो अवतार लेते है वे परमात्मतत्व के स्वामी नहीं होते हैं। "यत्र यत्र कर्मपरमाणूनां एकोऽपि परमाणुः विद्यते तत्र तत्र परमात्मतत्वमपि नास्ति, यथा वयं, कर्मपरमाणुवन्तः शरीरिणः सन्ति अतः परमात्मतत्व वन्तोऽपि न संति।"

अतः शरीर को धारण करने के लिए उदाहरण देते हुए कहा है कि "यत्र यत्र कर्म परमाणवो विद्यन्ते तत्र तत्र शरीर धारण मस्त्येव यथा वयं कर्मपरमाणुवन्तः शरीरिणः सन्तिऽतः शरीर धारणं सर्वथाऽनिवार्थ मस्ति।"

सारांश कि दूसरा अवतार लेने के लिए कर्मपरमाणु की विद्यमानता में ही शरीर ग्रहण करना सर्वथा अनिवार्थ है, जिससे "सिद्धं बिना सर्वेऽपि जीवाः यावत् लौकिका देवा अपि शरीरवन्तः सन्ति यथावयं तथा देवाऽपि अतः तेषामपि अवतार ग्रहणं न्यायमस्ति।"

'सिद्ध जीवानां एकोऽपि कर्मपरमाणु नास्ति अतः तेषामवतार-ग्रहणे किमपि कारणं नास्त्येव।'

इसी कारण से ही सिद्धशिला प्राप्त जीव सत्यरूप में लोकोत्तर देव है। अतः परमात्म, परमेश्वर, तीर्थंकर देवाधिदेव सर्वज्ञ और भगवान हैं।

संसारी जीव को शरीर ग्रहण करने में मुख्य कारण कर्म है। "संसारोऽस्त्येषां ते संसारिणः" यह न्याय सातो नर्क में रहनेवाले सभी नारक जीव, पंचेन्द्रिय एकेन्द्रिय, बेइंद्रिय, तेइंद्रिय, चउरिंद्रिय और पंचेंद्रिय में दो पैरवाले पक्षी, चार पांववाले गाय, भैंस बकरी आदि, आकाश में उड़नेवाले, पृथ्वीपर छाती के बल चलनेवाले सर्प आदि, पैदल चलनेवाले नोलिया, गरोली आदि पानी में चलनेवाले मछली, मगर, मच्छ, काचबा आदि, १०० पैरवाले कानखजुरा आदि सभी तिर्यन्च जीव,

माता पिता के संयोगबिना जन्म लेनेवाले संमूर्च्छिम पंचेद्रिय, तिर्यंच और मनुष्य गर्भ से उत्पन्न होनेवाले सभी मनुष्य, स्त्री, विद्याधर, खेचर, ५६ अन्तर्द्वीप, १५ कर्मभूमि, १५ अकर्म भूमि में होनेवाले देवकुल और उत्तरकुरु के युगलिक मनुष्य, मेघकुमार, वायुकुमार सुवर्ण कुमार, नागकुमार आदि भवनपति के देव-देविये, भूतप्रेत, व्यंतर यक्ष, राक्षस-किन्नर किं पुरुष आदि व्यंतर देव और देवियां. सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा आदि ज्योतिष देव और देविये, सुधर्मा, इशान, ब्रह्मलोक आदि के वैमानिक देव, अनुत्तर विमानवासी देव आदि उपरोक्त सभी चारों गतियों के संसारी जीव है। अतः अपने–अपने पुण्य क्षय होनेपर दूसरे शरीर को धारण किये बिना किसी भी हालत में छुटकारा नहीं है संसारी को ही संसार में रखड़ने का है।

भव भवान्तर में मायावश किये हुए नियाणा को लेकर पुण्य पाप के फल भुगतने सर्वथा अनिवार्य है और शरीररहित पुण्य पाप के फल किसी समय और कोई भी जीवात्मा भुगत नहीं सकता हैं।

ईश्वर कर्म का फलदाता नहीं :

मोहमाया, इच्छा आदि दोषों से सर्वथा रहित ईश्वर किसी को भी शरीर धारण करने में निमित्त बने ऐसा नहीं है। सत्यदृष्टा, यथार्थवादी भगवान महावीरस्वामी ने शरीर को धारण करने में व्यक्ति या प्राणिमात्र का अपने-अपने किये हुए कर्मों को ही मुख्य माना है।

जीव जैसे अनंत शक्तिका मालिक है वैसे कर्म सत्ता भी अनंतशक्ति की मालिक है तभी तो संसाररुपी एक भी कार्य में ईश्वर की सत्ता को अभी तक किसी ने जानी नहीं, देखी नहीं और अनुभव भी नहीं किया। स्वयं की कुक्षी में आनेवाला जीव क्या भगवान रख जाता होगा? उसका अनुभव संसार की एक भी स्त्री ने नहीं किया है।

ईश्वर, पुरुष के शुक्र में (वीर्य) जीव को रख देता होगा ? अतः शुक्र क्षरण के समय ही जीव कुक्षि में आ जाता है परंतु यह मान्यता सर्वथा निराधार इसलिए है कि शुक्र क्षरण में यदि जीव हो तो हमेशा शुक्र क्षरण के समय जीव को कुक्षि में आना चाहिए। पर वैसा होता नहीं है। पर शुक्र तथा रज कि मिश्रणता वर्ष, दो वर्ष या तीन चार वर्ष में जब हो तब उस मिश्रण में जीव आता है यह बात सभी मानते हैं चाहे वह वैदिक हो, आयुर्वेदिक हो या कोकशास्त्र का ज्ञाता हो।

कितने महिने, कितने दिन घड़ी पल पर्यन्त कुक्षि में रहनेवाले जीव को संसार के सभी डॉक्टर नर्स यहां तक कि ईश्वर भी समय से पहले संसार के रंगमंच पर नहीं ला सकता है। अतः कुक्षि से जीव को बाहर आने के लिए अपानवायु ही स्वतः शक्तिमान है। जो पुद्गलिक है। कुक्षि में से बाहर आनेवाले जीव को ईश्वर हाथ पकड़कर बाहर खींचता है ऐसा अनुभव इतिहास के एक भी पेज पर नहीं लिखा ।

संतान के प्रति अगाध प्रेम ही मां के स्तन में खुन का दूध बनानेवाला होता है। बेशक ! जन्म लेनेवाली संतान का पुण्य या आयुष्य कर्म ही कम हो और मां के स्तन में दूध सूख जाय तो ईश्वर की मेहरबानी नहीं। पर संतान के पाप के आभारी है जो पुद्गलिक है। गरीबी या श्रीमंताई, वैसे ही संयोग या वियोग ईश्वरदत्त नहीं पर पाप और पुण्य रुप कर्म सत्ता के आभारी है।

उपयुक्त कारणों से कर्मसत्ता की अनंत शक्ति की महिमा छोटे बड़े कवि, ऋषि और महाऋषियों को भी गानी पड़ी है और वह भी मुक्त कंठ से शर्म रखे बिना कर्मराजा के पराक्रम को गाया है।

मरते हुए मनुष्य की आत्मा विद्यमान शरीर को छोड़कर जैसे परलोक जाती है वैसे कुत्ते, बिल्लियां, कौए, कीड़ी, मकोड़ा, या देव देवी चक्रवर्ती भी स्वयं के शरीर को छोड़कर परलोक जाते हैं। इतना होनेपर भी

शरीररहित आत्मा नहीं है उसका सत्यार्थ यह है कि शरीर सूक्ष्म और बादर दो प्रकार का है :

(१) कार्मण और (२) तैजस सूक्ष्म शरीर है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक स्थूल शरीर है। शरीर की रचना में मूल कारण सूक्ष्म से सूक्ष्म कार्मण शरीर होता है जिसकी विद्यमानता में प्राणिमात्र को दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। भव भवांतर में जाता हुआ जीव अधिक से अधिक चार समय तक स्थूल शरीररहित हो तो भी सूक्ष्म कार्मण शरीर तो उसके साथ ही रहता है अर्थात् एक भव को छोड़ता हुआ जीव स्वयं के सूक्ष्म शरीर को साथ लिए बिना किसी समय भी दूसरा भव स्वीकार नहीं सकता है।

दूसरे शरीर को धारण करने के प्रथम समय में ही स्वयं की आहार पर्याप्ति द्वारा ओजस शक्ति से आहार ग्रहण करने का तथा पचाने का कार्य तैजस शरीर करता है।

दूसरे आचार्य यह कहते हैं कि दूसरे जीव को शाप या आशीर्वाद देने की शक्ति में तैजस शरीर ही मूल कारण है।

सर्वथा निरालस वृत्ति, क्रोध कषाय का मन्दीकरण, संयम में दृढ़राग, आशा रहित तपस्या, लोभ और परिग्रह को त्यागनेवाले पुण्यशाली का ही आशीर्वाद फलदायक बनता है।

मंत्र में यह शक्ति होगी परन्तु भूलना न चाहिए कि मंत्र की शक्ति के विकास में मूल कारण ब्रह्मचर्य धर्म ही है। ब्रह्मचर्य की साधना बिना की मंत्रशक्तियाँ, तांत्रिक प्रयोग या दाये शंख की साधना द्वारा जनता का भला करने की भावना सर्वथा बांझ के समान रहेगी।

अरिहंत के शासन ने कहा है कि संयम की यथाशक्ति साधना ही

बड़ी से बड़ी शक्ति है, ब्रह्मतेज है और दूसरे को आशीर्वाद देने की अभूतपूर्व साधना है।

हीरविजय सूरीजी स्वयं के तप, संयम और ब्रह्मचर्य की साधना से ही अनार्य संस्कृति के स्वामी अकबर बादशाह को जैनत्व का दर्शन करा सकने में समर्थ बने।

सिद्धसेन दिवाकरसूरीश्वरजी ने संयम की उत्कृष्ट साधना के द्वारा जैन शासन का जयजयकार किया।

शास्त्रविशारद जैनाचार्य स्व. श्री विजयधर्म सूरीश्वरजी तथा शासन सम्राट् विजय नेमीसूरीश्वरजी महाराज ने स्वयं का उत्कृष्ट ब्रह्मसाधना द्वारा जैन शासन के अभूतपूर्व कार्य किये।

व्यक्तित्व शुद्धि के द्वारा प्राप्त हुई वक्तृत्व शक्ति से शासन दीपक स्व. मुनिराज विद्याविजयजी महाराज (मेरे गुरु) सिन्ध जैसे मांसाहारी देश में हजारों कुटुंबों को मांसाहार तथा शराबपान का त्याग कराने में समर्थ बने और भी अनेक अगणित दृष्टांत इतिहास प्रसिद्ध है।

आहारक शरीर के मालिक चतुर्दशपूर्वधारी ही होते हैं। वैक्रिय शरीर देव तथा नारक को ही सुलभ है।

औदारिक शरीर अत्यन्त उदार तथा अन्त में मोक्ष प्राप्त कराने का उत्तम साधक है।

अब इसी बात को भगवतीसूत्रकार कहते हैं।

हे गौतम ! औदारिक शरीर के पांच प्रकार हैं।

एकेन्द्रिय औदारिक शरीर।

बेइन्द्रिय औदारिक शरीर।

तेइन्द्रिय औदारिक शरीर।

चउरिंद्रिय औदारिक शरीर।

पंचेंद्रिय तिर्यंच, मनुष्य औदारिक शरीर।

जीवमात्र के औदारिक शरीर अलग—अलग प्रकार के होने से शरीर संस्थान को भिन्न-२ प्रकार का कहा है।

शरीर प्रमाण जघन्य से संगुली के असंख्यात भाग के समान होता है। उत्कृष्ट से एक हजार योजन से भी अधिक होता है।

औदारिक शरीर का पुद्गल चयन छः दिशाओं से होता है और व्याधात होता हो तो कभी तीन दिशा और कभी वैक्रिय शरीर भी होता है।

आहारक शरीर सबसे कम हैं।

औदारिक शरीर की अवगाहना बहुत कम है।

इस प्रकार भगवान महावीरस्वामी की वाणी सुनकर गौतमस्वामी बहुत ही खुश हुए और कहा कि—हे प्रभु ! आपने जैसा कहा वही सर्वथा यथार्थ तथा सत्य है।

भगवान की वाणी की बार-२ प्रशंसा करते हुए इन्द्रभूति गौतम बहुत प्रभावित हुए।

॥ पहला उद्देशक समाप्त ॥

शतक दसवां उद्देशक—२

क्रिया सम्बन्धी प्रश्नोत्तर :

राजगृही नगरी में समवसरण में विराजमान भगवान महावीरस्वामी को गौतम ने पूछा कि–हे प्रभु ! प्राणातिपात आदि आश्रवमार्ग का त्याग कर संवर धर्मयुक्त मुनि यदि यथाख्यात चारित्र से पृथक् होकर कषाय भाव विचिपथ में रहकर या सरागभाव से इर्या समिति की मर्यादा का उलंघन करके स्वयं से आगे पीछे, बगल में, उँचे, नीचे रहे हुए पदार्थो को देखता हो, देखने की इच्छा रखता हो तो वह मुनि क्या ? इर्यापथिकी क्रिया का स्वामी बन सकेगा ? या सांपरायिकी क्रिया का स्वामी बनेगा ?

भगवान ने कहा कि–हे गौतम ! त्यागी, बैरागी और संयमधारी स्वयं के आसपास, सामने, पीछे, उँचे तथा नीचे रहे हुए पदार्थो को देखने, जानने की इच्छावाला होने से सांपरायिकी क्रिया का मालिक बनेगा क्योंकि अनंतशक्ति सत्ता में रहनेपर भी वह आत्मा अनादिकाल से पौद्‌गलिक पदार्थ का सहवासी होने से और उस सहवास से भवभवांतर में सीमातीत दुःख भोगकर दुःखी होने से ज्ञानपूर्वक उन पौद्‌गलिक पदार्थ का सहवास छोड़ने के लिए ही दीक्षित बनता है तो भी ज्ञान और स्वाध्याय में रमणता नहीं होने से इच्छा या अनिच्छा से भी पौद्‌गलिक पदार्थ के प्रति मोह चाहे जैसे साधक को भी एक बार तो कषाक भाव उत्पन्न करवाने में पूर्ण समर्थ बनता है अथवा बन सकता है।

यद्यपि पौद्‌गलिक पदार्थ स्वयं जड़ होने से किसी को भी राग-द्वेषोत्पादक नहीं बनते है। परंतु सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र के आचरण

बिना या साधक स्वयं ही जानबुझकर इंद्रिय तथा मन का गुलाम बनता है तथा मन, वचन और काया पुद्गलिक भाव का घुटकारा दिलानेवाली संयमावस्था स्वीकारने के बाद भी उसके मानसिक जीवन में आलस्य, तपस्वी जीवन में शिथिलता, वाचिक जीवन में चंचलता, स्वाध्याय में प्रमाद और कायिक जीवन में असंयमी होने से प्रकारान्तर से भी त्याग की हुई वस्तुओं को स्वीकारने के लिए उसकी प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती जायगी परिणामस्वरुप इंद्रियो के घोड़े फिर से तूफान करेंगे तथा श्रद्धा, ज्ञान और वैराग्यपूर्वक त्याग की हुई वस्तु के प्रति मन में चंचलता तथा चपलता आयेगी। ऐसा होनेपर भावसंयम का त्यायकर पौद्गलिक द्रव्य को देखने के तथा निरीक्षण करने के भाव होनेपर स्वयं के पास, बगल में उंचे, नीचे कौन बैठे हैं। उनको जानने को इच्छा करेगी।

इस प्रकार इंद्रियों की चंचलता ही सरागता कहलाती है जो अत्यंत दुर्जेय है।

यद्यपि जीवमात्र को खाने, पीने, सोने, सुनने, स्पर्श या देखने की क्रियाएं सर्वथा अनिवार्य है। अर्थात् प्रतिक्षण हर स्थिति में भी देखे, सूंघे, स्पर्श या सुने बिना किसी को चल सके ऐसा नहीं है। ऐसा होनेपर भी जिनका हृदय मूढ़ है आंखो में लालसा है, आत्मा तथा परमात्मा के प्रति बेध्यान है, ऐसी जीवात्मा मनपसंद वस्तुओं को रसवाली बनाकर जितनी खा सके उतनी रसपूर्वक खानी, दूसरों को खिलानी, पोजीशन बढ़े वैसे वस्त्र तथा आभूषण पहनने आदि संसार के पौद्गलिक पदार्थों का भोग करनेवाले मनुष्य का प्रत्येक क्षण खाने, पीने, हिलने, घूमने और शरीर के टीपटाप में ही पूर्ण होगा।

हे गौतम! इसी कारण से पौद्गलिक पदार्थ के साधक चाहे गृहस्थ हो या मुनि तो भी सांपरायिकी क्रिया का वह मालिक बनेगा। संपराय अर्थात् कषाय जहां हो वहां सरागता काम करती है। जहां रवि आई वहां

उसकी बहन अरति भी हाजिर रहेगी। जैसे की वंदन करती स्त्री या पुरुष को केवल धर्मलाभ देने के लिए आंख का उपयोग करने में निखालसवृत्ती होती है परंतु जब उसी व्यक्तिपर दूसरी बार देखने में सरागता काम करती है। भोजन करने के लिए बैठने के बाद भोजन की सरसता और विरसता पर ध्यान जाना यह सरागता ही हैं।

जीवन के प्रत्येक प्रसंग में या उपयोग में आनेवाले प्रत्येक पदार्थ में रति हो वह सरागता और अरति हो वह सद्वेषता जो दोनों कषाय हैं।

यद्यपि द्रव्य–क्षेत्र–काल और भाव की अपेक्षा से सरागता का त्याग करना कठिन है तो भी अपने आत्मा की ट्रेनिंग सरागता पर काबू रखने की होनी चाहिये जो निकट भविष्य में मोक्ष के मार्गपर आरुढ करवाने की कारण बनेगी।

गोचरी पानी या देव दर्शन जाते समय संयमी की आगे, पीछे बगल में देखने की प्रवृत्ति में सरागता ही काम करती है जबकि वैरागी साधक को स्वयं की इर्यासमिति सिवाय कहीं भी ख्याल नहीं होता है।

"कभी किसी साधक का श्रुतज्ञान इस प्रकार का हो कि इस भयंकर जमाने में वनवास छोड़कर वसति में रहे श्रीमंत तथा उनकी पत्नी के बीच में रहकर किसी से बोले चाले तथा देखे नहीं तो यह तो सर्वथा बुद्धु के लक्षण है और गृहस्थ भी उसे बुद्धु कहेंगे।

इस प्रकार की मान्यता को भगवतीसूत्र पसंद नहीं करता है क्योंकि इसमें इर्यासमिति आदि आठों प्रवचनमाता का लोप होना संभव है क्योंकि असंमय की मात्रा प्रतिक्षण बढ़ने से साधक के भाग्य में भी पतन ही रहेगा और असंयमी आत्मा उत्सूत्र प्ररुपक और उत्सूत्र आचरण करनेवाला होता है।

अतः हे गौतम ! संयम ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

भगवान की वाणी सुनकर सभी प्रसन्न हुए।

योनि विषयक प्रश्नोत्तर :

गौतमस्वामी के पूछने से भगवान ने योनि के तीन भेद कहे हैं :—

(१) शीत योनी (२) उष्ण योनी (३) शीतोष्ण योनी।

"तैजस और कार्मण सूक्ष्म शरीरवाले जीव को स्वयं के किये हुए पुण्य और पाप कर्म के फल भुगतने के लिये औदारिक आदि शरीर को धारण करना पड़ता है। नये शरीर को धारण करने के लिए जिस स्थान में आवे वह योनी कहलाती है।"

"जन्म लेने का स्थान ही योनी है।"

"शुक्र तथा रज का मिश्रण होने के बाद वहां जन्म लेनेवाले योग्य जीव जिसमें मिश्रित हो उसे योनी कहते हैं।"

उस योनि का स्थान नियत नहीं होने से जैसे गाय के शरीर में फोड़ा हुआ तथा उसमें कीड़े पड़े तो जन्म लेनेवाले कीड़े की योनी गाय का शरीर है।

लकड़ी, चावल, गुड़, बासी रोटी आदि में उत्पन्न होनेवाले जीवों की योनी लकड़ी, चावल, गुड़ आदि ही कहलायेगा।

इसप्रकार गाय, भैंस, स्त्री आदि के शरीर में उत्पन्न होनेवाले जीव वहां आवे वही उनकी योनी कहलायेगी।

इसप्रकार अनंतानंत जीव का जन्म लेने का स्थान भी अनंत है तो भी स्पर्श, रस गंध आदि के कारण से उनकी संख्या ८४ लाख है। अर्थात् ८४ लाख स्थान में ही जीवों का जन्म होता है।

जैसे कि–कंडे में उत्पन्न होनेवाले जीव बेइंद्रिय तेइंद्रिय तथा चउरिन्द्रिय भी होते हैं। परंतु उन सभी की योनी कंडा (छाणा) ही कहलायेगी। अब हम आगे बढ़े।

हे प्रभु ! नर्कगति में उत्पन्न होनेवाले जीव को शीत योनी, उष्ण योनी या मिश्र योनी में से कौन सी होती है ?

भगवान ने कहा कि–नर्क के जीव शीत, उष्ण और शीतोष्ण तीनों प्रकार की योनीवाले होते है। जिस स्थान में जन्म ले वहां शीत स्पर्श हो तो शीत योनी, उष्ण स्पर्श हो तो उष्ण योनी तथा कुछ शीत और कुछ उष्ण स्पर्श हो तो शीतोष्ण योनी है।

तात्पर्य यह है कि रत्नप्रभा शर्कराप्रभा, वालुका प्रभा तथा पंकप्रभा आदि चार नर्क में उत्पन्न होनेवाले जीव का स्थान शीत स्पर्श होने से वे नारक भी शीत योनीवाले हैं।

धूमप्रभा, तमःप्रभा और तमस्तमप्रभा नरकों में नारक का उत्पत्ति स्थान उष्णयोनीवाला है। समस्तदेव तथा गर्भज जीवों की शीतोष्ण योनी है। अग्निकाय जीव की उष्ण योनी है। शेष रहे हुए पृथ्वीकाय, अपकाय वायुकाय, वनस्पतिकाय, विकलेन्द्रिय समूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य में तीन प्रकार की योनी होती है।

हे प्रभु ! योनी कितने प्रकार की है ?

गौतम ! सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित तीन प्रकार की योनी है। जिस जीव का जन्मस्थान सचित्त हो वह सचित्त योनी, जन्म स्थान अचित हो वह अचित्त योनी तथा सचित्त–अचित्त दोनों हो वह मिश्रयोनी होती है।

नारक तथा देव का उत्पत्ति स्थान अचित ही होता क्योंकि देव देवशय्या में तथा नारक कुंभीपाक में जन्मते हैं। यह स्थान अचित्त होता है। गर्भज मनुष्य और तिर्यंच की मिश्र योनी होती है। वैसे ही पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों को भी मिश्र योनी कही है। गर्भ में जन्म लेनेवाले को मिश्र योनी इसलिए

कही है कि मिश्रित हुए शुक्र तथा रज के परमाणु अचित्त है तथा गर्भाशय सचित्त होने से मिश्र योनी मानी है। स्थावर और समूर्च्छिम जीव की योनी भी मिश्र योनी मानी है।

हे गौतम ! दूसरे प्रकार से योनी तीन प्रकार की बताई हैं।

(१) संवृत्त योनी (२) विवृत्त योनी (३) मिश्र योनी।

एकेन्द्रिय जीव, नारक तथा देव जीवों की योनी ढंकी हुई होने से संवृत योनी है। विकलेन्द्रिय जीव की खुली योनी होने से विवृत्त होती है।

जबकि गर्भज पंचेन्द्रि तिर्यंच और मनुष्य की मिश्र योनी है। एकेइंद्रिय जीव की संवत योनी है। नारक की संवृत्त योनी का स्थान गवाक्ष जैसा होता है और देव की देवशय्या भी ढंकी हुई होती है।

चौथे प्रकार में भी हे गौतम योनी के तीन भेद हैं :

(१) कूर्मान्नत (२) संखावर्त और (३) वंषीपत्र।

पहली योनी में तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलदेव तथा वासुदेव जैसे महापुरुष जन्म लेते हैं।

दूसरी योनी चक्रवर्ती के स्त्रीरत्न की होती है जो गर्भोत्पादक नहीं है।

शेष जीवों की वंशपत्री योनी होती है।

हे प्रभु ! वेदना कितने प्रकार की है।

भगवान ने कहा की हे गौतम ! शीत, उष्ण तथा मिश्र तीन प्रकार की वेदना होती है।

जिससे ठंड का स्पर्श हो वह शीत वेदना।

गर्मी का स्पर्श हो वह उष्ण वेदना।

कही ठंड तथा कही गर्मी हो वह मिश्र वेदना।

नारक जीव को शीत तथा उष्ण वेदना होती है।

इस प्रकार असुरकुमार से वैमानिक तक जानना।

वेदना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार प्रकार की है—

द्रव्यवेदना—द्रव्य की अपेक्षा से जो वेदना हो, अर्थात् पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी वेदना को द्रव्य वेदना कहते हैं।

नर्क भूमि के द्रव्य परमाणु अत्यन्त अशुभ, गन्दे, काले, सड़े, बीभत्स और भयंकर पीड़ा करनेवाले होने से नर्क के जीव जो वेदना भुगतते हैं वह द्रव्य वेदना है।

क्षेत्रवेदना—नर्कभूमि का क्षेत्र ही भयोत्पादक है शीत तथा उष्ण है अतः नर्क भूमि के जीव भी क्षेत्र वेदना को ही भुगतते हैं।

काल वेदना—हाथ में पड़ी हुई बेड़ी के समान आयुष्य कर्म जघन्य से या उत्कृष्ट से जितने समय तक का हो उसमे से एक समय भी कम नहीं हो सकता है तथा कोई भी नहीं कर सकता उनका अनपवर्तनीय आयुष्य होने से उन नारकों को परमाधामी द्वारा चाहे जैसे मरने के कारण मिले तो भी वे हर परिस्थिति मे आयुष्य कर्म का एक क्षण भी कम नहीं हो सकता है।

भाव वेदना—कभी परमाधामी का परस्पर मारकाट न भी हो तो भी नर्क भूमि को त्रासजनक पीड़ा से अत्यन्त पीड़ित और सीमातीत दुःखी बने हुए उन नर्क के जीवो को स्वयं के पुर्वभव के पाप याद आते ही बेहद क्रोध तथा शोक आदि मानसिक पीड़ा को लेकर वे भाव वेदना को भुगतते है। पूर्वभम के मनुष्य अवतार को स्वयं के विभंग ज्ञान द्वारा देखते ही उनको स्मृति हो जाती है और सताती है। वे यह सोचकर दुःखी होते है कि—"हाय हाय! मेरा अहं पोषण, समाज मे मेरा रुबाब रहे अतः मिथ्याभिमान मे आकर घर आकर घर, पुत्र, पुत्री और स्त्री को श्रृंगारने में, बड़े से बड़ा श्रीमंत बनने में, बड़े उद्योग, कारखाने, पंद्रह कर्मदान के व्यापार, गणिका, जुआरी, शराबी, मछलीमार, कसाई तथा गुंडे के साथ किये गये व्यापार द्वारा धन इकट्ठा करने में बहुत ही खराब कार्य किये,

झूठ प्रपंच करके अनेक के साथ बैर बांधा, भाईयों के प्रति भी स्वार्थी बना। हजारों, लाखों के दानपुण्य किये तो भी अहं पोषण के लिये, सफेद कपड़े में आडंबर से रहा अनेक संस्थाओं का ट्रस्टी बना तो भी मेरी बददानत के पोषण के लिये। इस प्रकार देव दुर्लभ मनुष्य अवतार बिगाड़ा और नर्क भूमि में आया। मेरा इकट्ठा किया हुआ धन वहां का वहां रहा, माया के लिये किये गये पापों की गठरी मेरे सिरपर रही वह मुझे अकेले को ही भुगतना पड़ेगा। अब मुझे कौन बचायेगा ? इस प्रकार शोक संताप करते हुये नारक बहुत ही भाव वेदना को भुगतते हैं।

हे गौतम! उपरोक्त चारों प्रकार की वेदनायें सभी संसारी जीव भुगत रहे हैं। मनुष्य भी ईर्ष्या, क्रोध आदि के कारण अन्दर ही अन्दर वेदना भुगतते हैं। देव को भी भाव वेदना होती है।

हे गौतम! दूसरी भी तीन वेदना है—

(१) शारीरिक (२) मानसिक (३) मिश्रवेदना।

जिनको द्रव्य मन मिला है उन संज्ञी जीवों को छोड़कर बाकि के सभी असंज्ञी एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संमूर्च्छिम तिर्यंच और मनुष्य को शारीरिक वेदना अस्पष्ट, अकथनीय और असह्य होती है।

पृथ्वीकायिक जीव का घात दो प्रकार से होता है–(१) स्वशस्त्र (२) परशस्त्र। अर्थात काली मिट्टी के साथ सफेद मिट्टीका, भूरे रंग कीमिट्टी तथा पिली मिट्टी के साथ मिश्रण होते ही पृथ्वीकायिक जीव परस्पर घातक बनते हैं। यह स्वशस्त्र वेदना कहलाती है क्योंकि सफेद मिट्टी और कालीमिट्टी के जीव अलग-२ होते हैं। परस्पर भिन्न प्रकृति के होने से एक दूसरे के घातक हैं। अतः संयमधारी मुनिराज को एक गांव से दूसरे गांव में प्रवेश करते ही दंडासन से अथवा रजोहरण से पैर पूजने को कहा है।

कुल्हाड़ी, हल, फावड़ा आदि परशस्त्र है।

पानीकाय जीव का घात—

पानीकाय के जीव को भी स्वशस्त्र तथा परशस्त्र दो तरह के घात हैं। एक कुंए के पानी के जीव के साथ दूसरे कुंओं के पानी के जीव के साथ शत्रुता होती है इसीलिए दयालु मनुष्य कुएं में से पानी निकालने के बाद तथा पानी छानने के बाद कपड़े पर रही हुई जीवाणी को भी उसी कुंए में डालते हैं। अग्नि, विष, शक्कर, गुड़, त्रिफला, राख आदि पदार्थ पर शस्त्र है।

अग्नि यदि पानी का शत्रु है तो पानी को उबालते ही वे जीव मरेंगे ही। इस प्रकार से त्रिफला गुड़, राख डालकर बनाये हुए पानी में पानी-काय के जीव मरे बिना नहीं रहेगें। इसलिये उबला हुआ पानी पीनेवाले जैनमुनियो के लिए कराता हुआ यह आरंभ पाप नहीं बनेगा क्या?

जबाब इस प्रकार है कि, अनंतानंत जीवराशि से भरे हुए इस संसार में जलकाय भी अनंतजीवों से परिपूर्ण है और वे सभी जीव आँख की पलक मारने से भी कम आयुष्यवाले होते हैं। पानी में रहे हुए सूक्ष्म अपकाय के जीवो की हत्या का प्रश्न रहता नहीं है क्योकि वे जलाने से जलते नही मारने से मरते नहीं क्योंकि उनका आयुष्य इतना कम होता है कि उनको मारने की भावना के पहले ही वे स्वयं ही मर जाते है। परंतु उनमें रहे हुए बादर अपकाय जीव अन्तर्मुहूर्त के आयुष्यवाले होने से वे प्रति अन्तर्मुहूर्त में जन्मते हैं और मरते हैं। तथा दूसरे के प्रयोग से भी मरते हैं।

ऐसा होनेपर भी प्राणीमात्र को स्वयं के जीवन के लिए पानी, आहार और हवा बहुत अनिवार्य है। इसके बिना कोई भी गृहस्थ या मुनि भी बच नहीं सकते हैं। सूर्योदय से सूर्यास्त तक मुनिराज को भी पानी पीने का अनिवार्य होने से परशस्त्र द्वारा हनन किये बिना पानी का मटका मुनिराज स्वयं के पास रखे तो घड़े के पानी में प्रतिक्षण जीव जन्मेंगे तथा उस जीवों की हत्या का निमित्त भी मुनिराज ही बनेगे। उस स्थिति में पानी को उबालते समय एक ही बार में जीव अवश्य मरेंगे पर उस पानी

में कुछ समय की मर्यादा तक जीवों की उत्पत्ति नहीं होगी। इसीलिए जैनमुनि हमेशा उबला हुआ पानी पीते हैं। दूसरी बात यह है कि किसी भी प्रकार का आहार-पानी मुनि के निमित्त हो तो वह ग्रहण नहीं कर सकता है। पाप-भीरु तथा दयाधर्मवाले गृहस्थ भी इसी प्रकार निरर्थक जीव हिंसा से बचने के लिए स्वयं के लिए भी पानी उबालेंगे तथा मुनियों को भी वहोरायेगें। इसी कारण से जैन मुनी पाप में से बच जाते हैं।

बेशक! पानी वापरने के लिए मुनि जितना उपयोग रखेगा उतना ही अहिंसक बनेगा। नहीं तो गृहस्थ के किये हुए आरंभ समारंभ में मुनि की आत्मा भी हिंसा में निमित्त बन जायेगी।

उबले हुए पानी की अचित्तता की मर्यादा करते राख, त्रिफला, गुड़ आदि की मर्यादा बहुत ही कम होती है। अतः उस पानी का उपयोग सूर्योदय से सूर्यास्त तक करना सर्वथावर्जित है।

अग्निकाय का परशस्त्र पानी, राख आदि है।

सिर्फ वायुकाय की दया के लिए मुहपत्ती में डोरी डालकर बांधनेवाले अहिंसको को समझना चाहिए कि मुंह में से गर्म वायु बाहर निकलनेपर वायुकाय के जीव यदि मर जातेहो तो गर्मी के मौसम मे पसीने से तर शरीर वाले अहिंसक जिस खिड़की या दरवाजे से जोरदार हवा आती हो तो उस स्थान पर कैसे बैठ सकते हैं? और यदि बैठ जाय तो पसीने के शरीर से वायुकाय के जीव की क्या दशा होगी? हवा मिलने से अहिंसक का दावा करनेवाले को थोड़ी शांती जरुर मिलेगी पर उन जीवों की हत्या का क्या होगा?

शरीर तथा कपड़े को झटककर रखेगा तो कपड़े झटकने से वायुकाय के जीव मरेगें या जीयेगें?

इस प्रकार वनस्पतिकाय के जीव ठंड, धूप वर्षा की मार सहन करने के बाद भी छेदन, भेदन, दहन तथा मरण का भयंकर दुःख भोग रहे हैं।

इस प्रकार एकेन्द्रिय जीव शारीरिक वेदनाओं को भुगतते हुए ही अपना आयुष्य पूर्ण करते हैं।

सभी नारक, देव तथा गर्भज प्राणी भी शारीरिक तथा मानसिक वेदना भुगतते हैं।

तीसरे प्रकार की तीन वेदनाएं :

हे गौतम ! जीव को शाता अशाता वेदना होती है। जैसे कि नारक तथा स्थावर को एकान्त अशाता वेदना होती है परन्तु तीर्थंकर के जन्म के समय उसी समय शाता वेदना का अनुभव होता है। देव तथा मनुष्य को शाता वेदना होती है पर पापकर्म को भुगतते समय अशाता वेदना भी होती है। स्वयं के आयुष्य कर्म के छः महिने रहने पर देव भी अशाता का अनुभव करते हैं।

सुख-दुख तथा मिश्र रुप में भी वेदना तीन प्रकार की कही है।

दोनों में भेद इतना ही है कि उदय प्राप्त वेदनीय कर्म का शाता-शात रुप अनुभव ही तो शाता-अशाता कहलाती है और दूसरे के द्वारा उदीर्यमाण वेदनीय के अनुभव को सुख-दुख कहते हैं।

हे गौतम! आभ्युपगामिकी और औपक्रमिकी वेदना दो प्रकार की होती है।

आभ्युपगामिकी वेदना अर्थात् शरीर पाप का घर है भव भवांतर में शरीर के कारण ही अनंतानंत कर्म का उपार्जन किया है परन्तु सम्यग्ज्ञान का अभाव होने से किसी दिन भी स्वयं के किये हुए पाप का विचार आत्मा को नही आया तथा आता भी नहीं तो फिर उन पाप को निर्मूल करने के लिए सम्यक्चारित्र के प्रति श्रद्धा कैसे उत्पन्न होगी ? ऐसी स्थिति में महा-पुण्य योग से मिला हुआ मनुष्य अवतार बिलकुल निष्फल गया है साथ ही साथ जानबूझकर पापाचरण के द्वारा जीव को अधिक वजनदार बनाया है।

राधावेध के समान किसी समय जैन मुनि के शरण में आये हुए जीव को संसार की असारता का विचार आता है तब पाप के द्वार संपूर्ण रूप से बन्द करता है तथा साथ ही साथ पुराने अनिकाचित कर्म को उदीरणा करण द्वारा नाश करने के लिए विशेष प्रयत्न करता है। जैसे कि पापपूर्ण शरीर का ज्ञानपूर्वक दमन करने के लिए बालों का लोच करेगा, गर्मी के दिन में जान बुझकर धूप में कार्योत्सर्ग करेगा तथा ऐसा करके काया की सुकोमलता की परवाह किये बिना छोटे बड़े उपसर्ग को सहन करेगा। मानसिक इच्छाओं का दमन करेगा। किये हुए दोषों का छेदन करेगा तथा फिर से दोष न लगे उसके पहले ही पुद्गलिक पदार्थ तथा स्वयं के सगे सम्बन्धीओं को छोड़ने का प्रयत्न करेगा। स्वयं के गुरु चरणों के राग के शिवाय अपने स्वार्थ का राग छोड़ देगा तथा ऐसा करके वह आभ्युपगामिकी वेदना का मालिक बनेगा।

औपक्रमिकी वेदना :

उदीरणा करण के द्वारा जानबुझकर उदय में लाई हुई वेदना को समताभाव से भुगतेगा। जैसे कि गुरुवंदन करके नवकारशी का पच्चक्खाण लिया है, गोचरी ले जाने के लिए श्रावक भी आये हैं, भूख भी लगी है इतना होनेपर भी स्वयं की भूख को काबू में रखने के लिए नवकारशी का पच्चक्खाण के बदले में पोरसी का पच्चक्खाण धार लेगा। इत्यादि अनेक प्रसंगों में मन को मारकर समतापूर्वक सहन करेगा।

ये दोनो प्रकार की वेदनाएं पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य को ही अनुभव होती है।

तिर्यंच के लिए हम जानते हैं कि तीर्थंकर देव भगवान महावीर स्वामी के केवल दो शब्द द्वारा ही उपशमित हुए चंडकौशिक नाग ने बील में ही स्वयं का मुँह डालकर अद्भूत संयम का परिचय दिया। दूसरे जीवों

को मारने की शक्ती होनेपर भी चीटीयों की भयंकर वेदना सहन की और नर्क गति में जानेवाले नागराज ने देवगति प्राप्त की।

चौरासी लाख योनी में से केवल गर्भज तिर्यंच और मनुष्य ही औपक्रमिकी वेदना के मालिक होते है क्योंकि जानबूझकर ज्ञानपूर्वक भुगतने की वेदना संयम के अभाव में भुगती नही जातीं और गर्भज जीव को छोड़कर दूसरे कही भी संयम नहीं होता है।

हे गौतम! एक महीने की पर्यायवाला भिक्षु, प्रतिमा को धारण करता हुआ जिसने शरीर के संस्कार को त्यागा है, वध–बंधन का प्रतिकार रोका है तथा देव, मनुष्य और तिर्यंच के उपसर्ग को सम्यक् प्रकार से सहन करता है वही भिक्षु आराधक है।

हे गौतम! कोई साधु अकृत्य का सेवन करने के बाद वह अकृत्य की आलोचना या प्रतिक्रमण करता है वह आराधक है पर विराधक नहीं।

हे गौतम! अकृत्य स्थान का सेवन करने के बाद वह मुनि यह विचारे कि "मृत्यु के समय उसकी आलोचना कर लूंगा" पर आलोचना किये बिना ही मर जाय तो वह आराधक नहीं बनता है परन्तु यदि आलोचना करले तो आराधक बन सकता है।

देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी की सत्य स्वरूप वाणी सुनकर गौतमस्वामी बहुत ही खुश हुए तथा भगवान को बारम्बार वंदन तथा नमनकर स्वयं की आराधना में दत्तचित्त होते हैं।

॥ दूसरा उद्देशक समाप्त ॥

शतक दसवां उद्देशक—३

देव स्वयं की शक्ति से कितने देवावासों का उल्लंघन करते है।

राजगृही नगरी में देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी स्वयं के विशाल साधुसाध्वी स्वरूप संघसे परिवृत होकर समवसरण में बिराजमान है।

मनुष्य भव में ज्ञान, चारित्र के पालन द्वारा उपार्जन किये हुए पुण्य कर्म को भुगतने के लिए देव देवी, इन्द्र इन्द्राणिये भगवान के चरणों मे बैठी है।

हिरण, सिंह, गाय शेर, सांप मोर, चूहा, बिल्ली जैसे जन्मजात वैर को धारण किये हुए प्राणी भी समतारस प्रधान अहिंसा की मूर्ती, दया के सागर भगवंत के चरणों में स्वयं के वैर को भूलकर समवसरण में बैठे हैं।

सभी प्राणी स्वयं के स्वार्थ को त्यागकर भव भवांतर मे कभी नहीं सुनी हुई अमृतवाणी को सुनने में मस्त बने है। सभी का एक ही लक्ष्य है कि आज गौतमस्वामी कौनसा प्रश्न पूछेंगे? और महावीरस्वामी उसका क्या जवाब देंगे।

फिर गौतमस्वामी ने पूछा कि—हे दया के सागर! स्वयं की आत्म-शक्ति के द्वारा एक देव दूसरे के देव आवासों को कितनी संख्या में उलांघ सकता है।

भगवान ने कहा कि हे गौतम! जैसे स्वयं के पुण्य कर्म के तारतम्य भाव के कारण कितने मनुष्य अल्पऋद्धिवाले होने से बहुत मजदूरी करते है

पर स्वयं के कुटुम्ब का पालन करने मेंभी असमर्थ रहते हैं। दूसरे प्रकार के पुरुष मध्यमवर्गीय जो अधिक धनवान भी नहीं तथा गरीब भी नहीं तथा तीसरे महाभाग्यशाली होने से अधिक सुखी रहते हैं। इसीप्रकार देवलोक के देव भी अल्पर्धिक, समानार्द्धिक और महर्द्धिक होते है। सद्‌बुद्धि, सद्विवेक औरसत्पुषार्थ की कमजोरीवाले मनुष्य भी धर्म कर्म करतेहै पर उनकी सूझ बूझनहीं होने से अनमने हृदय से धर्म ध्यान के अनुष्ठान करते हैं। रोते रोते दान पुण्य करते है। बीमारी, लाचारी के कारण से ब्रह्मचर्य पालते है। कीर्ति मानपत्र तथा बेटे बेटियों की सगाई के लिए दान पुण्य करने के कारण देवलोक में जन्म लेते है तथा अल्पर्द्धिक देव बनते है।

व्रत थोड़े पाले हो इन्द्रियो तथा मन को कुछ संयमित किया हो वे समानार्द्धिक देव बनते हैं।

सम्यग्‌दर्शनपूर्वक देशविरति या सर्वविरति पाली हो वे भाग्यशाली महर्द्धिक अर्थात् मोटी ऋद्धि समृद्धि के मालिक बनते है। देव चाहे अल्पर्द्धिक हो या महर्द्धिक हो तो भी उनको वैक्रिय शरीर और लब्धी मिलने से इन्द्र की आज्ञा के आधीन होकर उतर वैक्रिय शरीर के द्वारा चाहे जहाँ जा सकते हैं।

यहां पर प्रश्न यह है कि देव उत्तर वैक्रिय शरीर के बिना स्वयं की आत्मऋद्धि से कितने देवआवासों को पार कर सकते हैं? क्योंकि देव स्वाभाविक ही सुखी, शान्त तथा स्वयं के पुण्य कर्म को भोगने में ही मस्त होते हैं। अत्यंत आवश्यक कार्य बिना उनको आवागमन आदि में रस नहीं होता है।

भवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक देव के लिए एक समान बात होने से गौतम पूछते हैं कि–हे प्रभु! देव स्वयं की शक्ति के द्वारा चार देवआवासों को उलांघ सकते हैं? और उससे आगे अन्य देव की सहा- के बिना जा सकते है? भगवान ने कहा कि 'हां' अर्थात् कोई भी देव स्वयं

की शक्ति से एक–दो–तीन–चार तथा पांच देवआवासो तक जा सकते है तथा आगे जाने के लिए अन्य देव की सहायता की जरूरत पड़ती है।

देवआवासो का उल्लंघन का नियम :

अल्पर्द्धिक देव महर्द्धिक देव के बीच में से नहीं निकल सकता है। समानर्धिदक देव भी समानर्धिदक देव के बीच में से नहीं निकल सकता है परन्तु सामनेवाले का प्रमाद या असावधानी का लाभ लेकर बीच में से निकल सकता है। सामनेवाले देव को घुमस के अंधकार द्वारा मोहित करने के बाद ही बीच में से निकल सकता है तथा वह भी पहले ही मोहित करता है बाद में नहीं।

महर्धिदक देव अल्पर्धिदक देव को मोहित किये बिना या करके भी बीच में से निकल सकते हैं।

अल्पर्धिदकदेव महर्धिदक देव के बीच में से नहीं निकल सकता है।

समर्धिदक देव समर्धिदक देव के बीच में से नहीं निकलता है कभी निकले तो भी उसकी असावधानी के कारण ही निकलता है।

अल्पर्धिदक देवी भी समर्धिदक देव के बीच में से नहीं निकलती है। इसी प्रकार सभी का जानना।

घोड़े के पेट का वायु :

हे प्रभु ! दौड़ते घोड़े के पेट में से 'खु खु' ऐसा आवाज क्यों आती है?

भगवान ने कहा कि हे गौतम ! दौड़ते हुए घोड़े के हृदय और यकृत में से 'कर्बटक' आवाज निकलती है।

प्राणधार में वायु की मुख्यता :

अनंत संसार की अनंत माया को केवलज्ञानी के बिना कोई नहीं

जान सकता है इसीसे संसार की माया के सत्यार्थ तक पहुँचने में समर्थ नहीं है जभी तो 'ईश्वर' को बीच मे लाकर संसार का सभी भार ईश्वर पर डाल देते हैं। पर मैं तो यह कहता हूँ कि सुखःदुख संयोग–वियोग आदि द्वन्द्वो के भुगतने के लिए शरीर में रहे हुए पांच प्रकार के वायु ही मुख्य काम करते है। वह इसप्रकार है–

(१) प्राणवायु–प्राणिमात्र को स्वयं के प्राण को धारण करने के लिए तथा सुखमय जीवन जोने के लिए श्वांस तथा निश्वांस की क्रिया मुख्य है जो प्राणवायु के आधीन है। बाहर की वायु नाक से अंदर ले वह श्वांस है तथा बाहर निकाले वह निश्वांश हैं।

(२) अपानवायु–शरीर में रही हुई विष्टा, मूत्र और गर्भ आदि को बाहर निकाल लेने का काम अपानवायु का है।

(३) समानवायु–खाये हुए आहार तथा पीये हुए पानी को पचाकर असार ऐसे रस आदि को स्वयं के स्थान में पहुँचाने का काम यह वायु करता है।

(४) उदानवायु–शरीर में उत्पन्न हुए रस, खून आदि को ऊँचा ले जानेवाला यह वायु है।

(५) व्यानवायु–संपूर्ण शरीर मे व्याप्त है।

उपरोक्त पांचो प्रकार की वायु पौद्‌गलिक होने से जड़ है और प्राणीमात्र को पुण्य और पाप के भुगतान कराने में स्वतः शक्तिवान है।

संसार के अनंत पौद्‌गलिक पदार्थ के निर्माण और संहार मे ईश्वर की विद्यमानता को किसी ने देखा नहीं, देखता नहीं तथा भविष्य में भी देखेगा नहीं।

आहारः—शरीर में रहे हुए पांच प्रकार के वायु को किसी भी प्रकार की हानी न होने देना ही सुखी जीवन है अर्थात आहार, विहार और

निहार को संयमित रखनेवाले भाग्यशाली ही जीवन के अन्तिम सांस तक आराम से जी सकते हैं। यदि आहार, पथ्य, न्याय्य तथा सुपाच्य न रहा तो पांचो वायु भी अमर्यादित होकर जीवन क्रिया को दुःख दायी बना देंगे।

डॉक्टर, इन्जीनियर होना, तथा बड़ा उद्योगपति बनना बड़ी पदवी पाकर हजारो मनुष्यो को कंट्रोल में रखना आसान बन सकता है परन्तु सुख और समाधिपूर्वक जीवन जीने की कला तो भले भले को भी आसाध्य होती है।

क्योंकिः—संसार भर के भौतिक पदार्थ की प्राप्ति मे संयम की आवश्यकता होनी चाहिए इसमे मतभेद हो सकता है परंतु सुखपूर्वक जीवन जीने मे तो संयम की मर्यादा सर्वथा अनिवार्य है।

जीवन के अंतिम श्वांस तक खाने–पीने और कमाने की चिन्ता मे रहनेवाले, परिग्रह और व्यापार को अमर्यादित करनेवाले जीव संयम के शत्रु ही होते हैं। इसीलिए उनका खान-पान, हित-मित और पथ्य नहीं होता है। फलस्वरुप अमर्यादित, असंयमित अहित, अमित, अपथ्य और अपाच्य आहार को करनेवाले के शरीर में स्थूलता आ जाती है तथा उठने बैठने में भी कष्ट महसूस होता है। कोई सी भी वेदना होते ही हार्टफेल होने में देर नहीं लगती है।

विहार और निहार–

मिली हुई अधिक श्रीमंताई के नशे मे शरीर तथा उसके अंगोपांग मे आलस्य का प्रवेश होने से विहार अर्थात् व्यायाम के सिद्धांतो को नही माननेवालो का अपानवायु दूषित होने के कारण जठराग्नि कमजोर हो जाती है। शरीर के पाचक तत्व काम करने मे शिथिल हो जाते है तथा शरीर की सुकोमलता का ध्यान रखनेवाले अजीर्ण के रोगी बनते है। इतना होनेपर भी जीभ इन्द्रिय के गुलाम बनकर अपथ्य भोजन नहीं छोड़ सकते । परिणाम में अपानवायु अधिक भड़क जाता है, अजीर्ण

होने से बुखार खांसी हाथ पांव मे दर्द, ब्लडप्रेशर आदि रोग उनके शरीर में हमेशा के लिए घर कर जाते है अजीर्ण के रोगी की वीर्यशक्ति भी दूषित बनती है तथा उस समय भी अपने वीर्यनाश को नहीं रोक सकते हैं क्योंकि अजीर्ण रोगियों की कर्मेन्द्रियें भी स्वयं का संयम खो देने से वीर्य पतन अवश्यंभावी हैं। प्राकृतिक या अप्राकृतिक वीर्यशक्ति के नाश का प्रभाव रक्त पर हुए बिना रहेगा नहीं फलतः उनका रक्त पतला तथा अशक्त बनता है उसके कारण मल और मूत्र पर असर होती है। मल तथा मूत्र त्याग में भी कठिनाई होती हैं। इस प्रकार वीर्यनाश का प्रभाव रक्त पर और रक्त की असर मलपर पड़ती है। फलस्वरुप हार्ट अटेक, ब्लडप्रेशर, डायबिटीज, मसा तथा कैंसर तक के रोग हो जाते है।

इसप्रकार आहार–विहार और निहार में असंयमित बने हुए जीव बेमौत मरते हैं।

देवदुर्लभ मनुष्य अवतार के साथ साथ मानवता, आर्यखानदान और तीर्थंकर देव का धर्म प्राप्त करने के लिए इस जीवने किसी भव में—

(१) कष्ट साध्य तपोमय जीवन बनाया होगा।

(२) मुनिराज के सहवास में रहकर अत्यंत दुःसाध्य त्याग धर्म स्वीकारा होगा।

(३) दीन-दुःखी और अनाथों को भोजन पानी दिया होगा।

(४) स्त्री की विद्यमानता में भी संयमी जीवन बनाया होगा।

(५) अनेक जीवो को अभयदान दिया और दिलाया होगा।

इसप्रकार अनेक कष्ट साध्य धर्म की आराधना करने के बाद ही मानव को अरिहंत का शासन मिलता है। अतः मिले हुए मानव जीवन में—

(१) आजीवन विषय-वासना के कीड़े बनने की अपेक्षा।

(२) परिग्रह की माया में डूबे रहने की अपेक्षा।

(३) हिंसक, दुराचारी और भोग विलासी की सोबत करने की अपेक्षा।

(४) पुत्र, परिवार की माया में आसक्त बनने की अपेक्षा।

(५) व्यापार, रोजगार में दीन-रात लीन बनने की अपेक्षा।

स्वयं की जीवनरुपी कंपनी मे दोनो भागीदार फायदा में रहे यही प्रयत्न करना श्रेष्ट है। व्यापार में दोनो भागीदार परस्पर वफादारी से रहे तो कंपनी को किसी भी प्रकार का नुकसान न होगा। इसी प्रकार अनादिकाल से चलती अपनी जीवन कंपनी में भी दो भागीदार है—

(१) चैतन्य शक्ति संपूर्ण अपनी आत्मा।

(२) हमारा शरीर तथा उसके साथ संसार का व्यवहार।

इस प्रकार दोनो भागीदारों से संचालित जीवन कंपनी में आत्मा नाम के सेठ की परवाह किये बिना तथा उसकी वफादारी का त्याग करके रात–दिन संसार के रागरंग में डूबे रहे तो मृत्यु के समय आत्म स्वयं के पुण्य कर्म को समाप्त कर परलोक की यात्रा करनेवाली बनेगी। अतः चौबीस घंटे में से घंटा आध घंटा भी परामात्मा का भजन, किर्तन, पूजन सामायिक, प्रतिक्रमण, पुण्य आदि सत्कार्य करने चाहिए जिससे आत्मा तुष्ट पुष्ट और भवांतर में भी सुखी बने।

प्राणायाम—शारीरिक सुख केवल खाने पीने या राग रंग से नहीं पर ध्यान प्रक्रिया का अभ्यास करने से ही शरीर, इन्द्रिया, वायु, मन औ आत्मा भी कंट्रोल में आयेगी।

आत्मकल्याण की ट्रेनिंग लेने के लिए प्राणायाम सुलभ मार्ग है। इसके द्वारा शरीर में रहा हुआ वायु स्वाधीन बनेगा। मन, वचन तथा काया के रोग भी नष्ट होंगे।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप से जगत के जीवों के ऊपर अनंत उपकार करनेवाले देवाधिदेव अरिहंत का ध्यान जब करने का होता हैं

तब सभी संकल्प का त्याग करके मन, वचन और काया की एकाग्रता से पद्मासन या सुखासन से बैठकर घंटे आध के लिए वायु का दमन करना चाहिए।

स्वस्थतापूर्वक बैठकर बाहर की वायु को नाक द्वारा अन्दर लेना वह पूरक कहलाता है तथा अन्दर लिए हुए वायु को मीनिट आधा मीनिट रोकना कुंभक होता है। धीरे-धीरे अन्दर की वायु को बाहर निकालने की क्रिया को रेचक कहते है।

पूरक प्राणायाम करने से और धीरे–धीरे उसका अभ्यास करने से शरीर पुष्ट बनता है और व्याधिये दूर होती है।

धीरे धीरे कुंभक का समय बढ़ाने से हृदय कमल विकसित होता है तथा अज्ञान की गांठो का भेदन होता है। शरीर में ताकत बढ़ती है और रेचक प्राणायाम से पेट की सभी बीमारियाँ तथा कफ दूर होता है।

स्वरोदय विज्ञानः–शरीर के रोम रोम मे आत्म प्रदेशों की तरह वायु भी व्यापक बनकर रहता है। अतः शरीर का पिंजड़ा जब छोड़ने का होता है तब आत्मा के साथ वायु भी पलायन होता है। इसी कारण से मरने की अवस्था पर आये हुए मनुष्य के नाक के छिद्रों में रुई रखकर निर्णय करते है।

शरीर में जहां जहां वायु रहती है वहां वहां मन भी रहता है अतः 'यत्र यत्र वायुः तत्र तत्र मनः' और 'यत्र यत्र मनः तत्र तत्र वायु' कहलाता है। इसलिये योगी मन को जीतने के लिये पवन का विजय अनिवार्य मानते है क्योकि उसके बिना मन पर विजय पाना कठिन है।

इसी कारण को लेकर शरीर की वायु को स्थिर करना हो, कार्योत्सर्ग करना हो यहांतक कि कुंभ स्थापना, मूर्ति स्थापना, दीक्षा आदि और श्रेष्ठतम विधिविधान प्राणायामपूर्वक ही करने होते हैं।

मानव के शरीर में रही हुई प्राणवायु किसी समय नाक की बांयी ओर से, किसी समय दायीं ओर से तथा किसी समय दोनो तरफ सेबा हर निकलती है। प्रत्येक मनुष्य के नाक में दो छिद्र होते है। नाक के बांये तरफ के छिद्र को चन्द्र या इड़ा नाड़ी तथा दायी को पिंगला नाड़ी कहते हैं तथा छिद्रो को सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं।

इड़ा नामक चन्द्र नाड़ी को शास्त्रकार ने अमृतनाड़ी कहा है जो शरीर तथा आत्मा में अमृत की पुष्टी करनेवाली तथा सोचे हुए काम को करनेवाली होती है। चन्द्रस्वर अर्थात नाक के बांयी ओर से हवा नीकलती हो तब मनुष्य या स्त्री का मन प्रसन्न, गात्र ठंडे, तथा दिमाग शीतल होता है। उस समय में किये हुए कार्य को सफलता मिलती है।

सूर्यस्वर अर्थात् पिंगला नाड़ी चलती हो तब मनुष्य को गर्मी, दिमाग में उष्णता तथा मानसिक दुःख का अनुभव होता है। साधारण बातचीत में भी क्लेष हो जाता है। इसमें शीघ्र फलप्रद कार्य करने चाहिए।

जब दोनों नाक में से हवा निकलती हो तब व्यवहारिक कार्य में हानि की संभावना होने से फलप्रद कार्य नहीं करने चाहिये अतः परमात्मा का ध्यान तथा मौन श्रेष्ठ है।

संसार के मनुष्य स्वयं के प्रत्येक कार्य में सुखी होना चाहते है। अतः परम दयालु जैनाचार्यों ने अमुक अमुक कार्य के लिए अलग अलग नाड़ी नियत की है। अर्थात कुछ कार्य उसी नाड़ी में करना जिससे शान्ति प्रदान हो तथा विघ्नों का नाश हो।

चन्द्रनाड़ी में करने के कार्य :

(१) जिन मंदिर बंधानेवाले भाग्यशाली जब स्वयं का चन्द्र स्वर चलता हो तब पाया डाले।

(२) मूर्ति की प्रतिष्ठा के समय चन्द्रस्वर का विशेष ध्यान रखना। लग्न के समय भी चन्द्रस्वर हो तो सोने में सुगंध। मूर्ति बिराजमान तथा वासक्षेप भी चन्द्रस्वर में करना (डालना)।

(३) मंदिर के शिखरपर कलशारोपण भी चन्द्रस्वर में करना।

(४) पौषधशाला, धर्मशाला, दानशाला, स्कूल, घर, बंगला, कोट नये बनाने हो या उसमें प्रवेश करना हो तो भी चन्द्रस्वर में ही करना।

(५) छोटी बड़ी तीर्थयात्रा का प्रस्थान भी चन्द्रस्वर में करना।

(६) दीक्षा के समय दीक्षा देनेवाले गुरु स्वयं के चन्द्रस्वर में ही दीक्षा देवें।

(७) किसी को मंत्र देना हो तो भी चन्द्रस्वर में। मंत्र लेनेवाले का भी चन्द्रस्वर हो तो उत्तम परन्तु मंत्र की साधना के समय सूर्यस्वर चलता हो तो बहुत श्रेष्ठ।

(८) नया मकान गांव या शहर में प्रवेश करना हो तो चन्द्रस्वर का ध्यान रखना।

(९) नये कपड़े आभूषण चन्द्रस्वर में पहनने।

(१०) गांव, देश या दुकान का कार्य भी चन्द्रस्वर में करना।

(११) बीमार मनुष्य चन्द्रस्वर में दवाई लेवे।

(१२) बाग या खेत में चन्द्रस्वर के समय बीज डाले।

(१३) राजा या बड़े पुरुष की मुलाकात भी चन्द्रस्वर में करे।

(१४) राज्यगद्दि, सत्ता की कुर्सी तथा टेबलपर भी चन्द्रस्वर में बैठना।

(१५) नई दुकान खोलनी, गादी बिछानी तथा नौकरीपर भी चन्द्रस्वर में जाना।

(१६) नदी, नाला के पुल भी चन्द्रस्वर में बांधने।

(१७) जवाहरात का कार्य भी चन्द्रस्वर में सीखना।

(१८) शादी के लिए घर से बाहर, घोड़ा, तथा मोटर में बैठना तथा पाणीग्रहण भी चन्द्रस्वर में करना, स्थायीकार्य तुष्टी-पुष्टी या मांगलिक कार्य भी चन्द्रस्वर में करने।

(१९) सुबह बिस्तर भी चन्द्रस्वर मे पहले बांया पैर नीचे रखकर छोड़ना। सुषुम्ना नाड़ी के समय कभी नहीं छोड़ना। सुषुम्ना के समय बिस्तर छोड़ने से सारा दिन क्लेष में जायगा।

उपरोक्त सभी स्थायी तथा मांगलिक कार्य चन्द्रस्वर मे ही करने चाहिए।

सूर्य नाड़ी में करने के कार्य :

(१) नई विद्या का ग्रहण सूर्यस्वर (दाहीना) में करना।

(२) न्यायाधीश को कौनसा भी निवेदनपत्र देना हो तो सूर्यस्वर में।

(३) शत्रु को हराने का कार्य सूर्यस्वर में करना।

(४) भूत प्रेत तथा जाड़ा का कार्य सूर्यस्वर में।

(५) डॉक्टर या वैद्य रोगी को दवा सूर्यस्वर में देवें पर रोगी दवाई चन्द्रस्वर मे लेवे।

(६) किसी के साथ लड़ाई सूर्यस्वर में।

(७) भोजन सूर्यस्वर में करना परंतु पानी चन्द्रस्वर में पीना चाहिए।

(८) कामसेवन सूर्यस्वर में करना जिससे पुरुषार्थ की हानि कम होगी।

(९) नई डायरी तथा चोपड़े सूर्यस्वर में लिखना।

(१०) सूर्यस्वर मे ही लड़ाई में जाना।

(११) समुद्र की यात्रा भी सूर्यस्वर में करनी।

(१२) शत्रु के घर सूर्यस्वर में जाना।

(१३) उधार लेना या देना भी सूर्यस्वर में।

(१४) कोर्ट में सूर्यस्वर में जाना।

उपरोक्त कार्य सूर्यस्वर में करना। सुषुम्ना नाड़ी चलती हो तब परमात्मा का भजन, प्रतिक्रमण, जाप और मोक्ष की आराधना के सिवाय दूसरे कौनसे भी कार्य नहीं करना नहीं तो हानि, रोष, लड़ाई झगड़े ही भाग्य में रहेगे।

प्रज्ञापनीकी भाषा :

प्रचलित भाषा के चार भेद हैं–

(१) सत्या (२) मृषा (३) सत्यामृषा (४) असत्या अमृषा।

इन चारों में से पहली तीन भाषाओं का विवेचन पहले भाग में आ गया है। इस चालू प्रश्न में चौथे नम्बर की बारह भेदवाली भाषा को प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं ? या नहीं ? इस बात की चर्चा है।

गौतमस्वामी पूछते हैं कि-हे प्रभु ! "आश्रय करने योग्य वस्त्र का आश्रय लेंगे, बहुत खायेंगे, खड़े होंगे, बैठेगें, पढ़ेंगे आदि" और दूसरी प्रकार से आमंत्रण आदि भाषा मे प्रज्ञापनीयत्व है ? अर्थात् कि वह भाषा क्या प्रज्ञापनी भाषा कहलाती है ?

पूछने का आशय यह है।

जो अहिंसक मनुष्य है वे हमेशा सत्य भाषा बोलते हैं। जो हिंसक है वे हमेशा मृषा भाषा बोलते हैं। तीसरे प्रकार के मनुष्य के भाषा व्यवहार में कुछ सत्यता तथा कुछ असत्यता होती है।

जबकि चौथे प्रकार की मनुष्य की भाषा व्यवहार में केवल लोक व्यवहार अर्थात् लोक में बोली जानेवाली तथा समझनेवाली भाषा मे

सत्यता या असत्यता नहीं होती है। केवल लोक व्यवहार मुख्य होता है। बोलने के आशय में खराबी असत्यता या स्वार्थन्धता आदि दोष नहीं होने के कारण यह चौथी भाषा भाषासमिति के योग्य बनती है। चारों भाषा में से पहली सत्या भाषा तथा चौथी असत्या अमृषा भाषापर ही भाषा समिति की छाप लगती है। बीच की दूसरी तथा तीसरी भाषा चाहे जिस आशय से बोली जाती हो तो भी उसका समावेश भाषा-समिति में नहीं होता है।

इस बात को भगवान महावीरस्वामी ने भी कहा कि-हे गौतम! "मैं आश्रय करूंगा आदि भाषा मे प्रज्ञापनीयत्व रहता है और मृषात्व नहीं है। उसके बारह प्रकार की भाषा में मृषात्व नहीं है। उसके बारह प्रकार निम्न है:—

(१) आमंत्रणी भाषा—हे जिनदत्त! हे सुबोध! हे विनयचन्द्र: इस प्रकार का संबोधन जिस भाषा में हो वह आमंत्रणी भाषा है। इसमें तथा नीचे लिखी दूसरी भाषाओं में सत्य असत्य तथा मिश्र के लक्षण नहीं परंतु स्वयं का व्यवहार चलन के कारण इस भाषा मे निर्दोष तत्व होने से यह भाषा मृषा भाषा नहीं है।

(२) आज्ञापनी भाषा—हे शिष्य! मेरी पुस्तक ले आओ। अन्य को प्रवृत्त करानेवाली भाषा आज्ञापनी है।

(३) याचनी भाषा—'मुझे भिक्षा दो' इत्यादि।

(४) पृच्छनी भाषा—"यह बात कैसे बन सकती है?" आदि।

(५) प्रज्ञापनी भाषा—'हिंसा करनेवाला मनुष्य दुखी बनता है। इसमें शिष्यों को उपदेश देने का भाव है।

(६) प्रत्याख्यानी भाषा—जैसे कि 'साधुओं को आवश्यक से अधिक वस्त्र-पात्र आदि रखना नहीं, इसमे मांगनेवाले को अधिक परिग्रह से रोकने के लिए प्रतिबंध वचनो का प्रयोग है।

(७) इच्छानुलोभा भाषा—शुभकार्य करने के लिए प्रवृत्तहुए मनुष्य को कहना कि, हां तुम यही करो मुझे भी पसंद आयेगा। पूछने वाला पूछता है कि 'मैं' साधु महाराज की सेवा करुं? तो जबाब देना कि हां करो। मुझे भी वह करने योग्य लगती है। मैं दीक्षा लेऊँ? ऐसे पूछने वाले को कहना कि हां भाई तू जरुर दीक्षा ले। वक्ता के अनुकूल बोलना इस भाषा का आशय है।

(८) अनभिग्रहीत भाषा—जिस भाषा में निश्चित अर्थ का बोध न हो उसे अनभिग्रही भाषा कहते हैं। जैसे कि 'मैं' अब क्या करुं? यह पूछनेवाले को कहना कि तुमको पसंद हो वह करो।

(९) अभिग्रहीत भाषा—अर्थ को स्पष्ट करनेवाली भाषा है। जैसे कि, 'ये वस्त्र, पात्र आदि धार्मिक उपकरण है। अभी तुम यह करो अभी तुमको यह नहीं करना चाहिए।'

(१०) संशयकरणी भाषा–अनेक धर्म को कहनेवाली होने से सुनने वाले को संशय पैदा करे जैसी भाषा। जैसे कि 'कोई कहता है कि सैन्धव लाओ' इसमे सैन्धव अर्थात् सिन्ध देश में जन्मा हुआ मनुष्य, घोड़ा तथा सेंधा नमक। ये सैन्धव के तीन अर्थ होते हैं। हरि शब्द के विष्णु, वानर, सिंह आदि अर्थ होते हैं। ऐसी भाषा सामनेवाले के मन में संशय उत्पन्न कराती है फिर भी इस भाषा का अर्थ प्रकरणगम्य होता है। जैसेकि भोजन के समय प्रयुक्त सैन्धव का अर्थ नमक ही होता है। रणमैदान में जाते समय उसी शब्द का अर्थ घोड़ा होता है। हरी को नमस्कार यहाँपर हरि से मतलब विष्णु है। मथुरा में हरि ज्यादा हैं वहांपर मतलब बन्दर ज्यादा है। हरि खतरनाक प्राणी है यहाँपर हरि का अर्थ सिंह होता है। इस प्रकार जैसा प्रकरण होता है। समझनेवाला समझ जाता है।

(११) व्यक्ता भाषा—लोक प्रसिद्ध भाषा कहनी।

(१२) अव्यक्ता भाषा—गंभीर अर्थवाली भाषा बोलनी जैसे कि

'श्रावकस्य महत्पापं प्रतिक्रमण कर्मभिः' इसपद का सीधा अर्थ करने में आवे तो श्रावक को प्रतिक्रमण करने से महापाप लगता है। पर यह अर्थ सिद्धांत से सर्वथा विरुद्ध है तथा बोलनेवाला झूठा भी नहीं। अतः इसका अर्थ ऐसे करना कि 'श्रावकस्य' इस शब्द में श्रावक शब्द को संबोधन में रखना और 'स्य' में 'छो' छेद के अर्थवाले धातु को प्रेरक अर्थ में दूसरे पुरुष का एकवचन समझना। अर्थात् कि "हे श्रावक" प्रतिक्रमण कर्मभि: महत्पापं स्य—छिन्छि अर्थात् प्रतिक्रमण द्वारा पाप को छेद डाल।

इस प्रश्नोत्तर के पीछे यह आशय है कि, 'मैं आश्रय करुंगा' इत्यादि जो भाषा है वह भाषा है जो भविष्यकाल का बोध करानेवाली है। भावीकाल की अपेक्षा से उसमें कुछ कहने में आया है। परन्तु बीच में विघ्न की संभावना होने से वह बोली हुई भाषा विसंवादिनी भी हो सकती है। भाषा का प्रयोग करनेवाला स्वयं के लिए जब बहुवचन का प्रयोग करते हैं तब एकाध विषयवाली भाषा होनेपर भी बहुवचन में बोलने से उसमें अयथार्थता भी आ जाती है। आमंत्रणी आदि जो भाषा है वह विधिप्रतिषेधरहित होने से सत्य भाषा की तरह अर्थ प्रतिपादन में नियत नहीं। अतः अव्यवस्थित है। अतः ऐसी भाषा बोलनी चाहिए? कि नहीं?

भगवान ने कहा कि-हे गौतम! मैं आश्रय करुंगा आदि जो भाषा है वह प्रज्ञापनी भाषा है अतः असत्य नहीं हैं। 'आश्रयिष्यामि' में वर्तमान के योग की अपेक्षा अनवधारण रुप होनेपर भी 'आश्रय करुंगा' आदि रुप विकल्प गर्भवाली है। गुरु या स्वयं एक होने पर भी बहुवचन का प्रयोग सत्कार होने से अर्थाख्यानिका है अर्थात स्वयं के वाच्यार्थ को प्रगट करनेवाली होने से प्रज्ञापनी भाषा है और आमंत्रणी आदि जो भाषा है उसमे वस्तु की तरह विधान नहीं तथा प्रतिषेध भी नहीं तो भी निरवद्य पुरूषार्थ साधक होने से वह प्रज्ञापनी भाषा है।

भगवान महावीरस्वामी की यथार्थ भाषा को सुनकर गौतमस्वामी ने कहा कि–हे प्रभु ! आप ही यथार्थवादी हो अतः वंदनीय, पूजनीय, नमस्करणीय, स्मरणीय तथा सम्माननीय भी आप ही हो यह कहकर गौतम स्वामी ने भगवान को वंदन, नमस्कार तथा सम्मान किया।

॥ तीसरा उद्देशक समाप्त ॥

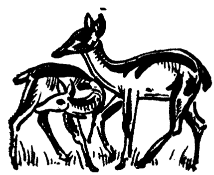

शतक-१० उद्देशक–४

त्रायस्त्रिंश देव का अधिकार :

इस उद्देशक में देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी के शिष्य श्याम हस्ती मुनि ने गणधर गौतमस्वामी से प्रश्न पूछे हैं अर्थात् प्रश्नकर्ता श्याम हस्ती मुनि है तथा उत्तरदाता गौतमस्वामी है। बाद में गौतमस्वामी को जब शंका होती है तब भगवान ने जवाब दिया है।

प्रत्येक देवलोक मे देव के १० भेद होते हैं। वह निम्न है—

(१) इन्द्र–चार निकाय के देवों के अधिपति।

(२) सामानिक–इन्द्र की तरह ऐश्वर्य संपन्न तथा अमात्य, पिता गुरु उपाध्याय की तरह होते है। सिर्फ इन्द्र की तरह आज्ञा नहीं दे सकते है।

(३) त्रायस्त्रिंश–पुरोहित तथा मंत्री की तरह नियुक्त होते हैं।

(४) पारिषद्य–मित्र तथा सभासद् के समान।

(५) आत्मरक्षक–हथियार आदि लेकर इन्द्र के पीछे रहते हैं।

(६) लोकपाल–फौजदार के समान।

(७) अनिकाधिपति–सेनापति के समान।

(८) प्रकीर्णक–प्रजाजन जैसे।

(९) अभियोग–नौकर जैसे।

(१०) किल्विषिक–हरिजन के तुल्य।

इन दस भेद में से ये प्रश्नोत्तर त्रायस्त्रिंश देव के ही है। व्यंतर तथा ज्योतिष देवलोक में त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल नहीं होते है। बाकि सभी देवलोक के दस भेद हैं। नवमें, दसवें ग्यारहवें तथा बारहवें में एक एक ही इन्द्र होता है। ऊपर के नवग्रैवयेक तथा अनुत्तरविमान में इन्द्र नहीं होते हैं।

उस समय वाणिज्य ग्राम में स्थापित समवसरण मे विराजित हुए भगवान महावीरस्वामी ने बारह पर्षदा को उपदेश दिया। सभी उपदेश सुनकर बहुत प्रसन्न हुए तथा अपने-२ घर गये।

एक दिन गौतम गणधर के पास श्यामहस्ती मुनि पधारे। जो रोहक अणगार की तरह भद्रिक, सरल तथा स्वयं के संयम के प्रति पूर्ण सावधान थे। उन्होने गौतमस्वामी की तीन बार प्रदक्षिणा देकर विनयपूर्वक पूछा कि हे गौतम! असुरेन्द्र चमर को सहायता करनेवाले तैत्रीसवी संख्या मे त्रायस्त्रिंश देव हैं?

जवाब में गौतम ने कहा कि-हे श्यामहस्तिन् उन इन्द्र को त्रायस्त्रिंश देव होते हैं और उनका पूर्वभव कहा वह निम्नप्रकार से है :—

जंबुद्वीप के भरत मे काकंदी नगरी थी। उसमे श्रमणोपासक की संख्या बहुत थी। उनमें से ३३ श्रमणोपासक मुख्य, परस्पर प्रेमी, एक दूसरे को मदद करनेवाले, भयरहित, श्रीमंत, जीवादि तत्त्व के ज्ञाता और पाप पुण्य के भेद को जाननेवाले थे। ये ३३ श्रमणोपासक पहले स्वयं के श्रावक धर्म का बहुत ही कड़क रुप से पालन करनेवाले थे। धर्मसंबंधी उनके विधिविधान केवल स्वयं के आत्मकल्याण के लिए होने से सामायिक में मन, वचन तथा काया के दोष को टालनेवाले थे। वीतराग भगवंत के मंदिर मे चौराशी आशातनाओं से सर्वथा दूर रहते थे। पौषध के अठारह दोष को भी टालनेवाले थे। संविग्न अर्थात् मोक्ष की इच्छावाले थे। सांसारिक कार्यों से भय रखनेवाले थे इसीलिए वैराग्यवंत थे।

इतना होनेपर भी उनके वैराग्य में ढीलापना आता गया। क्रियाओं में उपयोग संज्ञा कम होती गई। परिणामस्वरुप सामायिक, पौषध तथा मंदिर की आशातनाओं के प्रति लापरवाह बन गये। आलस्य, प्रमाद, दूसरे की निंदा, निद्रा विकथा और उपाश्रय मे रहनेवाले दूसरो के साथ गप्पे मारने आदि की प्रवृत्ति बढ़ती गई। उपाश्रय के भक्त बने साथ साथ मुनिराज के छिद्रान्वेषी बने। क्रियाओं में प्रमाद आने के कारण उपयोग रहित बनते हैं। अवसर आनेपर साधु-साध्वी को भी ताने देने लगे। तथा दूसरों की क्रियाओं में गलती निकालने की आदत बन गई।

धर्मानुष्ठान में उनको थकावट आने लगी। प्रमादवश लिए हुए व्रत में शिथिलता और अतिचार बढ़ते गये। दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप, और वीर्याचार ठंडे पड़ गये।

इसप्रकार स्वछंद बनकर जीवन के शेष वर्ष पूर्ण किये। अन्त मे अर्धमास के उपवास के साथ संलेखना व्रत में शरीर का त्याग किया पर

स्वयं की भूल, अपराध, अतिचार आदि का भाव प्रतिक्रमण तथा आलोचना न कर सके। द्रव्य उपवास किये परन्तु भावरहित किये। लिये हुए व्रत नहीं पाल सकने के कारण असुरकुमार चमरेन्द्र के त्रायस्त्रिंश देवरुप में उत्पन्न हुए।

असुरकुमार चमरेन्द्र के ये त्रायस्त्रिंशदेव हुए तो क्या पहले के इन्द्र को त्रायस्त्रिंशदेव नहीं थे?

श्यामहस्ती मुनि के इस प्रश्न से गौतमस्वामी भी शंकाशील बन गये वे दोनों भगवान के पास गये तथा वहां गौतमस्वामी ने इस प्रश्न को पूछा भगवान ने कहा कि–हे गौतम! त्रायस्त्रिंशदेव के नाम शाश्वत होने से चमरेन्द्र के पहले भी वे देव थे वर्तमान मे भी रहेगे। च्यवन हुए देव के स्थान पर दूसरा जीव देव बनकर स्थान लेता है और वह त्रायस्त्रिंश के नाम से ही जाना जाता है।

हे भगवन्त! वैरोचेन्द्र बलिइन्द्र को त्रायस्त्रिंश देव है? भगवान ने कहा है इनके वर्णन में कहा कि भरतक्षेत्र के बिभेल नगरी मे ३३ श्रमणोपासक थे उनके भी श्रावकधर्म में शिथिलता आने के कारण तथा १५ दिन का संथारा करके त्रायस्त्रिंश देव हुए। शेष चमरेन्द्र के तुल्य ही जानना।

नागकुमार धरणेन्द्र को भी त्रायस्त्रिंश देव है वे द्रव्यार्थिक नयसे शाश्वता है और पर्यायार्थिक नयसे च्यवन होने पर दूसरा जीव उस स्थान पर देव होता है। सभी देव का च्यवन एक साथ नहीं होता है।

इस प्रकार भूतानंद, वेणुदेव, वेणुदारी, हरि हरिहंस, अग्निशिख, अग्निमाणव, पूर्व, वसिष्ठ, जलकांत, जलप्रभ, अमितगति, अमितवाहन, वेलंब, प्रभंजन सुघोषा और महाघोष देवेन्द्र के लिए जानना।

(ये सभी भवनपति के इन्द्र हैं)

चार निकाय के देव में भवनपति और व्यंतर–वाणव्यंतर की श्रेणी कनिष्ठ होती है। मनुष्य अवतार में लिए हुए व्रत नियम तथा तपस्या में शिथिलता तथा अतिचार के कारण वे भवनपति तथा व्यंतर देव बनते है। राजसिक या तामसिक भावना के कारण व्रत तथा तपस्या करनेपर भी कनिष्ठ देवयोनि प्राप्त होती है। जीवन शुद्ध सात्विक तथा मोहमायारहित हो तो वैमानिकत्व प्राप्त होता है। वैमानिकदेव के जो त्रायस्त्रिंश देव होते है वे मनुष्य अवतार में व्रत का बराबर पालन करनेवाले तथा अतिचारों की आलोचना करनेवाले होते है।

इस प्रकार ईशान से अच्युत तक के इन्द्र के लिए जानना। त्रायस्त्रिंश देव का वर्णन सुनकर गौतमस्वामी विचार करते है कि श्रावक की आराधना तथा विराधना में इतना अन्तर होता है अतः श्रद्धा में मजबूत रहना कठिन है यह स्पष्ट है।

॥ चौथा उद्देशक समाप्त ॥

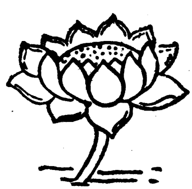

शतक-१० उद्देशक–५

इन्द्र स्वयं की सभा में दिव्य भोग भोगते हैं क्या ?

उस समय भगवान महावीरस्वामी राजगृही नगरी के गुणशील चैत्य के उद्यान में पधारे धर्मोपदेश सुनकर पर्षदा अपने-२ घर गई।

उस समय देवाधिदेव के अनेक शिष्य तप तथा संयम से स्वयं की आत्मा को भावित करते थे जो जाति संपन्न, विनयी, विवेकवंत तथा जीवन मरण की इच्छा बिना के थे।

चौदहपूर्व के पूर्ण ज्ञाता, द्वादशांगी के रचयिता, चार ज्ञान के मालिक गौतमस्वामी विनयपूर्वक प्रभु के पास आकर वंदनापूर्वक पूछते हैं कि हे प्रभो ! चमरेन्द्र की कितनी राणियां है ?

भगवान ने कहा कि काली, रात्रि, रजनी, विद्युत और मेघा नाम की पांच पटराणियाँ है। एक एक के आठ आठ हजार देवियों का परिवार है। स्वयं की वैक्रिय शक्ति से आठ-२ हजार देवियों को विकुर्वी सकने में समर्थ होते है। इस प्रकार पांचो रानियों के ४० हजार देवी परिवार को 'त्रुटिक' अर्थात् वैक्रीयकृत देवी शरीर का समूह कहते है।

हे प्रभो ! असुरराजकुमार चमरेन्द्र स्वयं की चमरचंचा राजधानी की सुधर्मा सभा में चमर नाम के सिंहासनपर बैठकर चालीस हजार वैक्रिय शरीरधारी देवियों के समूह के साथ दिव्यभोग भोग सकते है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि—हे स्थवीरो ! ऐसा संभव हो नहीं सकता है क्योंकि चमरेन्द्र की चमरचन्चा राजधानी में स्थित सुधर्मा सभा में माणवक चैत्य स्तंभ में वज्र की बनी हुई गोलाकार डिबियों में अनेक

जिनेन्द्र भगवान की अस्थियां रखी हुई है। अर्थात् तीर्थंकर भगवान का निर्वाण कल्याणक मनाने के लिए उपस्थित ६४ इन्द्र, भगवान के अग्नि संस्कार होने के बाद उनकी अस्थियों को अपने-२ विमान में ले जाते है तथा माणवक स्तंभ में वज्र की डिब्बी में रखते हैं। दीर्घ तपस्वी तीर्थंकर देव का शरीर अत्यंत पवित्र होने से उसके निर्वाण के बाद भी उनकी अस्थियां देव और देवेन्द्र के लिए—

अच्चणिज्जाओ—अर्चना करने योग्य होती है।

वंदणीज्जाओ—वंदनीय बनती है।

नमंसणिज्जाओ—नमस्कार करने लायक होती है।

पूयणीज्जाओ—पूजनीय बनती है।

सक्कारणिज्जाओ—सत्कार करने योग्य होती हैं।

सम्माणणिज्जाओ—मन, वचन तथा काया से सम्मानीय होती हैं।

इसके उपरांत भी वे देवेन्द्र तीर्थंकर भगवंत की अस्थियों को मंगलमयी तथा चैत्य समान मानते हैं अर्थात् मंगल तथा कल्याणकारी होने से उनका अर्चन, वंदन, पूजन, नमन, सत्कार सम्मान सर्वथा उचित हैं।

सम्यग्दर्शन की आराधनापूर्वक प्राप्त हुई पापभीरुता के कारण वे इन्द्र चैत्य स्वरुप मंगलकारी उन अस्थियों का बहुमानपूर्वक विनय करते है।

पापभीरुता अर्थात् "पापकार्यों से डरना" केवल शब्द बोलने में ही भीरुता का दिखावामात्र या चर्चा करनी उचित नहीं है परंतु जीवन व्यवहार के प्रत्येक प्रसंग में शुद्ध आचरण को कायम रखना ही पाप भीरुता है माना कि संसरी को भोग विलास तो जरुर होता है परंतु यदी वह पापभिरु है :—

(१) तो विवाहित होने के पहले ही विचारपूर्वक पाप का मर्ग सर्वथा बन्द करने के लिए दीक्षित बनेगा जिससे पाप के द्वार बन्द हो जायेगें।

(२) गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बाद भी "मैथुनकर्म पापमय ही है" अतः तीर्थंकर मूर्ति, जिनमंदिर, उपाश्रय, गुरुमहाराज, साध्वीजी, स्वयं के माता-पिता तथा पुत्रोकी शर्म रखकर विवेक तथा मर्यादा का पालन करेगा।

(३) पर्व तिथी, पर्युषण, तथा आंयबिल के पवित्र दिनों में तथा चतुर्दशी, अष्टमी, शुक्ल पंचमी, अमावस्या, पूर्णिमा जैसे पवित्र दिनों में भी पापकार्य से दूर रहने का प्रयत्न करेगा।

(४) माता पिता की मृत्यु तिथि, स्वस्त्री के बीमारी के दिन के अलावा भी खराब नक्षत्र, योग, तिथि, कारण आदि दिनों में भी मैथुन का त्याग करेगा। रेवती तथा मघा जैसे नक्षत्र टालेगा।

जिस नक्षत्र में स्त्री ने गर्भ धारण किया है उससे दशवें नक्षत्र में सन्तानका जन्म होता है। यदि रेवती नक्षत्र के दिन गर्भ धारण किया हो तो आश्लेषा में तथा मघा में गर्भ धारण किया हो तो मूल नक्षत्र में सन्तान जन्मती है जो गृहस्थ जीवन के लिए वह संतान कष्टदायक बनती है। इस प्रकार मैथुन कर्म को पाप माननेवाले विवेकी मनुष्य भी जैसे बने वैसे मैथुन कर्म को मर्यादित करते हैं तो फिर देवेन्द्र सम्यग्दृष्टि होने के कारण वीतराग भगवंत के मंदिर के समान अस्थिओं की विद्यमानता में मैथुन कर्म नहीं करते हैं।

मेरा कहना यह है कि असुरराज इन्द्र स्वयं की देव सभा में देवियों के साथ दिव्य भोग को भोगते नहीं है परंतु हे स्थविरों! वह चमरेन्द्र स्वयं की देव सभा में चमर सिंहासनपर बैठकर ६४ हजार सामानिक देव, ३३ त्रायस्त्रिंश देव, चार लोकपाल, पांच अग्रमहिषी, सात अनीक, सात अनीकाधिपती, ६४ हजार आत्मरक्षकदेव तथा दूसरे भी देव देवियों के साथ अर्थात् उन सबसे युक्त होकर भव्य, अछिन्न, नाटक, गीत, वाजिंत्र आदि के मधुर नादपूर्वक के गीत नाटक सुन सकते हैं।

इस प्रकार दिव्य नाटक, संगीत आदि देवताई ऋद्धि समृद्धि के आनंद में ही जीवन व्यतीत करते हैं।

हे स्थविरों ! सोमा राजधानी, सुधर्मा सभा, सोम सिंहासन, चमरेन्द्र के चार लोकपाल में से सोम नाम के लोकपाल को कनका, कनकलता, चित्रगुप्ता और वसुंधरा नामकी चार अग्रमहिषी होती है और एक-एक हजार देवियों का परिवार है। बाकि की सभी बातें चमरेन्द्र की तरह समझनी। उसी प्रकार से वैश्रमण का भी जानना।

बलीन्द्र को शुभा, निशुभा, रंगा, निरंगा और मदना नाम की पटराणियाँ हैं। प्रत्येक को आठ-२ हजार देवियों का परिवार है।

सोम नाम के लोकपाल को मेनका, सुभद्रा, विजया और अशनि नाम की पटराणियाँ है।

इस प्रकार भवनपति व्यंतर, वाणव्यंतर की पटराणियों के बारे में में जानना। अपनी-२ सभा में केवल मैथुन कर्म का त्याग समझना।

ज्योतिशिक देव के इन्द्र सूर्य को सूर्यप्रभा, आतपाभा, अर्चिमाली और प्रभंकरा नाम की राणियाँ है। चन्द्र इन्द्र को चन्द्रप्रभा, ज्योत्स्नाप्रभा, अर्चिमाली और प्रभंकरा नाम की राणियों का चार चार हजार देवियों का परिवार हैं।

मंगल को चार चार हजार देवियों के साथ विजया, वैजयंती, अपराजित नामक चार राणियाँ है।

इस प्रकार अंगारक, विकालक, लोहितक्ष, शनेश्चर, आधुनिक, कण, कणक कर्णवितानक आदि भावकेतु तक के ८८ ग्रहों की बात भी उपरोक्त प्रमाण से जाननी।

देवेन्द्रशक्र को पद्मा, शिवा, श्वेता, अंजु, अमला, अप्सरा, नवधिका और रोहीणी आठ आठ पटराणियाँ हैं।

इस प्रकार दूसरे इन्द्र की बात भी मूलसूत्र से जाननी।

॥ पांचवा उद्देशक समाप्त ॥

शतक दसवां इद्देशक—६

शक्रेन्द्र की सभा कहां है ?

गौतमस्वामी के पूछने से भगवान ने कहा कि–जंबूद्वीप के सुमेरूपर्वत के दक्षिण दिशा में रत्नप्रभापृथ्वी के बहुसम और रमणीयभूमि भाग के ऊपर चन्द्र, सूर्य ग्रह, नक्षत्र और तारा है वहां से बहुत कोड़ाकोड़ी योजन दूर सौधर्म नाम का देवलोक हैं। इस देवलोक में पांच बड़े विमान हैं।

(१) अशोकावतंसक।
(२) सप्तपर्णावतंसक।
(३) चंपकावतंसक।
(४) आमावतंसक।
(५) सौधर्मावतंसक।

इन पांचो विमानों की लम्बाई-चौड़ाई साढ़े बारह लाख योजन की है। शेष सूर्याभदेव के जैसा जानना।

यह शक्रेन्द्र बड़ी ऋद्धि, समृद्धि आदि तथा बड़े परीवार के ऊपर स्वयं का प्रभुत्व जमाते हुए सुखपूर्वक विहरता है।

॥ छठवा उद्देशक समाप्त ॥

शतक १० उद्देशक ७--३४

उत्तर दिशा में रहे हुए एकोरुक नाम के युगलिकों का एकोरुप आदि (द्वीप का वर्णन है।)

एक एक अन्तर्द्वीप का एक एक उद्देशक ऐसे २८ उद्देशक समझना।

सूत्रकार तथा टीकाकार ने जीवाजिगम सूत्र से जान लेने को कहा है।

॥ उद्देशक ७-३४ समाप्त ॥

समाप्ति वचन

द्रव्य, क्षेत्र, काल के ज्ञाता, स्याद्वाद के प्रचारक और पालक, अहिंसा संयम और तप के पालक, अनेक स्थानपर जीर्णोद्धार, तीर्थरक्षा, उपधान और उद्यापनकारक, नवयुग प्रवर्तक, शास्त्रविशारद ,जैनाचार्य स्व. १००८ श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज के शिष्य आगम व्यवहार के पूर्ण ज्ञाता शासनदीपक स्व. मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज के शिष्यरत्न न्याय–व्याकरण, काव्यतीर्थ पन्यास श्री पूर्णानंदविजय (कुमार श्रमण) महाराज स्वयं की अल्पमति से भगवतीसूत्र का १० वां शतक विवेचित किया है।

शुभं भूयात सर्वेषां जीवानाम्।
जीवा: सर्वे सम्यग्ज्ञानं प्राप्नुयु: ॥

॥ शतक दसवां समाप्त ॥

शतक ११ उद्देशक--१

गणधर श्री गौतमस्वामी और सुधर्मास्वामी को द्रव्य तथा भाव से नमस्कार करके तथा टीकाकार श्री अभयदेवसूरीश्वरजी का स्मरण करके ११ शतक शुरु करता हूँ।

इस शतक में निम्न बारह उद्देशक हैं:-(१) उत्पल, (२) शालूक, (३) पलाश, (४) कुंभी, (५) नालिक, (६) पद्म, (७) कर्णिका, (८) नलिन, (९) शिवराजर्षि, (१०) लोक, (११) काल, (१२) आलंभिक।

यहां उत्पल के कंद को शालूक कहते हैं।

पलाश अर्थात् खाखरे का वृक्ष।

कुंभी अर्थात् वनस्पति विशेष।

नालिक को कमल की नाल कहते हैं।

कर्णिका अर्थात् कमल के मध्य में केशर रुप तंतु होते हैं।

आलंभिका नगरी है।

उपरोक्त बारह उद्देशकों से समृद्ध यह शतक है।

पहले उद्देशक मे जो उत्पल (कमल) का वर्णन है उसको निम्नलिखित ३३ द्वार से विवेचित किया है। वह इस प्रकार है–उपपात, परिमाण, अपहार, अवगाहन, बंध, वेदन, उदय, उदीरणा, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग, उपयोग, वर्ण, रस, उच्छवास, आहार, विरति, क्रिया, बन्धक, संसार, कषाय, स्त्री वेदादि, बंध, संज्ञी इन्द्रिय, अनुबंध, संबंध आहार, स्थिति, समुद्घात, च्यवन तथा समस्त जीव का मूलादिकों में उपपात।

इसप्रकार उत्पल का प्रश्न उपरोक्त ३३ द्वार से निर्णित करने का है।

उस समय मगध देश की राजधानी राजगृही नाम की नगरी थी। वहां देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी पधारे और धर्मोपदेश सुनकर पर्षदा अपने २ घर गई तब गौतमस्वामी ने पूछा कि हे प्रभु ! उत्पल (कमल) जब एक पत्तेवाला हो तब वह क्या एक जीववाला होता है कि अनेक जीववाला ? जिसमें एक जीव हो वह एक जीववाला तथा बहुत जीव हो वह अनेक जीववाला कहलाता है।

भगवान ने कहा कि–हे गौतम ! एक पत्रावस्था में उत्पल एक जीव वाला होता है और जब उत्पल अनेक पत्रो से युक्त होता है तब अनेक जीववाला होता है अर्थात् अधिक पत्रों में जो दूसरे जीव उत्पन्न होते हैं उसी कारण वह अनेक जीववाला होता है।

मोहवश उपार्जित किये कर्मों के भार से अत्यंत बोझील बने हुए जीवात्मा को 'प्ले ग्राउंड' के फुटबाल की तरह प्रतिक्षण चौराशी लाख जीव योनी में भ्रमण करना अनिवार्य होता है। जिस जीव ने जिस प्रकार से दूसरे जीवों के साथ कर्म बंधन किया है उस ऋणानुबंध को भोगने के लिए ऋणानुबंधकर्ता को भी जन्म लिए बिना छुटकारा नहीं है। चाहे वह चक्रवर्ती, वासुदेव प्रति वासुदेव हो, सभी कर्म राजा की बेड़ी में जकडे होने से उसको उस स्थान पर जन्म लेना पड़ता है।

जैसे एक तालाब मे प्रविष्ट हुए मदोन्मत्त हाथी वहां विकसित हुए कमल के एक झाड़ को समूल अपनी सूंड से उखाड़कर स्वयं के मुंह में रखता है तथा आंख की पलक मारते ही कमल में रहे अनेक जीव हाथी के मुंह में जाकर समाप्त हो जाते हैं। सभी कोई देख सके ऐसी घटना में रहस्य इतना ही है कि हाथी के मुंह में गये हुए कमल के अनेक जीव के साथ हाथी के किसी भव का वैरानुबंध मुख्य कारण था। जिस कमल के जीव के साथ हाथी का वैर था वही कमल हाथी के सूंड में आकर नाश हुआ। जबकि तालाब में कमल अनेक थे तो भी इसी एक ही कमल

को हाथी ने क्यों स्पर्श किया ? दूसरे कमल अस्पर्श क्यों रहे ? इसका एक ही जवाब है कि हाथी तथा कमलों के जीवों का आपस में बैर था।

बैर से बंधे हुए दो जीव में से एक जीव बिच्छु के अवतार में तथा दूसरा जीव मनुष्य के अवतार में जन्म लेता है। जिस समय पूर्वभव का बैर कर्म का उदय आता है और दोनों में से जिसका बैर जोरदार निकाचित होता है। वह पीड़क बनेगा। मानो कि बिच्छु के जीव का बैर अधिक है तो दोपहर मे भी वह बिच्छु इस प्रकार आकर मनुष्य को डंख मारेगा कि उसकी खबर भी न पड़ेगी। इसी प्रकार मनुष्य का बैर अधिक होगा तो जब बिच्छु डंख मारने आयेगा तभी मनुष्य की नजर उसपर पड़ जायेगी तथा देखते ही उसे मार देगा या दूर फिकवा देगा।

"मैं भी तुमको अगले भव में रोते रोते जिन्दगी पूर्ण कराऊंगी' ऐसे नियाणे मे बंधे हुए दोनों जीव दंपत्ति के रुप मे जन्म लेते हैं और प्रेम प्यार में मस्त रहते हुए स्त्री परलोक सिधार जाती है तथा पुरुष उसकी याद में आजीवन झुरता रहता है। या पुरुष परलोक चला जाता है तो विधवा हुई स्त्री असहाय बनकर तड़फ तड़फकर जीवनपूर्ण करती है। इन दोनों के समान अपने ही जीवन के ढेरबंध कारण-कार्य में पूर्वभव का राग-द्वेष ही काम करते हैं।

गौतमस्वामी ने पूछा कि–हे प्रभु ! उस कमल में जो अनेक जीव हैं वे चारों गति में से आये होगे ?

३३ द्वार में से पहले उपपात द्वार का आश्रय करके यह प्रश्न पूछा है। सारांश यह है कि किस २ गति मे से जीवों का उस उत्पल में उपपात हुआ हैं ?

चराचर संसार को स्वयं के केवलज्ञान से प्रत्यक्ष करनेवाले भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि नर्क गति को छोड़कर बाकि सभी जीव उत्पल वनस्पति में अवतरित में होते हैं। कहा है कि एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय,

तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच मनुष्य और ईशान देवलोकपर्यंत के सभी देव भी वनस्पति में उत्पन्न होते हैं।

(उपपात द्वार पूर्ण)

(२) परिमाण द्वार—एक समय में कितने जीव उत्पल में उत्पन्न होते हैं ? जवाब में एक-दो-तीन जीव, अधिक से अधिक संख्यात तथा असंख्यात जीव उत्पन्न होते हैं ।

(परिमाण द्वार पूर्ण)

(३) अपहार द्वार—उस उत्पल में से जीवों को उस समय एक एक करके बाहर करने में आवे तो कितना समय लगेगा ?

उत्पल में से एक एक समय असंख्यात के हिसाब से जो बाहर निकालने में आये तो असंख्यात उत्सर्पिणी, असंख्यात अवसर्पिणी कालपर्यंत तक चालू रहे तो भी उन जीवों को बाहर नहीं निकाल सकते हैं ।

(४) अवगाहन द्वार—प्रभु ने कहा कि—कमल के शरीर की अवगाहना जघन्य से अंगुली के असंख्यातवे भाग जितनी और उत्कृष्ट से किसी समुद्र गोतीर्थ आदि की अपेक्षा से एक हजार योजन अधिक है ।

(५) बंधद्वार—उत्पल कमल के जीव ज्ञानावरणीयादि कर्म के बंधक होते हैं या अबंधक ?

प्रभु ने कहा कि—उत्पल का एक जीव ज्ञानावरणीय कर्म का बंधक होता है । परंतु जब अनेक जीववाला उत्पल होता है तब समस्त जीव ज्ञानावरणीय कर्म के बंधक होते है । उसी प्रकार दर्शनावरणीय से अंतराय कर्म तक जानना । केवल आयुष्य कर्म के आश्रय से एक जीव और अनेक जीव भी अबंधक हो सकते हैं अथवा कोई एक जीव बंधक और अबंधक भी होते हैं अथवा अनेक जीव बंधक अबंधक होते हैं । इत्यादि भांगे जानने ।

(६) वेदनद्वार---उत्पलस्थ जीव क्या ज्ञानावरणीयादि कर्म के वेदक होते हैं ? या अवेदक ?

एक पत्रावस्था का एक जीव और द्वयादि पत्रावस्था के अनेक जीव कर्म के वेदक होते हैं पर अवेदक नहीं।

वे शाता के वेदक हैं ? या अशाता के? एक तथा अनेक जीव की अपेक्षा से जीव शाता और अशाता के भी वेदक होते है।

(७) उदयद्वार---उत्पलस्थ जीव ज्ञानावरणीयादि कर्म के उदयवाले होते है ? या अनुदयवाले ?

कर्मो के उदयवाले ही होते है। यहां उदीर्णाकरण के द्वार। आगे कहेंगे। अतः अनुक्रम से उदय में आये हुए कर्मो को ही लेना।

(८) उदीर्णाद्वार---उत्पलस्थ एक या अनेक जीव कर्म के उदीरक होते है परंतु वेदनीय और आयुष्य कर्म को लेकर आठ भांगे जानने।

(९) लेश्याद्वार---ये जीव क्या कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत और तेजोलेश्यावाले होते हैं ?

एक तथा अनेक जीव की अपेक्षा से चार लेश्या होती है। इसमें ८० भांगे करने।

(१०) दृष्टिद्वार---उत्पलस्थ जीव सम्यग् या मिश्र दृष्टिवाले नहीं होते पर मिथ्यादृष्टि के मालिक होते है।

(११) ज्ञानद्वार---ये जीव सभी अज्ञानी ही होते है। यहां मति अज्ञान तथा श्रुताज्ञान की कल्पना से अज्ञानी जानने परंतु ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं लेना अर्थात् कि 'नञ' का सर्वथा निषेध अर्थ नहीं लेकर कुत्सित अर्थ लेना।

(१२) कायद्वार---ये जीव केवल काय योगवाले होते है।

(१३) उपयोग द्वार—ये जीव साकारोपयोग और अनाकारोपयोग वंत है ।

(१४-१५) वर्णादि द्वार—प्रभु ने कहा कि इन जीवों के शरीर पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्शवाले होते हैं ।

कृष्ण, नील, सफेद, लाल, पीला ये पांच वर्ण है ।

तीखा, कड़वा, तुरा, खट्टा, मीठा ये पांच रस होते है ।

सुगंध तथा दुर्गंध दो गंध है ।

कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, और रुक्ष आठ स्पर्श है ।

यहां कर्मावरण को लेकर जीव को वे शरीर लेने होते है । बाकि तो मूलस्वरुप में जीव अमूर्त होने से वर्ण, गंध, रस और स्पर्शरहित है ।

(१६) उच्छवास–निश्वास द्वार—एक पत्रस्थ और अनेक पत्रस्थ जीव उच्छवास तथा निच्छवासवाले भी होते हैं परंतु अपर्याप्त अवस्था में उच्छवास और निश्वास के बिना भी होते हैं ।

(१७) आहारद्वार—उत्पलस्थ जीव कोई आहारक होते हैं । विग्रह गति में अनाहारक होते हैं, सभी जीव अनाहारक होते है (एक योज के चार भांगे) कोई एक जीव आहारक, दूसरा जीव अनाहारक ।

अनेक जीव आहारक, कोई एक जीव अनाहारक ।

अनेक जीव आहारक, एक जीव आहारक ।

अनेक जीव आहारक और अनाहारक ।

(द्विक संयोगी चार भांगे)

(१८) विरति-द्वार—ये जीव अविरत ही होते हैं ।

(१९) क्रियाद्वार—ये जीव सक्रिय ही होते हैं । यहां सक्रिय का अर्थ काम करने का नहीं पर कायीकी आदि पांच क्रिया जाननी ;

(२०) बंधद्वार—ये जीव सात और आठ प्रकार के कर्म बांधनेवाले होते हैं।

(२१) संज्ञाद्वार—उत्पलस्थ जीव आहार, मैथुन, भय और परिग्रह की संज्ञावाले होते हैं।

(२२) कषायद्वार—ये जीव ८० भांगेसहित चार कषायवाले होते हैं।

(२३) वेदादिद्वार—उत्पलस्थ जीव नपुंसक वेदनावाले ही होते है।

(२४) स्त्रीवेदादि बंधद्वार—हे प्रभु ? उत्पलस्थ जीव एकेन्द्रियादि अवस्था में रहनेपर भी क्या अगले भव के लिए स्त्रीवेद या नपुसंक वेद का बंध कर सकते हैं ?

भगवान ने कहा कि–हे गौतम ! एक पत्रस्थ उत्पल का जीव और द्वयादि पत्रों में रहे अनेक जीव स्त्रीवेद को भी बांधते है।

(इसमें २६ भांगे)

भावार्थ यह कि मिथ्यात्व के गाढ़ अंधकार में रहा हुआ जीव मात्र अपने-२ अध्यवसाय के अनुसार ही कर्मों का बंधन करते हैं।

चारों संज्ञा में (आहार, मैथुन, भय और परिग्रह) अत्यन्त आसक्ति होने के कारण जीवमात्र को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह के प्रति तीव्र वासना बनी रहती है और वासना के मूल में मोहमाया की तीव्रता ही काम करती है जिससे मोहकर्म का तीव्र उदयवाला जीव वापस मोहकर्म को ही बांधता है।

नपुंसक वेद के उदयवर्ती जीव नपुंसकलिंग (शरीर) में रहनेपर भी स्वयं के नपुंसक शरीर के प्रति अत्यन्त दुःख ही अनुभव करते हैं। वैसे ही स्त्रीवेद की धारण करनेवाली स्त्री स्वयं के शरीर को नफरत की दृष्टि से ही देखती है जबकि पुरुष वेद का मालिक पुरुष अज्ञानता के भयंकर नशे में जब मोहकर्म की तीव्रतम उदीरणा करता है तब पुरुष वेद का भोक्ता होनेपर भी उसका मन मर्यादारहित ही रहता है। उस समय जब

अपनी स्त्री का सेवन करता है वैसे दूसरी स्त्री, विधवा, वेश्या, कुमारी के साथ भी अत्यन्त मोहान्ध बनता है। आगे और विचारे तो ऐसे पुरुष लड़के और जानवरों के साथ भी स्वयं की मैथुन कर्म की चेष्टा किये बिना नहीं रहेगे। योग्यता के अभाव में उनका मैथुन भाव कभी भी कम नही होगा जैसे नपुंसक मनुष्य जननेन्द्रियहीन होने से कभी भी स्त्री तथा पुरुष को भोग नहीं सकते है परन्तु उदीरीत की हुई मैथुन संज्ञा का उदयवर्ती जीव चाहे भोक्ता बनने की निरर्थक चेष्टा करे तो भी विष्ट के कीड़े की तरह वे नपुंसक भी वैसी गन्दी चेष्टाओं में ही रस लेगे। उसी प्रकार स्त्री हमेशा भोग्य ही है तो भी जब मैथुन संज्ञा का तीव्र नशा चढ़ता है तब बेभान बनकर कृत्रिम साधनों का भी उपयोग करेगी। उस कर्म में सर्वथा निर्लज्ज बनकर दूसरी चेष्टाओं से भी वह अपनी वासना तृप्त करेगी।

इस प्रकार अत्यन्त बेशरम बनकर मैथुन कर्म की लालसा को पूर्ण करने की भावनावाले पुरुष देखे है ?

इस प्रकार प्रत्येक भव में, प्रत्येक योनी में जीवमात्र मोहकर्म का उदयवर्ती होने से अगले भव के लिए वेदकर्म का बंधन करता है।

भगवान ने कहा कि हे गौतम ! इस कर्म की तीव्र लालसा के कारण अभी एकेंद्रिय जाति में नपुसंक लिंग में रहे हुए जीव कभी पुरुष, स्त्री या नपुंसक वेद को भी बांध सकते हैं।

ऐसी परिस्थिति में प्रश्न यह होता है कि उत्पल के जीव एकेंद्रिय वनस्पतिकाय के होने से नपुंसक लिंग में नपुंसक वेदवाले ही होते हैं। प्रगाढ़ मिथ्यात्व कर्म के उदय से उसको यह अवतार मिलता है जहां सम्यक्त्व का सर्वथा अभाव होता है अर्थात् पूर्व प्रतिपन्न सम्यकत्व और प्रतिपद्यमान सम्यकत्व भी वहां नहीं है।

नर्क गति में तो पहले के सम्यक्त्व प्राप्त (पूर्व प्रतिपन्न) जीव भी होते हैं और निमित्त मिलने पर नये सम्यकत्व की प्राप्ति भी हो सकती है।

अधिक से अधिक ३३ सागरोपम बाद भी बाहर निकल सकते हैं जबकि एकेंद्रिय और खास करके वनस्पतिकाय के जीव हर परिस्थिति में भी सम्यकत्व प्राप्त नहीं कर सकते हैं तथा कितनी ही तीर्थंकर परमात्मा की चौवीसी पूर्ण हो जाय तो भी बेचारे ये जीव अपना भव पूर्ण नहीं कर सकते अतः एकेंद्रिय से नर्क गति अच्छी क्योंकि तीर्थंकर गौत्र बांधा हुआ जीव नर्क में जा सकता है पर एकेंद्रिय में नहीं। नर्क गति में से मनुष्य अवतार प्राप्त किया हुआ जीव तीर्थंकर पद को प्राप्तकर सकता है पर एकेंद्रिय जीव, के लिए तीर्थंकर पद नहीं है।

नर्क में जानेवाले जीव स्वयं का सम्यकत्व साथ ले जा सकते हैं अथवा वहां जाकर फिर से सम्यकत्व प्राप्त कर सकते हैं परन्तु एकेंद्रिय के लिए तो सम्यकत्व का वमन ही करना पड़ता है जहां तक एकेंद्रियावतार है वहां तक सम्यकत्व प्राप्त नहीं कर सकते।

सूक्ष्म निगोद से अकाम निर्जरा द्वारा उत्क्रांति करके जीव कभी एकेंद्रिय को प्राप्त करता है अथवा देवलोक तथा मनुष्य लोक तक पहुंचे हुए भाग्यशाली अपक्रांतिकरण द्वारा बुद्धिपूर्वक किये हुए कर्मो के भार से बहुत ही बोझिल बने हुए जीव भी वनस्पतिकाय को प्राप्त करनेवाले होते हैं। जैसे कि देवलोक के देव भी यदि विषय वासना के कीड़े बनकर अपना देवत्व हार जाते हैं तथा वनस्पति काय को प्राप्त करते हैं। देव-दुर्लभ मनुष्य अवतार को पाये हुए जीव को जब अज्ञानता का नशा जोरदार चढ़ता हैं तब ८४ लाख जीवयोनी करते भी श्रेष्ठतम मनुष्य अवतार, शरीर की सशक्तता, इद्रियों की पटुता आदि सामग्री मिलनेपर भी पाप-वर्धक, पापपोषक और पापफलक आहार मैथुन, भय और परिग्रह की चारों संज्ञाओं में पूर्णमस्त बनता है।

मनुष्य के जीवन में जब धार्मिकता नहीं होती है तब ही चारों संज्ञाओं का जोर बढ़ता है क्योंकि धार्मिकता के साथ बैर रखनेवाली ही ये चारों संज्ञाए होती है।

धर्म के अनुष्ठानों का शरीर के साथ ही सम्बंध होता है और धार्मिकता के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है।

अनादिकाल से आत्मा चारों संज्ञा का गुलाम बनकर रही है अतः धर्म के कथित अनुष्ठान करनेपर भी चारो संज्ञा की गुलामी के कारण धार्मिकता प्राप्त नहीं कर सकी कभी कि हो तो टिकाई न होगी, कभी टीकाई होगी तो धार्मिकता को नहीं पचा सके होगें।

इस प्रकार चारों संज्ञाओ से संज्ञित हुआ जीव प्रायः वनस्पतिकाय में ही जन्म लेता है वहां से अनंत उत्सर्पिणी तथा असर्पिणी पूरी होने पर बाहर आना संभव है।

उत्पलस्थ जीव भी बहुत लम्बे समय तक वहां रहनेपर पुरुषादि वेद को बांध सकते हैं। जैसे–

(१) किसी समय अकाम निर्जरा के कारण पुण्यकर्म का उदय होने पर जीव पुरुष या स्त्रीवेद का बंधन कर सकता है।

(२) अपक्रांति से उत्पस्थ जीव स्वयं के पहले भव में किसी जीव के साथ निकाचित नियाणा बांधा हो तब उस नियाणे को लेकर सामनेवाले मनुष्य के पुण्य के वश होकर पुरुष या स्त्रीवेद बांध सकता है।

कर्म सत्ता में अनंत विचित्रता भरी होने से जीवों के प्रतिसमय के अध्यबसायों में परिवर्तन हो जाता है और निकृष्टतम पापकर्म का उदय हो तो नपुंसकता ही बनी रहती है।

यदि तीनों वेद के प्राप्त होने में सम्यक्त्व का प्रकाश न ले सका तो मिथ्यात्व के सहारे वह जीव वापिस पापकर्म को ही बांधेगा और अन्त में एकेंद्रिय अवतार को ही प्राप्त करेगा।

(२५) संज्ञीद्वार—उत्पलस्थ जीव असंज्ञी ही होते हैं।

(२६) इन्द्रियद्वार—ये जीव इन्द्रियरहित नहीं होते है।

(२७) अनुबंध द्वार—उत्पलस्थ जीव उत्पल के जीव रूप में जघन्य से अन्तरमुहूर्त तक तथा उत्कृष्ट से असंख्यात काल तक रहते हैं।

(२८) संवेधद्वार—उत्पल का जीव उत्पलरूप पर्याय को छोड़कर पृथ्वीकाय को प्राप्त करे तो इस प्रकार भवान्तर करके फिर से उत्पल रूप पर्याय को ग्रहण करने में कितना समय लगेगा? भगवान ने कहा कि-उत्पल पर्याय को त्यागकर वह जीव पृथ्वीकाय में आयेगा तथा फिर उत्पल में जायेगा। इस प्रकार से जघन्य से दो भव करके मनुष्य आदि गति में जाता है और उत्कृष्ट असंख्यात भव तक रहता है। काल की अपेक्षा से जघन्य से दो अन्तर्मुहूर्त तक और अधिक असंख्यात काल का सेवन करता है।

इसी प्रकार अपकाय, तेउकाय, वायुकाय में से उत्पल के पर्याय में फिर से आने का जानना। वनस्पति काय के लिए जानना कि उत्पल का जीव पहले भव में अपकाय बनता है फिर उत्पल में जाकर मनुष्य आदि गति में आता है और उत्कृष्ट से अनंतभव करता है।

काल की अपेक्षा से एक अन्तर्मुहूर्त अपकाय में और दूसरा अन्तर्मुहूर्त उत्पल में और उत्कृष्ट से अनंतकाल। इसप्रकार बेइन्द्रिय का मूल-सूत्र से जानना।

आहारद्वार—उत्पलस्थ जीव द्रव्य की अपेक्षा से अनंत प्रदेशवाले द्रव्यों का आहार करते हैं क्षेत्र से असंख्य प्रदेश में रहनेवाले का आहार करते हैं। पृथ्वीकाय जीव सूक्ष्म होने से ६ दिशाओं में से आहार ग्रहण करते है। परंतु उत्पल के जीव बादर होने से सूक्ष्म के अभाव में ६ दिशाओं में से आहार कहते हैं।

(३०) स्थितिद्वार—उत्पल के जीव जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से दस हजार वर्ष की स्थितिवाले है।

(३१) समुद्घात द्वार—इन जीवों को वेदना, कषाय और मारणांतिक समुद्घात होते हैं।

(३२) च्यवनद्वार—ये जीव मारणांतिक समुद्घात से समवहत होकर भी मरते है और असमवहत होकर भी मरते हैं।

(३३) मूलादिको में उत्पत्तिरुप द्वार–उत्पलस्थ जीव स्वयं का चालू भव छोड़कर अर्थात् वहां से मरकर कहां उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नर्क तथा तिर्यंचगति में उत्पन्न होते हैं ?

भगवान ने कहा कि–वे देवगति या नर्कगति में उत्पन्न नहीं होते परंतु तिर्यंच या मनुष्यगति में जन्मते हैं।

इस प्रकार ३३ द्वारों से उत्पल का निर्णय करने के बाद गौतमस्वामी ने भगवान से पूछा कि–हे प्रभु ! संसारी सभी प्राणी भूत, जीव और सत्व उत्पल के मूल रुप, कंदरुप, नालरुप, पानरुप, केशररुप, कर्णिकारुप या फल–फूलरुप में पहले कभी उत्पन्न हो चूके है क्या ?

भगवान ने कहा कि हे गौतम ! संसार के समस्त जीव उत्पलरुप में एक—दो बार नहीं पर अनंतबार उत्पन्न हो चुके हैं।

सारांश यह है कि संसार अनंत है उसकी माया भी अनंत है ! जीव मात्र के उपार्जित कर्म भी अनंत है साथ-२ कर्म की सत्ता भी अभेद्य और अकाट्य है। इसी कारण से हाथ तथा पैर में बेड़ी पड़ी हुई मनुष्य की जीवात्मा भी कर्म सत्ता के पराधीन है जिससे अनादिकाल के इस संसार में जीव ने अभी तक असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र का एक भी प्रदेश, नदी–नाले या पर्वत का एक भी प्रदेश–स्थान, अधोलोक, तिर्च्छालोक या देवलोक का एक भी कोना नही छोड़ा है।

अतः हे गौतम ! उत्पलादि में भी इस जीव ने अनंतबार मुसाफिरी की है।

भगवान की वाणी से गौतमस्वामी प्रसन्न हुए तथा साधना में एकाग्र बने।

॥ पहला उद्देशक समाप्त ॥

शतक-११ उद्देशक–२

शालूक वनस्पति की वक्तव्यता :

जिसके जीवन का अणु-अणु जैनत्व के रंग से और महाव्रत की आराधना से व्याप्त बना हुआ है। वे गौतमस्वामी भगवान श्री महावीर स्वामी को वंदन करके कहते हैं कि हे प्रभु ! संवरतत्त्व द्वारा नये कर्मों के द्वार बन्धकर तथा निर्जरा तत्त्व द्वारा पुराने कर्मों को सन्मूल समाप्त करने के बाद केवल ज्ञान के अधिपति तुम्हीं इस संसार के देवाधीदेव श्री अरिहंत देव हो।

सद्विवेक और सम्यक्त्व बुद्धि को धारण करनेवाले देवेन्द्रों द्वारा अरिहंत के ही चरण पूजे जाते हैं। अतः केवलज्ञान स्वरुप बोधितत्व को पाये होने से तुम्ही 'बुद्ध' हो।

अनंत दुखों से मुक्त कराकर अव्याबाध सत्त्व को देनेवाले तुम्हीं 'शंकर' हो।

मोक्षरुपी महल में पहुँचाने के लिए अनन्य कारण स्वरुप सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र रुप मोक्षमार्ग को दिखानेवाले तुम्हीं सच्चे 'ब्रह्मा' हो।

इसी कारण से स्पष्टरुप से आपको छोड़कर दूसरा कोई पुरुषोत्तम नहीं है।

इस प्रकार स्तवनकर गौतमस्वामी ने पूछा कि–हे प्रभो ! वनस्पति विशेष शालूक (कमल कंद) की क्या वक्तव्यता है ?

भगवान ने कहा कि--हे गौतम ! पहले उद्देशक में उत्पलक विषय जो कहने में आया है वही शालूक का समझना। विशेष यह कि शालूक के शरीर की उष्कृष्ट अवगाहना दो धनुष्य तक की जाननी। कमल कि उत्कृष्ट अवगाहना हजार योजन अधिक है। शेष सब उत्पल की तरह जानना।

॥ दूसरा उद्देशक समाप्त ॥

शतक-११ उद्देशक–३

पलाश की वक्तव्यता :

समवसरण में बिराजमान देवाधिदेव प्रभु महावीर स्वामी को वंदना करके गौतमस्वामी ने कहा कि-हे प्रभु ! पूरे ब्रह्मांड के सभी जीवों के लिए मनोज, अनंग, संकल्पज ऐसा कामदेव सर्वथा दुर्जेय रहा है ।अतः शंकर, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता कामविजेता न होने के कारण अरिहत नहीं बन सके। क्योंकि साधारण पुरुष में और उन देवों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं दिखाई देती। जैसेकि कामदेव की स्कूल में प्रवेश हुए पुरुष को जिस प्रकार स्त्री का सहवास है उसी प्रकार उनके शास्त्र पुराणों में भी शंकर को पार्वती, ब्रह्माजी को सावित्री, विष्णु को लक्ष्मी, इन्द्र को इन्द्राणि, सूर्य को रत्नादेवी, चन्द्र को दक्षा की पुत्री, बृहस्पति को तारा, अग्नि देव

को स्वाहा, कामदेव को रति और श्राद्धदेव को धूमोर्णादेवी है। दूसरी तरह शंकर भगवान एक भीलड़ी के पीछे, ब्रह्माजी जैसे स्वयं की पुत्री के पीछे, इन्द्र अहिल्या तापसी के पीछे पागल बनकर कामदेव के सेवक बने हुए हैं।

अतः हे प्रभु ! वे किसी भी काल में ईश्वर पद को ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। सत्यार्थ में काम विजेता आप ही होने से ईश्वर, परमात्मा, देवाधिदेव, सर्वज्ञ और तीर्थंकर हो क्योंकि संपूर्ण संसार को भस्मीभूत करनेवाले अग्निदेव को समुद्र का जल शान्त कर देता है तो भी वडवाग्नि उस समुद्र को भी स्वाहा करने की ताकत रखती है। उसी प्रकार मनुष्य को कामदेव ने वश में कर रखा है। तथा कामदेव को आपने वश में किया है। इस प्रकार स्तवनाकर गौतमस्वामी ने पूछा कि हे प्रभु ! पलाश नाम की वनस्पति एक जीववाली है या अनेक जीववाली ?

भगवान ने कहा कि-हे गौतम ! उत्पल की तरह पलाश की वक्तव्यता जाननी। विशेष यह कि पलाश की उत्कृष्ट अवगाहना दो कोस से नौ कोस तक तथा देवयोनी के देव का पलाश में उपपात नहीं होता है क्योंकि उत्पल तथा पलाश में वनस्पतितत्व एकसा होनेपर भी जाति की अपेक्षा से उत्पल की जाति उत्तम तथा पलाश की जाती हीन मानी है। अतः देव का उपपात उत्पल जैसी उत्तम वनस्पति में ही होता है।

कितनी वनस्पति पुण्यहीन होने के कारण उत्तम वर्ग के मनुष्य के योग्य नहीं बनती है। जबकि उत्तम वनस्पतिये हीन जाती के मनुष्य के भोग्य नहीं बनती है। पुष्प में भी हीन जाति के पुष्प देवाधिदेव तीर्थंकर के चरणों में नहीं चढ़ते और उत्तम पुष्प आसुरी देव को नहीं चढ़ते।

जानवरों में भी कुत्ता, बिल्ली, कौआ, गधा आदि हीन जाति के और पुण्यहीन है। कबुतर, गाय, भैंस, हाथी, तोता, मोर आदि उत्तम जाति के

माने हैं। अतः जैनवाणी कहती है कि देव के जीव हीन जाति के पलाश में उत्पन्न नहीं होते हैं।

इन जीवों में कृष्ण, नील और कापोत लेश्या होती है पर तेजोलेश्या नहीं होती है क्योंकि तेजोलेश्या युक्त देव वनस्पतिकाय में उत्पन्न होते है तब उनमें तेजोलेश्या का सद्‌भाव होता है पर पलाश में देव उत्पन्न नहीं होते हैं इसीलिए ये जीव तेजोलेश्यावाले नहीं है। चराचर जीव की गति, आगति, पुण्यपाप आदि को जाननेवाले भगवान महावीरस्वामी की वाणी सुनकर गौतमस्वामी प्रसन्न हुए तथा स्वयं के संयम की साधना में अप्रमादी बने।

॥ तीसरा उद्देशक समाप्त ॥

शतक-११ उद्देशक—४

दया के महासागर अहिंसा के पूर्ण आराधक, जगत की शांति के लिए स्याद्वाद सिद्धांत के प्रचारक, करोड़ो देव देवेन्द्र तथा असुरेन्द्र से पूजित भगवान महावीरस्वामी की स्तवना करके गौतमस्वामी ने कहा है कि त्रिलोकीनाथ आपकी महिमा सभी के लिए अचिंत्य ही रही है और मेरे लिए तो विशेष प्रकार से क्योंकि आपका मेरा अंतर कब पूरा होगा ? कौन पूरा करेगा ? किस प्रकार से पूर्ण होगा ? जैसे :—

आप स्वयं निर्गुण हो जबकि में सगुण हूँ ।

आप निष्क्रिय हो जबकि मैं सक्रिय हूँ ।
आप निष्कर्मा हो और मैं सकर्मा हूँ ।
आप निष्कलंक हो, मैं सकलंक हूँ ।
आप निष्कल हो, मैं सकल हूँ ।
आप निरूपाधिक हो, मैं सोपाधिक हूँ ।
आप रूपरहित हो, मैं रूपसहित हूँ ।
आप ब्रह्मस्वरुपी हो, मैं अब्रह्म हूँ ।
आप वेदरहित हो, मैं वेदवाला हूँ ।
आप अमल हो, मैं समल हूँ ।

इतने सारे अन्तर को आप ध्यान में लो और मैं भी निर्गुण, निष्क्रिय, निष्कलंक, निरुपाधिक, रुपरहित ब्रह्मस्वरुपी, अवेदी बनूं और कर्मों का क्षय करके अमल बन सकूं । इस प्रकार भगवान की श्लेषात्मक स्तुति करने के बाद पूछा कि हे प्रभु ! कुंभिक वनस्पति एक जीववाली है या अनेक जीववाली ?

भगवान ने कहा कि—पलाश की तरह ही कुंभक वनस्पति को जानना केवल उनकी उत्कृष्ट अवगाहना दो वर्ष से नौ वर्ष तक की है । इसप्रकार भगवान की वाणी को प्रमाणभूत मानकर प्रसन्न हुए गौतमस्वामी भगवंत की यथार्थता के प्रति श्रद्धालु बने ।

॥ चौथा उद्देशक समाप्त ॥

शतक-११ उद्देशक-५

नालिक जीव की वक्तव्यता :

समवसरण में बिराजमान तीर्थंकर पद शोभित भगवान महावीरस्वामी की वंदनाकर गौतमस्वामी ने कहा कि—"आधि-व्याधि और उपाधि रुप दावानल से दग्ध हुए प्राणियों के लिए मेघ के नीर समान देवाधिदेव भगवंत को हम नमन करते हैं।"

"संसार की माया का सेवन करनेवाले जीवों के चारों तरफ उत्पन्न हुई मोहकर्म रुपी धूल को उड़ाने में पवन के जैसे आपको हम मन-वचन-काया से भावपूर्वक वंदन करते है ।"

"संसार के मायारुपी पृथ्वी के अंतराल को फोड़ने में हल के समान पतितपावन भगवान को हम हमारे प्रत्येक श्वांसो श्वांस में लाख बार स्मरण करते हैं।

"कल्पांतकाल के तूफान से भी चलायमान नहीं होनेवाले मेरुपर्वत के जैसे धीर, गंभीर जिनेश्वर देव को हम त्रिकाल प्रणाम करते हैं।"

सर्वश्रेष्ठ ध्यान की प्रक्रियारुपी ताप द्वारा सूर्य की तरह अनंतकाल के उपार्जित किये हुए कर्म के विपाकरुपी कादव को भगवान ने सुखा दिया है वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अरिहंत परमात्मा सभी जीवों के कल्याण के लिए हो।

इसप्रकार भाव स्तवन करके गौतमस्वामी ने पूछा कि हे प्रभु ! नालिक नाम की वनस्पति एक जीववाली है या अनेक जीववाली ?

भगवान ने कहा कि–हे गौतम ! चौथे उद्देशक में कुंभिकस्थ जीवों के लिए जो कहा है वही नालिक वनस्पति का जानना। भगवान के वचनों का पान करके पर्षदा प्रसन्न हुई।

॥ पांचवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक--११ उद्देशक--६

पद्म संबन्धी वक्तव्यता :

समवसरण में बिराजित हुए भगवान महावीरस्वामी को द्रव्य तथा भावपूर्वक वन्दना करते हुए गौतमस्वामी ने निम्नप्रकार से स्तवना की-

ऐ प्रभो ! तुम्हारी शरण में आए हुए जीवों के शुभकर्म को करने वाले होनें से आप ही ब्रह्मा हैं जन्म, जरा और मृत्यु के चक्कर से सभी जीवों के बचाने में विष्णु के समान हो। पापी–कामी–तथा लोभी मनुष्यों के अशुभ कार्यों को दूर हटाने में शंकर से हे नाथ ! आप मेरे कर्मों को दूर हटानेवाले बनो।

जन्म तथा जरा से भयग्रस्त बने हुए संसार के प्राणीमात्र को दुखी देखकर ऐ करुणासागर ! आपने अपने राजवैभव का त्याग किया और पूर्ण संयमी बनकर सर्वथा असह्य परिषहों को सहनकर अभूतपूर्व केवलज्ञान की ज्योत प्राप्त की ऐसे हे दयालुदेव ! आप श्रीमान हमको केवलज्ञान देनेवाले बनो।

निष्कारण बैरी बना हुआ संगमदेव निष्कारुण बनकर जब आपको घोरातिघोर उपसर्ग कर रहा था उसी समय अनादिकाल से आपकी आत्मा के प्रदेशोंपर सत्ता जमाकर बैठा हुआ क्रोध स्वयं ही छमछमा रहा था और मानो यह कह रहा हो कि अनादिकालीन ये मेरे मालिक वर्धमान महावीरस्वामी यदि मुझे थोड़ा भी इशारा करे तो आँख की पलक मारने के समय में ही इस अधमाधम देव की हड्डियों को चकनाचूर कर दूं परंतु संसार के अद्वितीय योद्धा के समान हे देवाधिदेव आप ऐसे घोर कृत्य करनेवाले संगम के प्रति दयाभाव लानेवाले बने और अन्तरंग

शत्रु जैसे क्रोध नाम के भूत को मारकर मूल से उखाड़ फेका। इसप्रकार समता धर्म की चरम सीमा पर पहुंचे हुए मेरे नाथ आप मेरे भवोभव के लिए सार्थवाह के समान बनकर मुझे ऐसी शक्ति का प्रदान करे जिससे मेरा भी कल्याण हो जाय। ऐसी मेरी नम्र प्रार्थना है।

तदनंतर प्रश्न पूछते हुए गौतमस्वामी ने कहा कि—ऐ प्रभो! पद्म नामक वनस्पति में जीव एक है या अनेक? भगवान ने कहा कि—ऐ गौतम उत्पल की तरह पद्म को भी जानना फिर गौतमस्वामी अपने संयम में सावधान बने।

॥ छठवा उद्देशक समाप्त ॥

शतक--११ उद्देशक—७

कर्णिका वनस्पति की वक्तव्यता :

सिंह लंछन से सुशोभित, केवलज्ञान से जगमगाते, सर्वश्रेष्ठ यथार्थवादी परमात्मा, समवसरण में विराजित भगवान महावीरस्वामी को वंदना करके गौतमस्वामी ने भगवान की इसप्रकार स्तवना की—

'हे प्रभु! क्षात्र तेज से सुशोभित, त्रिशला महारानी के पुत्र, सिद्धार्थ राजा के नंदन, ज्ञातवंश जैसे उत्तमोत्तम खानदान के रत्न सुवर्ण जैसी कंचन कायावाले, ऋषभनाराच संघयण के धारक, समचतुरस्र संस्थान से

देदीप्यमान, शरीर से कोमल और आत्मशक्ति से वज्र जैसे आप मेरी प्रत्येक श्वासोश्वास में स्मृतिरूप में पधारो ।'

लोभी के लोभ रूपी राक्षस को हटानेवाले, कामी को काम रूपी गुंडे से बचानेवाले, क्रोधी का क्रोधरूपी चांडाल से रक्षण करनेवाले, माया-रूपी नागिन के जहर से नाश हुए मनुष्य को देशनारूपी अमृत पिलाने वाले, हे जगत-उद्धारक ! हे नाथ ! आप मेरे कषायों को दूर करनेवाले बनो । हे यथार्थवादी भगवान ! हम आपके यथार्थवाद का सत्कार करते हैं और श्रद्धा से आत्मसात् करते हैं परंतु इतना तो जरूर कहेंगे कि आपके यथार्थवाद को समझने के लिए मायावाद, शून्यवाद, प्रकृति, पुरूषवाद, जैमिनीकावैदिकवाद हिंसावाद, चावार्क का नास्तिकवाद तथा अनीश्वरवाद का ईश्वर निराकरणवाद आदि वादों की परंपरा को जानने के बाद ही आपके यथार्थवाद का सत्यरूप में दर्शन कर सके हैं ।

इस प्रकार स्तवना करके गौतमस्वामी ने पूछा कि–हे प्रभु ! कर्णिका-वनस्पति के लिए आपका क्या कथन है ?

भगवान ने कहा कि–उत्पलस्थ जीवों की तरह इसका भी समझ लेना ।

अर्थात् ३३ द्वार से जिस प्रकार उत्पल के लिए कहा है कि वैसे ही कर्णिका का जानना ।

भगवन् की वाणी सुनकर गौतमस्वामी ने कहा कि–अरिहंत के वचन सर्वथा सत्य तथा यथार्थ है ।

॥ सातवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक ११ उद्देशक–८

नलिन वनस्पति की वक्तव्यता :

देवाधिदेवत्व को प्राप्त होने के पश्चात् समवसरण में विराजमान इस चालू अवसर्पिणी काल के चरम तीर्थंकर भगवान महावीरस्वामी के अनन्य अन्तेवासी गौतमस्वामी ने भगवान को वंदन करते हुए कहा कि हे प्रभु ! अनंत ज्ञान तथा अनंतदर्शन को पाये हुए आपके मुँह से प्रसारित हुई वाणी ही विषय कषाय के ताप से पीड़ित जीवों को समाधि और शांति देनेवाली है। आनंद, मंगल, ऋद्धि और समृद्धि भी प्रदान करती है। जैसे वैशाख, जेठ महीने के सूर्य के ताप से तपे हुए मनुष्यों को आषाढ़ महीने की मेघ-धारा क्या ठंडक नहीं देती? उसी प्रकार स्वयं के दुःखों से दुःखित, अपराधों से अपराधी, तथा कषायों से कलुषित हुए संसार के जीवों को आप की वाणी के सिवाय दूसरा एक भी आलंबन नहीं है।

प्रतिदिन सात सात मनुष्य की हत्या करनेवाला अर्जुनमाली, चार व्यक्तिओं की हत्या करने वाला दृढप्रहारी, विषयवासना से लंपट बनकर खूनाखून से भयग्रस्त हुआ चिलातीपुत्र, नर्कभूमि की योग्यतावाला चंडकौशिक आदि का शमन तथा अगणित प्राणियों का उद्धार करनेवाली आपकी वाणी ही है।

हे प्रभु ! आपके शासन के प्रति द्वेष रखनेवाले दूसरे वादी स्वयं के नाम के पीछे चाहे जितने विशेषण लगा देंगे तो भी आपकी यथार्थवादिता का उल्लंघन करने की शक्ति किसी में नहीं है। यथार्थस्वरूप का निर्णय जैसे आपने किया है वैसा दूसरी जगह कहीं भी नहीं है।

इसप्रकार स्तवना करके गौतमस्वामी ने पूछा कि—हे प्रभु ! नालिन बनस्पति एक जीववाली है या अनेक जीववाली ?

भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! उत्पलविषयक जो वक्तव्यता कही है वही नालिन के विषय में भी समझ लेनी। संसारवर्ती सभी जीवात्माएँ इन सब योनिओं में अनन्तरवार उत्पन्न हुए है।

भगवंत की एतद्विषयक यथार्थवाणी सुनकर गौतमस्वामीजी अतीव हर्षित हुए और अपने ध्यान में एकाग्र बनें।

॥ आठवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक-११ उद्देशक-९

शिवराज ऋषि की वक्तव्यता :

उस समय हस्तिनापुर नामक नगर था। उसके बाहर ईशान दिशा में सहस्राभवन नाम का उद्यान था जो वसंत, हेमन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओं से संपन्न था अर्थात् नंदनवन से भी अधिक सुंदर तथा कंटक आदि उपद्रव से रहित था।

उस नगर में हिमाचल पर्वत की तरह शिवराजा नामक राजा राज्य करता था। मलयाचल तथा सुमेरु पर्वत के समान शक्ति थी तथा धारिणी

नाम की उसकी पटराणी थी। उसके शिवभद्र नामक राजकुमार था। वह अत्यन्त सुकोमल तथा उत्तम लक्षणों से युक्त था। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती गई वैसे-वैसे उसका मन राष्ट्र का निरीक्षण करने में और देश की आबादी बढ़ाने में केंद्रित हुआ। प्रजा का प्यारा वह कुमार शास्त्र तथा शस्त्र विद्या में पारंगत हुआ।

एक बार शिवराजा को रात के समय में स्वयं के राज्य की चिंता करते हुए यह भाव जागृत हुए कि मेरे पूर्वभव के पुण्यकर्म से ही मुझे राजऋद्धि पुत्र परिवार आदि मिले है तथा उसमें वृद्धि भी हो रही हैं। ये सभी भोग विलास के साधन बिजली के चमचमाहट जैसे है, युवावस्था नदी के प्रवाह जैसी है, कुटुंब परिवार क्षण स्थायी है, काया संध्या के रंग जैसी हैं, अतः ये सभी भौतिक पदार्थ मेरे पुण्य के साथ ही समाप्त हो जाय उसके पहले ली हुई पुण्य सामग्री द्वारा आत्मसाधन करना योग्य हैं? इस प्रकार विचार करते हुए राजा को एक बात समझ में आई कि आकाश के रंग जैसे मेरे पुण्य कर्म, युवावस्था, परिवार, शरीर का रुप रंग आदि मेरे साथ विश्वासघात करके वृद्धावस्था में मुझे रूलावे उसके पहले ही में धर्म ध्यान में स्थिर होकर आत्मा का हितकरूं तत्पश्चात् राजकुमार का राज्याभिषेक करके श्रमणों के योग्य लोहे को लोढ़ी, लोहे की कठाइये, चमच आदि पात्रों को तैयार करा लूं तथा वानप्रस्थ तापस जहां रहते है वहां जाकर में भी तापस धर्म स्वीकार कर लूं।

तापस के भेद निम्न हैं:—

होत्रिक–अग्निहोम (ध्वन) करनेवाले।

पोत्रिक–वस्त्रधारी तापस।

कौत्रिक–भूमिपर शयन करनेवाले।

यज्ञकी–यज्ञ–यागकर जीवन पवित्र करनेवाले।

श्राद्धकि–श्राद्धधर्म को श्रेष्ठ माननेवाले।

स्थनकि–भोजनपात्र रखनेवाले।

कुंडिकाधारी—कमंडल रखनेवाले।

दंतोलूखलिक—दांतो के द्वारा चाबकर फल खानेवाले।

उन्मज्जक—जल के ऊपर तैरकर स्नानकरनेवाले।

समज्जक—बार बार पानी पर तैरकर स्नानकरनेवाले।

निमज्जक—पानी में थोड़ी देर डुबकी मारकर स्नानकरनेवाले।

सक्षालक—पहले मिट्टी चौलकर पोछे स्नान करनेवाले।

उर्ध्वकंडूयक—नमि के ऊपर के अंग को खुजलानेवाले।

अधः कडूयक—नाभि के नीचे के अंगो को खुजलानेवाले।

दक्षिण कूलक—पूर्व दिशा की ओर बहती हुई गंगा नदी के दक्षिण किनारे पर रहनेवाले।

उत्तरकूलक—गंगा नदी के उत्तर किनारे पर रहनेवाले।

शंखध्मापक—शंख बजाकर भोजन करनेवाले।

कुलध्मापक—नदी के किनारे पर शब्द करके भोजन करनेवाले।

मृगलुब्धक—मृग के मांस का भोजन करनेवाले।

जल क्लिन्नागात्र—जल स्नान द्वारा गीले वस्त्र पहननेवाले।

अंबुवासस—नग्नावस्था में पानी में बैठनेवाले।

वल्कललवासस—वल्कल पहननेवाले।

चल वासस—कंथा को पहननेवाले।

अंबुभक्षी—केवल पानी पीनेवाले।

वायुभक्षी—वायु का आहार करनेवाले।

शेवाल भक्षी—शेवाल का आहार करनेवाले।

मूलाहारी—मूल मात्र का आहार करनेवाले।

कंदाहारी–सूरण कंद को खानेवाले।

पत्राहारी–पांदडे का ही आहार करनेवाले।

पुष्पाहारी–पुष्प का आहार करनेवाले।

तपाहारी–छाल का आहार करनेवाले।

फलाहारी–फल को खानेवाले।

बीजाहारी–केवल बीज को खानेवाले।

जीर्णभूत मूलकंद, फल, पत्र, और पुष्प को खानेवाले, दंड को उंचा रखकर चलनेवाले, वृक्षों के मूल में बैठनेवाले; मंडलाकार में निवास करनेवाले, जंगल में रहनेवाले, पानी से दिशाओं का सिचन करके फलफलादि का आहार करनेवाले इत्यादि तापस गंगा नदी के तट पर रहते थे। वे सभी सूर्य की धूप में पंचाग्नि आतापना करनेवाले थे। इसप्रकार आतापना का सेवन करके चने सेंकने के पात्र में सेंके हुए चने की तरह तथा काष्ट की अग्नि में पकाने में आई वस्तु की तरह स्वयं के के शरीर की आतापना जन्य पीड़ा भोगनेवाले थे।

इन सभी तापसों में से जो दिशा प्रोक्षी तापस है उनके पास जाकर मुंडित होऊं और दिशा प्रोक्षक तापस रुप प्रवज्या को अंगीकार करुं तथा इस प्रकार का अभिग्रह धारण करूंगा "मुझे निरंतर छठ के पारणे छठ की की तपस्या और पारणा के दिन पूर्व आदि कोई भी एक दिशा में से जितने फल मिले उससे पारणा करना" इस व्रत को दिशा चक्रवाल कहते हैं। एक पारणे में पूर्व दिशा तरफ से, दूसरे पारणे में दक्षिण आदि चाहे जिस दिशा में से लाये हुए फल का पारणा करना। इस तप को करनेवाले को दोनों हांथ ऊंचे रखकर खड़ा रहना पड़ता है। इस प्रकार शिवराजा ने संकल्प किया।

दूसरे दिन प्रातःकाल तापस धर्म के योग्य पांच चम्मच, तांबे का का कमण्डल आदि तैयार कराये फिर स्वयं के परिवार को बुलाकर कहा कि

कि हे देवानु प्रियो ! तुम अति शीघ्र हस्तिनापुर नगर को साफ कराओ शुशोभित कराओ। राजा की आज्ञानुसार कुटुम्ब परिवार ने नगर के रास्ते पर पानी छिटकाया और ध्वजा, पताका आदि से नगर को सजाकर राजाजी को सूचित किया।

राजा ने सेवकों को पुनः आज्ञा दी कि तुम राज्याभिषेक के योग्य सभी सामग्री तैयार करो और तत्काल सभी सामग्री तैयार करी। शिवराजा ने अनेक गणनायक, दंडनायक, राजेश्वर, तलवर, मांडलिक मन्त्री, महा मन्त्री, गणक दौवारिक, अमात्य; चेट, पीठ मर्दक, श्रेष्ठी, सेनापति, संधिपाल, आदि से प्रवृत्त होकर शिवभद्र कुमार को पूर्वाभिमुख सिंहासन पर बैठाया फिर अनेक प्रकार के सुवर्ण कलश द्वारा आंडंबर सहित स्नान कराया। अमूल्य आभूषणों से सुशोभित किया और आशिर्वाद दिया हे नदन तू शत्रु पर विजय प्राप्त करना। देव के बीच में जैसे इंद्र शोभते हैं वैसे तू स्वजनो के बीच में शोभायमान होना, तारों में चन्द्र के समान, मनुष्यों में भरत की तरह तू देदीप्यमान बना और अनेक वर्ष तक राज्य सुख का भोक्ता बनकर दीर्घायु बनना। इस प्रकार के मंगल वचनों से शोभित शिवभद्र नाम के राजा हस्तिनापुरनगर की राजगद्दी पर आरूढ़ हुए।

तिथि, नक्षत्र, करण; योग, लग्न और नवमांस का अनुकूल समय आया तब शिव राजा स्वयं के मित्र, स्वजन आदि को निमंत्रण देता है और बिपुल अशन, पान खादिय, स्वादिम आदि पदार्थ के द्वारा उनका स्वागत करता है। फिर स्वयं आत्मीय जन के पास से तापस धर्म स्वीकार करने की अनुमति मांगता है तथा अनुमति लेकर उस राजा ने पहले से तैयार की हुई कड़ाइयें, चम्मच, कमन्डल आदि लेकर गंगातटवासी वानप्रस्थ तापसों के पास पहुंच गया। मुंडित होकर दिशा प्रोक्षक तापस शिक्षा अंगीकार करता है तथा यह अभिग्रह धारण करता है। मैं आज से जीवन पर्यन्त छट्ठ के के पारणे छट्ठ की तपस्या (दो दो दिन के उपवास का) में दोनों हाथ ऊंचे रखकर आतापना लेऊंगा और पारणा के दिन इसी दिशा में से

मिले हुए फल का आहार करूंगा।"

इसप्रकार शिवराजर्षी ने दिशा चक्रवाल नाम का तप प्रारंभ किया और प्रथम छट्ठ पूर्ण होनेपर आतापना भूमिपर से नीचे उतरे वल्कल वस्त्र का परिधान किया और स्वयं की झोपड़ी में आये। वहां बांस की सलियों से बना हुआ किडिन नाम का पात्र लिया तथा पूर्व दिशा तरफ फल ढूंढ़ने निकले और उस दिशा के लोकपाल सोमदेव को यह प्रार्थना की "पूर्व दिशा के अधिपति हे सोम ! धर्म साधना में प्रवृत्त हुए ऐसे इस शिवराजर्षी का संरक्षण करना।"

"हे लोकपाल ! आपसे सुरक्षित यह पूर्व दिशा में से जो कंद, मूल, छाल, पान, फल, बीज और लीली वनस्पति मिल सके उसके लिए मुझे आज्ञा दो।"

इसप्रकार प्रार्थना करके वे ऋषि पूर्व दिशा की तरफ आगे बढ़े और जो कुछ मिला वे बांस पात्र में डाल दिये। फिर हवन योग्य, दर्भ, कुम्भ, कुश आदि लिये और झुपड़ी में आये तथा बांसपात्र एक तरफ रखा। यज्ञ-वेदी को साफ किया तथा लीपकर हवन के योग्य बनाया। फिर गंगा नदी के प्रवाह में उतरे, जलक्रीड़ा करके सिरपर पानी डाला और आचमन किया। देवताओं तथा पितृओं को जलांजलि देकर पानी में से बाहर निकले तथा यज्ञवेदिका में अग्नि को प्रज्वलित करके लकड़ी को होमा। फिर अग्नि के दक्षिण दिशा तरफ नीचे की सात वस्तु रखी—

(१) सकथा–उपकरण विशेष।
(२) वल्कल–वृक्ष की छाल के वस्त्र।
(३) ज्योतिस्थान–दीपमात्र।
(४) शय्या के उपकरण।
(५) कमंडल।
(६) काष्ठ निर्मित।

उपरोक्त ६ वस्तुएँ रखकर सातवें में स्वयं बैठ गया। फिर मधु, घी और तांदुल की अग्नि में आहुति दी तथा होमी हुई वस्तुएँ से चरु तैयार किया। इस पांच में पके हुए द्रव्य को वैश्वदेव अर्थात् कौए को अन्न प्रदान किया। अतिथि को जिमाकर फिर भोजन किया। इस प्रकार आगे बढ़कर छट्ठ की तपस्या के पारणे के दिन अलग-अलग दिशा में जाते हैं। विधि उपरोक्त है।

इसप्रकार दिशा चक्रवाल तप की आराधना में निरंतर आतापना लेते हैं। स्वभाव में सरलता, नम्रता आदि गुण होनेपर इहा-अपोह मार्गण और गवेषणा करते हुए उस मुनि को विभंग ज्ञान उत्पन्न हुआ। यह ज्ञान सात द्वीप तथा सात समुद्र तक मर्यादित होने से तथा अवधि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपाशम होने से ऋषि ने १४ रज्जु (पूर्ण ब्रह्मांड) में सात द्वीप तथा सात समुद्र ही है यह समझा कि पूरे संसार में सात समुद्र तथा सात ही द्वीप हैं। फिर आतापना भूमि से नीचे उतरकर वल्कल पहना तथा झोपड़ी में आये। स्वयं के सभी उपकरण लेकर हस्तिनापुर नगर में जहां तापसों के आश्रम थे वहां आये। वहां सभी के मध्य में कहा कि मुझे ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ है जिससे संसार में सात द्वीप और सात समुद्र ही है। उन द्वीप तथा समुद्र को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ तथा इस ज्ञान का वर्णन दूसरे को सुना सकता हूँ इस प्रकार का अतिशय संपन्न ज्ञान और दर्शन मुझे उत्पन्न हुआ है।

शिवराजर्षी की यह बात सुनकर हस्तिनापुर के लोग परस्पर ये बातें करने लगे कि "ऋषी का यह कथन हम सत्य कैसे मानें? क्योंकि कथन में कुछ भी युक्ति नहीं है।" लोग जिस समय यह चर्चा कर रहे थे उसी समय अनंत संसार में असंख्यात द्वीप-समुद्र को स्वयं के अनंत ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष करनेवाले देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी स्वयं के १४ हजार उत्कृष्ट मुनि ३६ हजार साध्वियों से परिवृत होकर गांव-गांव परिभ्रमण करते हुए जगत के जीवों के कल्याण के लिए हस्तिनापुर पधारे। गांव के लोग भगवान को वंदन तथा धर्मोपदेश सुनने के लिए समवसरण में आये।

उस समय महावीरस्वामी के बड़े शिष्य इन्द्रभूति गौतम गणधर भगवान की आज्ञा लेकर गोचरी के लिए निकले तथा लोगों के मुख से शिवराजर्षी की बात सुनी फिर गौतमस्वामी भी समवसरण में आये और शंकानिवारण के लिए भगवान से पूछा कि–हे प्रभो ! शिवराजर्षी संसार में सात द्वीप तथा सात समुद्र की प्रतिपादना करते हैं उस समय में आपका क्या कथन है ?

भगवान ने कहा कि हे गौतम ! शिवराजर्षी का यह कथन सत्य नहीं है परंतु मिथ्या है । इस विषय में मेरा कहना यह है कि असंख्यात द्वीप तथा असंख्यात समुद्र है ।

हे गौतम ! इस लोकाकाश में जम्बूद्वीप आदि तथा लवण समुद्र आदि जो समुद्र है वे संस्थान की अपेक्षा से एक समान है अर्थात् चूड़ी के आकार के समान है परंतु विस्तार की अपेक्षा से अनेक प्रकार के हैं क्योंकि सभी का द्विगुणित-द्विगुणित विस्तार है । द्वीप करते समुद्र और समुद्र करते द्वीप दुगने विस्तारवाले होते हैं ।

इस प्रकार जीवाभिगम सूत्र में कहा है। उस प्रकार स्वयंभूरमण समुद्र तक में असंख्यात द्वीप और समुद्र का अस्तित्व है ।

हे प्रभु ! जम्बूद्वीप में वर्णरहित, गंधसहित, गंधरहित, रससहित, रसरहित और स्पर्शरहित–स्पर्शसहित द्रव्य भी परस्पर गाढ़श्लेष से संबद्ध होकर तथा स्पष्ट होकर रहते हैं ? यावत् शब्द से अन्योन्यावगाढानि अन्योन्य स्नेह प्रतिबद्धानि और अन्योन्य समभर शब्दों का संग्रह समझना ।

अन्योन्यावगाढ़ अर्थात् परस्पर ऐक्यभाव से युक्त होकर रहना ।

अन्योन्य स्नेह प्रतिबद्ध–स्निग्धता (चिकना) के गुणों को लेकर परस्पर संबद्ध होकर रहना ।

सारांश यह है कि जैसे घड़े में भरा हुआ पानी उस घड़े में संपूर्ण रूप से रहता है पर विषमरूप से नहीं। अर्थात् घड़े के सर्वदेश में व्याप्त

रहता है। इसीप्रकार जीव पुद्गल आदि पदार्थ भी इस जंबूद्वीप में संपूर्ण रूप से भरे रहते हैं।

भगवान ने कहा कि–हे गौतम ! जंबूद्वीप में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वाले पौद्गलिक पदार्थ तथा उसके बिना धर्मास्तिकाय के पदार्थ परस्पर संबद्ध, स्पष्ट और समभर घटरूप से रहते हैं। इसीप्रकार लवण समुद्र तथा धातकी खंड से लेकर स्वयं भूरमण–समुद्र तक ये दोनों द्रव्यों की विद्यमानता जाननी। अन्योन्य स्पष्ट होकर रहनेपर भी वे अपने-अपने स्वभाव को छोड़ते नहीं हैं।

इसप्रकार गौतमस्वामी और महावीरस्वामी के मध्य में जो प्रश्नोत्तर हुए वे समवसरण में बैठी विशाल जनता ने सुना तथा संतोष पाकर प्रभु को वंदन करके वहां से घर पर गई।

परस्पर बातें प्रसारित हुई कि शिवराजर्षी का कथन असत्य है तथा प्रभु महावीर का कथन सत्य है। कर्णोपकर्ण इस बात को जब शिवराजर्षी ने सुना तब उनका मन शंका–आकांक्षा–त्रिचिकित्सा, भेदयुक्त और कलुषित भाववाला हुआ और ऐसा होनेपर तुरंत ही मेहमान के रूप में आया विभंगज्ञान भी चला गया। फिर ऋषि को विचार आया कि धर्म के आदि-कर्त्ता, तीर्थंकर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी प्रभु महावीरस्वामी अभी हस्तिनापुर के सहस्राभवन में बिराजमान है, उनका धर्मचक्र आदि आकाश में चलता है, अतः उन अरिहंत का नाम गोत्र का स्मरण करने मात्र से बहुफल की प्राप्ति होती है तो फिर उनका पूजन, वंदन, नमन, स्मरण, दर्शन आदि की आराधना महाफलवाली हो उसमें क्या आश्चर्य ?" मुझे भी प्रभु के पास जाना चाहिये। जिससे इस भव में और परभव में मेरा कल्याण हो। यह विचार कर तापस उपकरण रखकर हस्तिनापुर गांव के बीच से जहां समवसरण था वहां आये तथा तीन प्रदक्षिणा देकर वंदन कर उचित स्थान पर हाथ जोड़कर खड़े रहे।

मिथ्यात्वरूपी अंधकार में से सभी जीव सम्यग्दर्शनरूपी प्रकाश को

प्राप्त करे, प्रमाद तथा मोहस्वरूप मृत्यु में से सम्यगज्ञानरूपी अमृत का पान करे। ऐसी विशाल और चरम सीमा की भावदया से पूर्ण भगवंत ने-धर्मकथा कही और शिवराजर्षी भी स्वयं के कूल धर्म, तथा संप्रदाय आदि का अभिमान त्याग करके भगवान के चरणोपासक तथा भक्त बने।

स्कंदक की तरह स्वयं के सभी उपकरणों का वर्जन करके, पंच मुष्टि से लोच किया और प्रव्रज्या अर्थात् समिति गुप्तिरूप भागवती दीक्षा स्वीकार करके विविध प्रकार की तपस्या रूपी आग में कर्मरूपी कष्ट को जला डाले अन्त में सिद्ध बुद्ध और मुक्त बने। शिवराजर्षी की कथा संपूर्ण।

प्रश्न—सिद्ध जीव कौन से संघयण से मोक्ष में जाते हैं ? हे प्रभु ! यह संबोधन करके गणधर गौतम ने प्रभु को वंदन नमन किया और प्रश्न पूछा कि—हे भगवान ! सिद्धगति (सिद्धशिला) में जानेवाले जीव कौन से संघयण से मोक्ष प्राप्त करते हैं ?

भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! वज्रऋषभनाराच संघयण से युक्त जीव ही सिद्धशिला के लिए भाग्यशाली बनते हैं। दूसरे एक भी संघयण में मोक्ष नहीं है। यहां औपपातिक सूत्रानुसार जानना। वहां संहनन, संस्थान, उच्चत्व, आयुष्य और परिवसना 'इन पांच द्वारो' से विचार किया है।

संहनन—जिस भव में यह जीव मोक्ष की प्राप्ति के लिए लायक बनता है। तब छः प्रकार के संहनन में से केवल वज्रऋषभनाराच संहनन से ही मोक्ष में जाता है। बाकी के संहनन में कर्मो को संपूर्ण क्षय करने जितनी शक्ति नहीं होने से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता हैं।

कर्मों को बांधने के लिए जैसे हड्डियों की ताकत अनिवार्य है वैसे ही कर्मों को नष्ट करने में शरीर की हड्डियों की शक्ति भी सर्वथा अनिवार्य है।

क्योंकि संसार में अलग-२ जीव इस प्रकार से देखे जाते हैं जैसे कि—

(१) ईर्ष्या और द्वेष में धमधमता मनुष्य पग से लंगड़ा है अतः दूसरे के साथ केवल बकवास करने के सिवाय दूसरा कुछ नहीं कर सकता है।

(२) सर्वांग सुन्दर है परन्तु मन-वचन-काया से कमजोर है अतः वह भी दूसरे के साथ बकवास ही करेगा।

(३) मन-वचन और काया से सशक्त है। पर बौद्धिक जीवन अभी भी मारकाट के लिए तैयार नहीं है। अतः क्रोध आनेपर भी लकड़ी को इधर-उधर फिराने के सिवाय कुछ नहीं कर सकेगा।

(४) घर में तलवार, बंदूक होनेपर भी उसके उपयोग में अज्ञात होने से दूसरे को तलवार आदि दिखाकर धमकी के अलावा कुछ भी नहीं कर सकता है।

(५) वचन तथा काया में हिंसक वृत्ति है। दूसरे को मौत के घाट उतारने की ताकत है हाथ में तलवार आदि पकड़ने की हैसियत भी है परन्तु मानसिक तथा बौद्धिक जीवन में मार डालने की भावना न होने से हाथ में लिए हुए शस्त्रों को भी उपयुक्त नहीं करेगा।

(६) मन-वचन तथा काया के कण कण में हिंसक भाव होने से ही दूसरे को मार देगा।

इत्यादि प्रसंग में हड्डियों की ताकत अनिवार्य है। क्योंकि हड्डियों की ताकत शरीर में आती है तथा शरीर की ताकत मन और बुद्धि में आती है।

संघयण-संहनन का अर्थ शास्त्रकार ने इस प्रकार किया है "अट्ठिनिचओ" अर्थात् बंध रहे मकान में खंभे की मजबूती अत्यन्त आवश्यक है वैसे शरीर की रचना में भी हड्डियों की मजबूती आवश्यक है।

गर्भ से जन्म लेनेवाले सभी जीव के शरीर में हड्डियां होती हैं परन्तु सभी की मजबूती एक समान नहीं होती। क्योंकि जीवमात्र के

शुभाशुभ कर्म भिन्न–२ होने के कारण हड्डियों की रचना में भी फर्क आता है।

माता के गर्भ में शरीर तथा इन्द्रिय-पर्याप्ति के द्वारा रचे हुए शरीर से स्वयं के पूर्व भव के पुण्य-पाप को भोगने के लिए ही संहनन नाम कर्म का उदय होनेपर प्रति समय औदारिक वर्गणा को ग्रहण करता हुआ जीव आहार लेता है। उसके रक्त, रस, मांस में से हड्डियों का निर्माण होता है। ये सभी क्रियाएं जीवात्मा के आधीन होती है।

संहनन (संघयण) ६ प्रकार का है :––

(१) वज्रऋषभ नाराच संघयण (२) ऋषभ नाराच संघयण (३) नाराच संघयण (४) अर्ध-नाराच संघयण (५) किलिका संहनन (६) सेवार्त संहनन।

उपरोक्त ६ संस्थानों में रहे शब्द का अर्थ निम्न है :–

वज्र अर्थात् हड्डियों की खील।

ऋषभ अर्थात् हड्डियों की पट्टी।

नाराच अर्थात् मर्कट बंध।

महान् पुण्य कर्म से मिले हुए मनुष्य शरीर का सुख, हलन–चलन, खाना–पीना, उठना–बैठना, वैसे ही पुण्यकर्म को भोगने में शरीर झुक सके उसके लिए पूरे शरीर की हड्डियों में जोड़ (सन्धियें) होता है और उनकी मजबूती के लिए संहनन नामकर्म जवाबदार है।

शुभनामकर्म से हड्डियां मजबूत रहती है।
अशुभ नामकर्म से हड्डियां कमजोर रहती है।

(१) वज्रऋषभनाराच संहनन––

बन्दर का बच्चा अपनी मां को जैसे चिपक जाता है तथा उसके कूदने पर भी बच्चे को कुछ भी नहीं होता है वैसे ही इस कर्म के कारण हड्डियों

की जोड़ परस्पर मर्कटबंध से बंध जाने के बाद दोनों तरफ हड्डियों के खील होती है तथा दोनों हड्डियों के बीच को अच्छी प्रकार से काबू में रखने के लिए चारों तरफ से हड्डियों का पट्टा होता है और आर पार उतर जाए ऐसा खीला डाला हुआ होता है। यह प्रथम संहनन नामकर्म के प्रताप से ही।

(२) ऋषभ नाराच संघयण—सभी प्रथम संघयण की तरह, केवल बीच में आरपार खीला का अभाव है।

(३) नाराच संहनन—इसमें आर-पार उतरे जैसा खीला तथा पट्टा नहीं होता है केवल मर्कटबंध ही होता है।

(४) अर्धनाराच संहनन— मर्कटबंध में भी एक तरफ मर्कटबंध तथा दूसरी तरफ खील से टीका हुआ होता है।

(५) किलिका संहनन—दोनों हड्डियां केवल खीली से टीकी हुई होती है।

(६) सेवार्त संहनन—इसमें केवल हड्डियों के सिरे ही परस्पर जुड़े रहते हैं। मजबूती के लिए और कुछ नहीं होता है।

इस प्रकार ये छः संहनन स्थावर, देव और नारकी के नहीं होते हैं क्योंकि उनके शरीर में हड्डियों का अभाव होता है।

संस्थान नामकर्म—इस कर्म के कारण शरीर पर्याप्ति द्वारा रचे हुए शरीर में सुन्दरता और असुन्दरता का निर्माण होता है। यह संस्थान भी छः प्रकार का है :–

(१) समचतुरस्र संस्थान—शरीर के चारों कोने जिसके बराबर हो अवयव सुव्यवस्थित हो, आकार-प्रत्याकार सुन्दर हो तथा उठते, बैठते, चलते भी सभी को पसंद आ जाय ऐसा होता है। बेडोल नहीं होता है।

(२) न्योग्रोधपरिमंडल संस्थान—वड़ का वृक्ष जैसे ऊपर से घटादार

होता है वैसे नाभि के ऊपर का शरीर सुलक्षण होता है अर्थात् नाखून, मुंह, आंख, कान आदि अवयव सभी इस संस्थान के सुन्दर होते हैं।

(३) सादि संस्थान––नाभि के नीचे का शरीर सुलक्षण होता है। यहां सादी शब्द के बदले साची शब्द का भी उपयोग होता है उसका अर्थ साल्मली का झाड़ होता है। उसका धड़ अच्छा होता है पर डाल, पांदड़े आदि अच्छे नहीं होते हैं। वैसे इस संस्थानवालों के पैर, जांघ, घुटने तथा पैर की अंगुलियें अच्छी होती है परन्तु नाभि के ऊपर के अंग मनपसन्द तथा सामुद्रिक दृष्टि से सुलक्षण नहीं होते हैं।

(४) कुब्ज संस्थान––मस्तक, मुंह, हाथ पांव आदि अच्छे होते हैं पर छाती, पेट आदि बेडोल होते हैं।

(५) वामन संस्थान––सिर, मुंह, हाथ, पांव आदि लक्षणरहित होते हैं तथा छाती-पेट का भाग भी अच्छा नहीं होता है।

(६) हुंडक संस्थान––शरीर के प्रत्येक अंग उपांग बेडोल होते हैं।

अब गौतमस्वामी आगे पूछते है कि–हे भगवन् ! सिद्धशिला को प्राप्त करनेवाला जीव इन ६ संस्थान में से कौन से संस्थान से सिद्ध होता हैं।

भगवान ने कहा कि––६ संस्थान में से किसी भी संस्थान से मोक्ष मिल सकता है।

सारांश यह है कि शरीर की बाह्यरचना सुंदर हो या असुंदर, वर्ण काला हो या गोरा, पसीना सुगंधी हो या दुर्गन्धी, दांत दो चार बाहर निकले हो या दाड़म के दाने जैसे हो, दांत हो या न हो, सिर के बाल मुलायम या रींछ जैसे जाड़े हों, उच्चकुल का हो या नीच कुल का, शाब्दिक ज्ञान में बड़ा पंडित हो या अशिक्षित तो भी केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिए शरीर का कोई भी प्रकार केवलज्ञान को रोक नहीं सकता

है। बेशक ! शरीर की मजबूती, हड्डियों की ताकत और आत्मबल की आवश्यकता अत्यन्त आवश्यक है।

(३) उच्चत्व—मनुष्य के शरीर की ऊँचाई भी एक समान नहीं होती है। अतः मोक्ष के लिए कितनी ऊँचाई की जरुरत होती हैं ?

भगवान ने कहा कि–कम से कम सातरत्नी प्रमाण और अधिक से अधिक पांच सौ मनुष्य प्रमाण शरीर की ऊँचाई से मोक्ष मिलता है।

रत्नी अर्थात् मुट्ठी बन्द करने के बाद हाथ।

(४) आयुष्य—कम से कम आठ वर्ष तथा अधिक से अधिक पूर्व-कोटि प्रमाणवाले जीव सिद्ध होते हैं।

(५) परिवसना—मोक्ष के जीव कहां रहते हैं।

भगवान ने कहा कि—रत्नप्रभादि पृथ्वी, सौधर्मादिक विमान था इषत्प्राग्भारान्त क्षेत्र विशेष के नीचे सिद्ध के जीव नहीं रहते है परंतु सर्वार्थसिद्ध विमान के उपरितन स्तूपिकाग्र से बाहर योजन ऊँचे जानेपर इषत्प्राग्भारा नाम की पृथ्वी आती है जिसकी पहोलाई ४५ लक्ष योजन की है तथा श्वेत वर्ण की रमणीय है उसके ऊपर एक योजन के विस्तार में लोकान्त है। इस योजन के उपरितन कोश के छट्ठे भाग में सिद्ध के जीव रहते हैं।

सिद्धशिला में बिराजमान जीव कैसे हैं ? भगवान ने कहा कि—

विच्छिन्न सव्वदुक्खा जाइजरा मरणबन्ध विमुक्का।
अव्वाबाहं सोक्खं अणुहुन्ति सासयं सिद्धा ॥१॥

(निस्तीर्ण सर्वदुःखाः जातिजरामरणबंधनविमुक्ताः। शाश्वतं अव्याबाधं सौख्यमनुभवन्ति सिद्धाः)

जीवामुक्ता संसारिणोय—जीव के मुक्त और संसारी दो भेद हैं।

कर्मक्लेष को संपूर्ण क्षय करके सिद्ध में गये हुए जीव मुक्त होते हैं तथा नर्क, तिर्यंच, मनुष्य, तथा देवगति में कर्म क्लेश के कारण चक्र की तरह परिभ्रमण करनेवाले जीव संसारी होते हैं।

चार गति को ही संसार कहा है। यहांपर तो सिद्ध के जीव का वर्णन करना है वह उपरोक्त गाथा के अनुसार करे—

निच्छिन्न सव्वदुक्खा—दुःख मात्र कर्म के क्लेष से होता है और सिद्ध के जीव कर्म के अणु से सर्वथा मुक्त होने से दुःखों से मुक्त होते हैं। वे अनंत सुख के मालिक है जबकि चार गति रुप संसार में परिभ्रमण करनेवाले जीवमात्र को दुःख तीन प्रकार का होता है—

(१) आध्यात्मिक दुःख।

(२) आधि भौतिक दुःख।

(३) आधि दैविक दुःख।

शरीर तथा मन से उत्पन्न होनेवाले दुःख को आध्यात्मिक कहते हैं क्योंकि वे पौद्गलिक होने से चिरस्थायी नहीं पर नाशवान ही होते हैं अतः पौद्गलिक सुख चाहे जितना मिले तो भी उसका विरह निश्चित होने से आदि-मध्य और अन्त में दुःखदायी ही होता है।

मोहवासित आत्मा जब खान-पान या व्यापार व्यवहार में अतिरेक करता है तब शरीर के वात-पित्त और कफ में विकार उत्पन्न होता है। परिणामस्वरूप बुखार, सर्दी, टी. बी., ब्लडप्रेशर, स्थूलता, भारीपन, आलस्य खांसी, चक्कर आदि रोग क्रमशः एक दो या तीन चार साथ में हो जाते हैं जो शरीर के दुःख हैं। जबकि जीवन में ईश्वरीय तत्त्व का अभाव होता है तब मानसिक जीवन में काम, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या वैर आदि उत्पन्न होते हैं। जिससे उनका मन अत्यन्त दुःखी रहता है।

मन में जब खराब तत्त्व, द्वेष, माया हो, जाति, कुल, लाभ, रूप,

ऐश्वर्य और विद्वतादि का अहंकार हो, असहिष्णुता, असमाधि, असंतोष आदि आसुरी वृत्तियें हो तब उसका असर शरीर तथा इन्द्रियों पर और अन्त में रक्त, मांस, हड्डियों और वीर्य पर पड़े बिना रहता नहीं है। ये सभी भयंकर दुःख आजीवन दुःखी होने के लिए है।

(२) आधिभौतिक दुःख—इसके कारण जीवन में भयग्रस्तता बनी रहती है। जैसे मनुष्य को मनुष्य का भय, मानो यह सामनेवाला मनुष्य मेरा दुश्मन होगा ? मार डालेगा तो ! मेरी निंदा करेगा तो अथवा जानवर, पंखी, सांप, बिच्छु, चूहा, कानखजुरा, सिंह, शेर आदि से हमेशा भय बना रहता है और जीवन में भय के समान एक भी दुःख नहीं है।

(३) आधिदैविक दुःख—इससे आकाश में रहे हुए यक्ष, राक्षस, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरू, राहू, केतु और शनि महाराज आदि ग्रहों का भय बना रहता है। हिन्दुस्तान में जन्मे मनुष्य को आप जानते है ? वे चौबीसों घंटे स्वयं की जेब में जन्मपत्रिका लेकर ही घूमते हैं तथा सारे दिन कितने ही पंडितों के घर के चक्कर लगाते हैं। बम्बई समाचार में नये ज्योतिष की खबर ही करते रहते हैं। सभी को यह कहते हैं कि अभी मेरे शनि का ग्रह चल रहा है। महादशा भी शनि और अन्तर्दशा में भी राहू। हाय मेरा क्या होगा ? थोड़ी देर में हंसते-हंसते कहते हैं कि राहू की अन्तर्दशा के बाद गुरू के आने पर लाभ होगा। गुरू की अन्तर्दशा भी आती है और चली जाती है पर भाई को कुछ लाभ नहीं हुआ तो पंडित जी के यहां दौड़ते हैं तो पंडितजी कहते हैं भाई ! गुरू की अन्तर्दशा है पर ये आंकड़े स्पष्ट बता रहे हैं कि गुरू की अन्तर्दशा में भी बिगड़ी हुई मंगल की अन्तर्दशा ही तुम्हारी हानि कर रही है दान पुण्य करो मंगल के जाप के लिए १०१) रु. रखते जाओ। ऐसे भाग्यशाली का जीवन आशा के जरिये आगे बढ़ता है परन्तु दुःख के दिन कोई मिटाता नहीं है।

इन तीन प्रकार के दुःख से संसारी आत्मा प्रतिक्षण व्याकुल बनी रहती है। सिद्ध के जीवों को एक भी दुःख नहीं है। क्योंकि 'सिद्धाणं नात्थिदेहो'

अर्थात् सिद्ध के शरीर नहीं है तो फिर शरीर से संबंधित दुःख ही उनको कहां से हो ?

जाति जन्म मरण बन्धन विमुक्ताः
सिद्ध गति के जीव जन्म, मरण, जरा से मुक्त होते हैं।

कर्म का एक भी अणु जिसकी आत्मा पर विद्यमान हो उसको जन्म लेना पड़ता है और जहां जन्म है वहां मरण निश्चित है।

सिद्ध को जन्म लेना इसलिए नहीं है कि संसार के सभी निमित्त उनके समाप्त हो जाते हैं। बीज नष्ट हो जाय तो अंकुरोत्पत्ति कहां से हो ? इस प्रकार कर्म के अंकुरमूल ही तपस्यारूपी आग में जलकर राख हो गए हो तो उनको जन्म लेने की जरूरत नहीं होती है।

अऽव्वाबाहं सोक्खं अणुहुन्ति सासयं सिद्धा

सिद्ध के जीव अव्याबाध शाश्वत के सुख के भोक्ता है।

शरीर के बिना सुख कैसा ?

सम्यग्ज्ञानरहित मनुष्य समझते हैं कि 'संसार में जो कुछ सुख है वह शरीर तथा इन्द्रियों का ही है।' परंतु समझना चाहिए कि 'शरीर इन्द्रियां और मन पौद्गलिक होने के कारण उनके माध्यम से जो सुख भोगा जाता है वह वास्तव में सुख नहीं पर सुखाभास है।' किराये के पदार्थ, द्रव्य, या आभूषण थोड़े समय के लिए सुखाभास भले ही उत्पन्न करावे परंतु उनका वियोग तो महान् दुःखदायी ही होता है। इसीप्रकार बिजली की चमक जितने समय में पौद्गलिक सुख भी वियोग के समय अत्यन्त दुःखदायी बनते हैं। जैसे की विषय वासना पैदा हुई तथा स्त्रीसंभोग किया, भूख लगी भोजन किया, प्यास लगी और ठंडा पानी पिया आदि प्रसंग में अज्ञानी, मिथ्यात्वी समझते हैं कि "मैं सुखी हूँ।" परंतु सम्यग्ज्ञानी

आत्मा विषयवासना आदि को भयंकर से भयंकर रोग समझती हैं। संसार में प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि विषयवासना की गुलामी कारते त्यागी महात्मा करोड़ गुना सुखी हैं। खाने-पीने के कर्म में मस्त बनकर महारोगी से आहार-संज्ञा को लात मारनेवाले पुण्य पवित्र भाग्यशाली भी लाख गुना सुखी है। इसी कारण से विषयवासना सुख नहीं पर महादुःख है।

अनंत पाप को पोषनेवाले जीवात्माओं का अपने शरीर पर जहां तक मोहमाया का आधिपत्य है वहां तक वह जीवात्मा मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है।

सिद्धशिला में रहनेवाले सिद्ध के जीव अनंत सुखी इसलिए हैं उनके शरीर इन्द्रियां तथा मन नहीं हैं। अतः शरीरधारी प्राणी के सुख करते सिद्ध का स्वाभाविक सुख अनंत अव्याबाध तथा शाश्वत है। वे भी अनंत ज्ञानी, अनंतदर्शी है।

॥ नवमां उद्देशक समाप्त ॥

शतक–११ उद्देशक–१०

इस दसवें उद्‌देशक में निम्न विषय हैं—

द्रव्य क्षेत्र काल और भावलोक का वर्णन।

लोक और अलोक संस्थान का वर्णन।

लोक और अलोक जीवरूप है?

आ ाश के एक प्रदेश में जीव रहते हैं?

उपरोक्त विषय का इस उद्‌देशक में विस्तार से वर्णन किया है।

मगधदेश की राजगृही नगरी में एकदिन १४ हजार साधु, ३६ हजार साध्वी तथा करोड़ देवों से परिपूजित, सेवित, आराधित तथा बहुमानित चरमतीर्थंकर भगवान महावीरस्वामी पधारते हैं। स्वयं को धन्यवाद रूप में मानती हुई मगधदेश की जनता, श्रेणिक महाराज, चेलणा राणी, अभयकुमार जसे बुद्धिनिधान मंत्री आदि सभी समवसरण में जाते हैं और द्रव्य, नर, धर्म और भावदेव से पूजित देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी को बंदन नमस्कार कर पर्षदा बैठती है। भगवान उपेदश देते हुए कहते हैं कि गौतम–

अत्थि लोए–लोक है।

अत्थि अलोए–अलोक है।

अत्थि जीवा–जीव है।

अत्थि अजीवा–अजीव है।

अत्थि पुण्णं–पुण्य है।

अत्थि पावं–पाप है।

अत्थि बन्धो–कर्म बंधन है।

अत्थि संवरो—संवरतत्व है।

अत्थि आस्सवो—आश्रव है।

अत्थि मोक्खो—मोक्ष है।

इस प्रकार अभूतपूर्व देशना सुनकर अनेक जीव सम्यग्ज्ञान से वासित हुए और सम्यक् चारित्रधर्म स्वीकार किया। कुछ ने देश विरति धर्म स्वीकार किया और प्रसन्न होकर जनता अपने-२ घर गई।

लोक सम्बन्धी वक्तव्यता :

उस समय गौतमस्वामी ने पूछा कि हे प्रभो ! आप लोक को कितने प्रकार में मानते हो ?

भगवान ने कहा—हे गौतम ! मेरे से पहले के तीर्थंकर और मैं भी लोक को चार प्रकार का मानता हूँ वह निम्न हैः—

(१) द्रव्यलोक (२) क्षेत्रलोक (३) काललोक (४) भावलोक

इसमें लोक शब्द का अर्थ 'लोक्यते इति लोकः' अर्थात् सभी को साफ साफ दिखाई दे वह लोक है अथवा "जीवा जीवादि षड् द्रव्याणि यत्र सन्ति स लोकः" जिसमें जीवा जीवादि षड् द्रव्यों की विद्यमानता है वह लोक है।

द्रव्यलोक—यह आगम तथा नोआगम से दो प्रकार का है। आगम से द्रव्यलोक उसे कहते हैं कि जो साधक लोकशब्द को जाननेवाला हो पर उसमें उपयोगरहित हो वह द्रव्य कहलाता है। क्योंकि बिना उपयोग का सभी द्रव्य है।

नो-आगम द्रव्यलोक के तीन भेद हैं—

(१) ज्ञशरीर द्रव्यलोक (२) भव्यशरीर द्रव्यलोक (३) तद्व्यतिरिक्त द्रव्यलोक।

ज्ञशरीर द्रव्यलोक––एक समय जो व्यक्ति लोक शब्द को जानता था पर उसकी मृत्यु के बाद उस मृत शरीर को देखकर भूतकालीन ज्ञान की अपेक्षा से लोग कहते हैं कि यह मृत व्यक्ति लोक शब्द के अर्थ को अच्छी तरह जानता था। जैसे कि घड़े में पहले घी भराता था अब नहीं भराता पर लोग उसे घी का घड़ा ही कहते हैं।

भव्यशरीर नो–आगम से द्रव्यलोक :

यह बालक या नूतन दीक्षित भविष्य में लोक शब्द को जाननेवाला होगा उस अपेक्षा से उस बालक को भव्य शरीर द्रव्यलोक कहते है। जैसे नये घड़े को देखकर कहा जाता है इस घड़े में शहद भरा जायगा। इस दोनों में 'नो' शब्द सर्व निषेध अर्थ में लिया है।

तद्व्यतिरिक्त द्रव्यलोक––इसमें धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, और काल आदि द्रव्य है। उनको आगम से ज्ञ, भव्यशरीर, व्यतिरिक्त द्रव्यलोक कहते हैं। जो–

"जीवमजीव, रूविमरुवि सपएसे अप्पएसे अ।
जाणाहि दव्वलोयं निश्चमणिच्चं जंदव्वं ॥

अर्थात् ६ द्रव्यों में–
जीव द्रव्य कितने और अजीव द्रव्य कितने ?
रुपी और अरुपी द्रव्य कितने ?
सप्रदेश और अप्रदेश द्रव्य कितने ?
नित्य और अनित्यद्रव्य कितने ?
परिणामी और अपरिणामी कितने ?
क्षेत्र और क्षेत्री कितने ?
सक्रिय और निष्क्रिय कितने ?
कारण और कार्य कितने ?
सर्वगत और असर्वगत कितने ?

इसप्रकार ६ द्रव्य सम्बन्धी के विस्तृत विचार को नोआगम से तद्-व्यतिरिक्त द्रव्यलोक कहा है। यहां भी 'नो शब्द' सर्वनिषेध में जानना क्योंकि तत्व की चर्चा में आत्मा उपयोगरहित होने से उसकी चर्चा करने पर भी भावचर्चा नहीं है अर्थात् आगम शब्द से वाच्य जो आगम है वह सर्वथा निषेध है।

उपयोगरहित की कोई भी चर्चा, क्रिया, पूजा आदि व्यवहार द्रव्य है।

क्षेत्र लोक–हे प्रभो ! क्षेत्रलोक कितने हैं ?

हे गौतम ! तीन प्रकार के हैं––

(१) अधोलोक ! (२) तिर्छालोक ! (३) उर्ध्वलोक !

लोकाकाश के प्रदेश ऊंचे, नीचे तिर्छे सर्वत्र होते हैं। अतः जहां जहां आकाश के प्रदेश हैं वहां वहां क्षेत्रलोक है इसलिए उपरोक्त तीन भेद हैं।

काल लोक—भगवान ने कहा कि अविभाज्य समय से लेकर काल-चक्र तक की जिसमें गिनती हो वह काल लोक जैसे कि—

समयावली मुहुत्ता दिवस अहोरत्तपक्ख मासाय।
संवच्छर जुगपलिआ सागर उस्सपि परियट्ट।"

अथवा–

समयावली मुहुत्ता दीहा पक्खायमास वरिसाय।
भणिओ पलिआ सागर उस्सप्पि सप्पिणी कालो॥

अर्थात्–समय–आवली–मुहूर्त्त–दिवस अहोरात्र, पक्ष, मास, वर्ष, युग पल्योपम, उत्सर्पिणि, अवसार्पिणी और कालपरावर्त्त आदि काललोक हैं ये सभी के कोष्ठक पहले आ गये हैं।

भावलोक—आगम तथा नोआगम से भावलोक दो प्रकार का है। लोक शब्द के अर्थ के ज्ञाता और उसमें उपयुक्त अर्थात् उपयोग पूर्ण

जीवात्मा आगम से भावलोक ६।

सारांश यह कि मन, वचन और काया की एकाग्रतापूर्वक पूर्ण श्रद्धावात बनी हुई आत्मलोक में रहे द्रव्य के विचार में पूर्ण मस्त होने से वे भावलोक के मालिक हैं। जबकि नोआगम से भावलोक ६ प्रकार के हैं—

(१) औदयिक भावलोक।

(२) औपशमिक भावलोक।

(३) क्षायिक भावलोक।

(४) क्षायोपशमिक भावलोक।

(५) पारिणामिक भावलोक।

(६) सन्निपात भावलोक।

उपरोक्त ६ प्रकार के भावलोक को केवल आत्मा के साथ ही सम्बन्ध होने से विस्तार से विचार करते हैं।

जीव के (स्वरूप स्वभाव–स्वतत्व)–संसार भर के किसी भी पदार्थ को जानने के लिए नाम—निर्देश, स्वरूप और लक्षण इन तीनों से उसका विचार करना पड़ता है उसके बिना वस्तु का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता है।

जीवास्तिकाय यह जीव का नाम निर्देश हुआ तो फिर जीव का स्वभाव तथा लक्षण क्या है?

भगवान ने कहा कि—उपरोक्त ६ भाव ही जीव का स्वभाव, स्वरूप और स्वतत्व है।

प्रवाह रूप में अनादिकाल से जीव और कर्मों का मिश्रण ही संसार है और उनका सर्वथा वियोग ही मोक्ष है। अंगीठी या प्राइमस के निमित्त से शीतल पानी भी गर्म होता है उसी प्रकार संसार की (स्वतत्व से

विपरीत) मोहमाया से जीव को अधर्म की भावना होती है और अनंत कर्मों की माया को स्वयं इकट्ठी करता है परंतु जब उसकी मोहमाया कमजोर होती है तथा पुरुषार्थ शक्ति का विकास बढ़ता जाता है तब जीव का मूल स्वरूप अलग अलग रूप में प्रकट होता है इसे ही भाव कहते हैं जिसकी संख्या उपरोक्त है।

किये हुए प्रारब्ध कर्म का जब उदय चालू हो तब आत्मा औदयिक भाववाली कहलाती है। कर्म का उपशम होने पर औपशमिक भाव, क्षय और उपशम के मिश्रण से क्षायोपशमिक भाव तथा जो स्वतः जीव के साथ रहता है वह पारिणामिक भाव है और अन्तिम सन्निपात भाव है।

दूसरे अस्तित्व आदि भाव जीव तथा अजीव में समान होते हैं जबकि उपरोक्त ६ भाव जीव में ही होते हैं। अतः ये भाव जीव के स्वतत्त्व स्वभाव तथा स्वरूप है।

आयुष्य कर्म की बेड़ी को सर्वथा तोड़ डालनेवाले सिद्ध के जीव को भी क्षायिक और पारिणामिक भाव की विद्यमानता होने से यहां पर जीव शब्द का अर्थ आयुष्यकर्म को लेकर जीवन धारे वह नहीं करते प्राणों को धारे यह अर्थ लेने का है। इस अर्थ में द्रव्य प्राण को धारण करनेवाले संसारी जीव और भावप्राण के धारक सिद्ध जीव का भी समावेश होता है। द्रव्यप्राण में कर्म का कारण है और भावप्राण में उसकी अपेक्षा नहीं होने से शाश्वत है। जीवों के दो भेद हैं। एक भव्य तथा दूसरा अभव्य। भव्य को औपशमिक और क्षायिक भाव होता है जबकि अभव्य को किसी भी समय ये भाव नहीं होते हैं।

इन दोनों भाव की निर्मलता करीब एक समान होती है केवल औपशमिक भाव में उसके अवरोध कर्मों की सत्ता रहती है जबकि क्षायिक भाव में किसी प्रकार के अवरोधक कर्म नहीं है। जैसे कि गन्दे पानी में फिटकरी डालने से धूल, राख आदि नीचे बैठ जाती है और ऊपर का पानी साफ हो

जाता है, परंतु पानी को हिलाते ही वह पानी फिर से गंदा हो जाएगा। क्षायोपशमिक भाव की भी यही दशा है, जबकि स्वच्छ पानी को धीरे से दूसरे बर्तन में ले लेते हैं तब चाहे जितना हिलाया जाए तो भी पानी स्वच्छ ही रहेगा क्योंकि उसमें धूल नहीं है। इसीप्रकार क्षायिक भाव में अवरोध-रूप सातों कर्मप्रकृतिओं का क्षय हो जानेपर नीतरे हुए स्वच्छ पानी की तरह आत्मा का कर्म मैल भी तकलीफ नहीं करता है।

क्षायोपशमिक भाव में प्रतिपक्षी कर्म की देशघाती प्रकृतियें विद्यमान होने से उसका विपाकोदय चालू रहता है, जैसे गंदे पानी में फिटकरी डालने से कुछ कचरा नीचे बैठ जाता है और कुछ पानी में मिश्रित हो जाता है। क्षायोपशमिक भाव की भी यही दशा है।

औदयिकभाव में कर्मों का उदय विद्यमान रहता है।

पारिणामिक भाव में कर्मों की अपेक्षा नहीं है।

अनंतानंत कर्मों के संस्कार से वासित होनेपर आत्मा के विचार सम्यक्त्व की शक्ति के बिना एक समान नहीं रह सकते हैं जिससे आत्मा में भिन्न भिन्न विचारों के प्रादुर्भाव के कारण आत्मा भी अलग अलग विशेषणों से विशेषित होती है। जैसे यह आत्मा क्षायिक भाव का मालिक है, वह औपशमिक का मालिक। जिस आत्मा ने सम्यक्चारित्र का विकास बराबर नहीं किया है पर जैनत्व के प्रति श्रद्धावान है वह आत्मा क्षायोपशमिक कहलाती है और तीनों अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चरित्र के प्रति बेध्यान रहनेवाली आत्मा औदयिक भाववाली कहलाएगी। "कर्मणामुदये भवतीति-औदयिको भावः" जो आत्मा उदय में आनेवाले कर्मों का उपशम क्षय या क्षयोपशम नहीं कर सकती है वह कर्मों के उदय में ही रहने से औदयिक भाववाली बनती है। जिसके २१ भेद हैं :—

४ गति—नर्क, तिर्यंच, मनुष्य और देव।

४ कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ।

३ लिंग—पुरुषलिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग।

१ मिथ्यादर्शन।

१ अज्ञान।

१ असंयत।

६ लेश्या—कृष्ण-नील, कापोत, तेज, पद्म तथा शुक्ल लेश्या।

१ असिद्धत्व= २१।

वैसे देखने जाय तो सभी प्रकृतिये उदय में आये बिना नहीं रहती है, अतः जितनी प्रकृतिये हैं। उतने ही औदायिक भाव होने चाहिए।

शंका के समाधान में कहा है कि, आयुष्यकर्म, गोत्रकर्म, जातिनाम कर्म, शरीर तथा अंगोपांग नामकर्म आदि सभी प्रकृतियों का समावेश गतिनामकर्म में किया हुआ होने से औदायिक भाव के २१ भेद ही शास्त्र-मान्य है।

लेश्या—द्रव्य तथा भाव की अपेक्षा से दो प्रकार की है। शरीर के वर्ण आदि को लेकर द्रव्यलेश्या और आन्तरिक जीवन में प्रतिसमय होते भावांतरों को भावलेश्या कहते हैं। दूसरे प्रकार से भी लेश्या दो प्रकार की है।

'किण्हा नीला काऊ तिन्निय लेसाओ अपसत्थाओ। और तेउ पम्हा सुक्का तिन्निय लेसाओ सुपसत्थाओ।

औपशमिक भावलोक—प्रारब्ध कर्मों को भुगतते हुए जीवात्मा को किसी समय अपनी पुरुषार्थ शक्ति का विचार आता है। तब उदय में आये हुए निकाचित तथा अनिकाचित कर्मों के जोर का उपशमन करता है। उस समय उसमें परमात्मा की शक्ति का प्रकाश फैलता है तथा अनन्त शक्ति का मालिक स्वयं की अटूट शक्ति के द्वारा मोहराजा की अभेद्यशक्ति को तोड़ता हुआ आगे बढ़ता है, उस समय औपशमिक भाव का उद्भव होते

ही परमात्मा के साथ घनिष्ठ संबंध जोड़ने की योग्यता जीव में आती है। ऐसा होनेपर आत्मा की शक्ति भी प्रतिसमय बढ़ती जाती है। इसके सम्यक तथा चारित्रा दो भेद हैं :—

(१) सम्यकत्व रूप औपशमिक भाव—

क्षायिक तथा क्षायोपशमिक भाव के भेदों में भी सम्यकत्व तथा चारित्र का नंबर है। फिर भी औपशमिक भाव में इनको कहने का आशय यह है कि इस भाव के ये दो ही भेद हैं। कारण बतलाते हुए कहा है कि—ग्रहों में सूर्य तथा ताराओं में चन्द्र जैसे शक्तिसम्पन्न है, वैसे ही आठों प्रकार के कर्मों में मोहराजा का प्राबल्य अधिक है तथा उसके राग-द्वेष, क्रोध, लोभ, माया आदि सैनिकों का जोर भी कम नहीं है तो भी अनंत-शक्ति का अधिपति आत्मा जब अपनी शक्तियों का उद्घाटन करने लगती है, तब मोहराजा का किल्ला तथा उसके सुभटों को हतप्रभ होने के अलावा दूसरा मार्ग नहीं रहता है।

तीर्थंकर देवों ने इसीलिये कहा है कि—आठों कर्मों में केवल मोहकर्म का ही उपशम हो सकता है। सारांश कि दूसरे कर्मों का क्षय अथवा क्षयोपशम होता है। जब मोहकर्म को दबाने पर दब भी जाता है।

आत्मा में यदि सम्यगज्ञान का प्रकाश होगा तो क्रोध की उग्रता का, मानरूपी नागराज की भयंकरता का माया की कुटिलता का, लोभ राक्षस का तथा कामदेव की शैतानी का उपशमन होना सरल बनता है। तब क्रूरतापूर्वक का हास्य, रति-अरति, शोक संताप आदि भी शक्तिहीन बनते हैं।

सम्यकत्व-सम्यगदर्शन-आत्मदर्शन होने में अवरोध करनेवाला तथा उत्पादित सम्यकत्व का घात करनेवाला दर्शनमोहनीय कर्म है। जिसके तीन भेद हैं। सम्यकत्वमोहनीय मिथ्यामोहनीय तथा मिश्रमोहनीय उपरांत अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया तथा लोभ। ये सात सैनिक जो मोहराजा

के अत्यंत शक्तिशाली होने से उसकी मायाजाल में फंसी हुई आत्मा जब तक उससे जमकर युद्ध करके विजय पताका प्राप्त नहीं करती तब तक कोई भी आत्मा सम्यद्ग्शंन प्राप्त करने में समर्थ नहीं बनती है, कभी बन जाय तो भी इन सैनिकों के अभिशाप से सम्यग्दर्शन का वमन हुए बिना नहीं रहता है। अतः सम्यगदर्शन के साथ मोहराजा के इन सात सैनिकों का कट्टर वैर है।

भूतकालीन किसी भी भवांतर में जिस भाग्यशाली ने प्राप्त सम्यकत्व का वमन कर लिया होगा, उसको पुनः सम्यकत्व प्राप्त करने के लिये सातों प्रकृतिओं का उपशम करना आवश्यक है। जब अनादिकाल के मिथ्यादृष्टि जीव को पांच प्रकृतिओं का उपशम ही जरूरी है, क्योंकि अभी तक सम्यकत्व को प्राप्त ही नहीं किया होने से उनके लिये सम्यकत्व मोहनीय तथा मिश्र मोहनीय का प्रश्न रहता ही नहीं है, फिर उसके उपशम की बात ही रहती नहीं है।

(२) सम्यकचारित्र भाव :

सम्यगदर्शन की प्राप्ति में जैसे पांच या सात प्रकृतिओं का उपशम अनिवार्य है, जैसे सम्यकचारित्र को प्राप्त करने के लिये चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम अनिवार्य है। इससे अनादिकाल से शुभाशुभ प्रवृत्ति करने की आदतवाले जीवात्मा की सभी अशुद्ध तथा अशुभ प्रकृतिओं की निवृत्ति हो जाती है।

यह औपशमिक सम्यकत्व चौथे गुणस्थानक में संभावित है और सम्यकचारित्र ग्यारहवे गुणस्थानक में पूर्ण होने की तैयारी में होता है। क्योंकि चारित्र मोहनीय कर्म की शेष २१, प्रकृतिये यहांपर उपशमित होती है। अर्थात् दसवे गुणस्थानक तक मोहनीय कर्म की ये प्रकृतिये रहती है तथा ग्यारहवे में शांत होती है। अन्तर्मुहूर्त समाप्त होते ही उप-

शमित हुई प्रकृतियें फिर से उदय में आकर तूफान की तैयारी करती है। साधक में यदि अप्रमत्तता होगी तो आंख की पलक में कर्मराजा को हराकर उसकी पीछेहट करा देता है। यदि एक पल भी प्रमाद आ गया तो साधक को यावत् पहले गुणस्थानक में भी पहुँचना जरूरी रहेगा।

(३) क्षायिक भाव :

इसके नौ भेद निम्नलिखित है :—

ज्ञान, दर्शन, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चरित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य क्षायिक भाव है।

अनंत शक्तिसंपन्न, निरंजन, निराकार, परमात्मस्वरूप, शुद्धबुद्ध आदि विशेषण आत्मा के हैं। जिनको हम हमेशा से जानते आये हैं, परंतु प्रतिपक्षी कर्मों का सर्वथा क्षय बिना ये विशेषण कभी भी सार्थक नहीं बनते हैं, अतः क्षायिक भाव प्रकट होने के पहले ही आत्मा स्वयं की पुरुषार्थ शक्ति के द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर तपस्या के माध्यम से कर्मरूपी लकड़ी को जलाकर राख कर देती हैं। इस प्रकार ज्ञानवरणीय कर्म का क्षय होने के बाद केवलज्ञान–(अनंतज्ञान), दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होने के बाद केवलदर्शन (अनंतदर्शन) मिथ्यात्व मोहनीय का नाश होनेपर क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र मोहनीय का क्षय होनेपर क्षायिक चारित्र और अंतराय कर्म का नाश होनेपर दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य की अनंतता प्राप्त होती है।

क्षायिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है। शेष रहे अनंत ज्ञानादिभाव तेरहवें गुणस्थान पर होते हैं। आठ कर्म के नाश होनेपर सिद्ध अवस्था में "सिद्धत्व" भाव उत्पन्न होता है। अतः इसका निर्देश नवमें किया नहीं है।

(४) क्षायोपशमिक भाव :

इस भाव के १८ भेद हैं—

४ ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान।

३ अज्ञान—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान, मिथ्यादर्शन से युक्तज्ञान, अज्ञान।

३ दर्शन—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन।

५ लब्धि—दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि और वीर्यलब्धि।

१ सम्यक्त्व।

१ चारित्र।

१ श्रात्वक धर्म।

—–—
१८

प्रारब्ध कर्म दो प्रकार के हैं। उनकी शक्ति भी दो प्रकार की है। आत्मा की संपूर्ण शक्ति को अवरोध कर ले वे सर्वघाती कर्म और किसी अमुक शक्ति को अवरोध करे वह देशघाती कर्म कहलाते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय अंतराय और मोहकर्म यह चार घाती कर्म के उदय के समय आत्मा की शक्ति पर प्रभाव पड़ता है जिससे केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है तथा अघाती कर्म केवलज्ञान को रोक नहीं सकते हैं क्योंकि यह कर्म केवल शरीर को ही हानि पहुँचाता है।

घाती कर्म की प्रकृतियों में से कुछ प्रकृति सर्वघाती तथा कुछ देशघाती होती है जो निम्न है:—

४ ज्ञानावरणीय कर्म की चार प्रकृति—

मतिज्ञानवरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानवरणीय और मनः-प ्वज्ञानावरणीय। जबकि केवलज्ञानावरणीय सर्वघाती है।

३ दर्शनावरणीय कर्म की तीन प्रकृति—

चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय और अवधिदर्शनावरणीय। जबकि केवलदर्शनावरणीय सर्वघाती है।

१ सम्यक्त्व प्रकृति।

४ संज्वलन कषाय।

५ अंतराय कर्म की प्रकृति।

९ नो-कषाय

२६

कर्मप्रकृति देशघाती की है। इसमें प्रतिपक्षी कर्म का उदय भी अवश्य होता है जो देशघाती है। जैसेकि–जहां मतिज्ञान का उदय है। वहां मतिज्ञानावरणीय कर्म का भी उदय हो सकता है।

चक्षुदर्शन के उदय चक्षुदर्शनावरणीयक होता है। सम्यक्त्व के उदय में मिथ्यात्व भी सत्ता में रहता है। दानादिलब्धि मिलनेपर भी दानांतराय आदि कर्म का भी उदय संभावित है।

(५) पारिणामिक भाव :

इस भाव के जीवत्व, भव्यत्व, और अभव्यत्व आदि तीन भेद हैं। जहां जीव है वहां जीवत्व होता है और जहां जीव हैं वहां भव्यत्व तथा अभव्यत्व भी होता है। ये भाव स्वतः सिद्ध होने से कर्म निरपेक्ष है।

अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणवत्त्व, असर्वगतत्त्व, अनादि-

आग्नेयी दिशा में एकेंद्रिय के अनेक देश तेइन्द्रिय का एक देश। अनेक देश और तेइंद्रियजीव के अनेकदेश रुप तीन भांगे जानना।

इसी प्रकार चउरिन्द्रिय पंचेद्रिय और केवली प्रदेश के भी तीन-२ भांग समझना।

इसी तरह दूसरी दिशा विदिशा में भी ऐसा ही जानना।

शंका—उर्ध्वदिशा में सिद्ध के जीव होते हैं। पर अधो दिशा में नहीं होते तो वहां सिद्धजीव के देश और प्रदेश की कल्पना कैसे होगी?

समाधान—समुद्‌घातरूप दंडादि अवस्थावाले सिद्धजीव को लक्ष्यकर जीव के देश–प्रदेश की संभावना का इन्कार नहीं कर सकते हैं।

सूर्यादि के प्रकाश के कारण से काल का व्यवहार संभावित है, अतः अधोदिशा में काल का व्यवहार नहीं होने से वहां ६ भेद समझना।

उर्ध्व दिशा में भी सूर्य का सद्‌भाव नहीं है। ऐसा होनेपर भी मेरुपर्वत के स्फटिककांड में सूर्य के प्रभा की संक्रांति होती है। उसके द्वारा सूर्य का प्रकाश वहां पहुँच सकता है। अतः उर्ध्वदिशा में समय का व्यवहार है।

शरीरों की वक्तव्यता :

भगवान ने कहा कि—हे गौतम! औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण रुप में शरीर पांच हैं।

सिद्धों के शरीर नहीं :

आठों आठ कर्मों का सर्वथा नाश करने के बाद ही सिद्धशिला प्राप्त जीवों को "सिद्धाणं नत्थि देहो।" इस सूत्र के अनुसार शरीर नहीं होता

(१) सौधर्मकल्प उर्ध्वलोक रुप क्षेत्र लोक (२) ईशानकल्प उर्ध्वलोक क्षेत्रलोक। इसप्रकार (३) सनत्कुमार (४) माहेन्द्र (५) ब्रह्मलोक (६) लांतक (७) महाशुक्र (८) सहस्त्रार (९) आनत (१०) प्राणत (११) आरण (१२) अच्युत उर्ध्वलोक (१३) ग्रैवेयक विमान उर्ध्वलोक रुप क्षेत्र-लोक (१४) अनुत्तर विमान (१५) इषत्प्राग्भार पृथ्वी उर्ध्वलोक।

क्षेत्रलोक के संस्थान की बात करते हुए भगवान ने कहा—

अधोलोक–तप्र अर्थात् छोटी नाव के समान होता है।

संस्थान–उलटा किये शकोरा के जैसा है।

तिर्यगलोक–झालर जैसा है। झालर ज्यादा मोटी नहीं पर उसका विस्तार अधिक होता है। उर्ध्वलोक मृदंगतुल्य हैं।

लोक का संस्थान कैसा है?

भगवान ने कहा कि हे—गौतम! लोक सुप्रतिष्ठित आकार जैसा है सुप्रतिष्ठित अर्थात् लकड़े की घोड़ी के ऊपर घड़ा रखने में आता है उसको सुप्रतिष्ठित कहते हैं। जो नीचे विस्तृत, मध्य में संकीर्ण और ऊपर से विस्तृत होता है।

दम के रोगी खांसी करते समय दोनों पांव चौड़े करके खड़े रहते हैं और कमर पर स्वयं के दोनों हाथ को रखते हैं ऐसा आकार लोक का है अर्थात् कमर के भाग के समान तिर्छालोक संक्षिप्त होता है और वापिस फिर से चौड़ा होता जाता है।

अधोमुख रहे हुए एक बड़े शराव के पृष्ठ भाग के ऊपर एक छोटा शराव संपुट रखा हो वैसा लोक है।

गौतम! यह लोक सदैव शाश्वत है। शेषनाग या कछुए ने पृथ्वी (लोक) को धारण नहीं किया है, किसी ने उसको बनाया नहीं है यह

स्वयं सिद्ध, आश्रयरहित आकाशप्रदेश में स्थित है तथा उत्पत्ति स्थिति और नाश रुप त्रिगुणात्मक ऐसे ६ द्रव्यों से परिपूर्ण है। स्वयं के मस्तक के ऊपर सिद्ध भगवंत के होने से मानों बहुत ही आनंद विभोर होकर नृत्य करने के लिए पांव चौड़े करके खड़ा हो ऐसा लगता है। इसके १४ विभाग है। प्रत्येक विभाग एक 'रज्जु' प्रमाण होता है। सर्वथा नीचे के लोकान्त से सातवीं नर्क के ऊपर तलपर्यंत तक एक रज्जु इसप्रकार सात नर्क भूमि के ऊपर के तलपर्यंत तक सात रज्जु हुए। रत्नाप्रभा के ऊपर तल से पहले देवलोक के दो विमान आकर रहे तब तक आठरज्जु तथा महेन्द्र देवलोक के अंत तक नवमी रज्जु, लांतक विमान तक १० रज्जु।

सहस्त्रार (आठवां) देवलोक की सीमा तक ११वीं रज्जु, अच्युत तक १२ रज्जु, गैवेयक तक १३ रज्जु तथा लोकांत के अन्त तक १४ रज्जु पूर्ण होते हैं।

अनादिकाल से अनंतकाल तक के सदैव शाश्वत इस लोक में उत्पन्न हुए अनंतज्ञानदर्शनधारी अर्हन्त, जिनेश्वर, केवली, भगवंत जीव को भी जानते हैं—और अजीव को भी जानते हैं। इसप्रकार केवली भगवंत इसी लोक में से ही सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर सिद्धगति में जाते हैं तथा समस्त सांसारिक परिताप से रहित होकर अनंत सुख के भोक्ता बनते हैं।

जीव, अजीव तथा उनके देशप्रदेश के प्रश्न में भगवान ने कहा कि—हे गौतम! अधोलोकरुप क्षेत्र लोक में जीव भी हैं और अजीव भी है तथा उनके देश और प्रदेश भी हैं। इसी प्रकार तिर्यग्लोक और उर्ध्वलोक में भी जीव, अजीव तथा उनके देश और प्रदेश है।

उर्ध्वलोक के लिए विशेष यह जानना है कि वहां काल द्रव्य नहीं होने से कालरहित अरुपी द्रव्यों का अस्तित्व है। जबकि अधोलोक तथा तीर्छालोक में कालद्रव्य सहित धर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकायसदेश तथा सप्रदेश होने से सात अरुपी द्रव्य हैं।

लोक और अलोक का परिमाण :

हे प्रभु लोक कितना बड़ा है ?

भगवान ने कहा कि असंख्य कोड़ाकोड़ी योजन प्रमाण लोक में रहे समस्त द्वीप और समुद्र के बीच में जम्बूद्वीप है जो सभी से छोटा है गोल थाली जैसा आकारवाला तथा विस्तार में एक लाख योजन और परिधि में तीन लाख, सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोश, १२८ धनुष्य और १३॥ अंगुल से भी कुछ अधिक हैं मानो कि अभी ही महा-बुद्धिवाले, महायशवाले तथा महापराक्रमी ६ देवताएं जम्बूद्वीप में रहे मेरुपर्वत के शिखर पर ६ दिशाओं में खड़े रहे उसके नीचे चार दिशा कुमारीये जम्बूद्वीप के अन्तिम छोर पर खड़े रहकर चारों दिशा की तरफ मुंह रखकर अपनी-२ दिशा में बहुत जोर से बलिपिंडों को लवणसमुद्र तरफ फेंकते हे गौतम ! वह ६ देव में से प्रत्येक देव वे बलिपिंडों के जमीन ऊपर गिरे उसके पहले ही बीच में से एकदम शीघ्रता से ग्रहण कर सकने में समर्थ होते है। उसी प्रकार तेजगति से वे देव लोकांत देखने के लिए इच्छातुर होकर ६ दिशाओं में चलने लगे उसी समय किसी गृहस्थ के यहां एक हजार वर्ष के आयुष्यवाला बालक जन्मे, मध्य में उस बालक के माता-पिता का मरण हो जाय और आयुष्य पूर्ण करके मर जाय तो भी हे गौतम ! वे देव लोक के अंततक नहीं पहुँच सकते हैं। श्मशान में उस बालक की हड्डियां भी गल जाय यहांतक उस बालक की सात पीढ़ी भी नाश हो जाय तो तो भी वे देव लोकांत तक नहीं पहुँच सकते हैं।

इस अनुसंधान में कोई यह पूछे कि, उस बालक की सात पीढ़ी तक एक गति से चलनेवाले देव ने अभी तक कितना रास्ता पार किया है तथा बाकि है ?

भगवान ने कहा कि देव ने बहुत मार्ग पारकर लिया है और अब असंख्यात भाग जितना मार्ग शेष है।

लोक का स्वरुप चौरस घनरुप किये हुए लोक का है उसके अधोलोक में भवनपति देव तथा नारक रहते हैं।

तिर्छालोक में व्यंतर, मनुष्य, समुद्र, द्वीप और ज्योतिष देव रहते हैं। उर्ध्वलोक में वैमानिक तथा सिद्धों का वास है।

अधिक लम्बे समय तक गति करनेवाले देव यदि लोकांत तक न पहुंच सके तो जिनेश्वर देव के जन्म कल्याणक में अच्युत इन्द्र तथा देवों से पांच रज्जु प्रमाण मार्ग को किस प्रकार पार करते होंगे ?

भगवान ने फरमाया कि—स्वयं की सामान्य गति से भी अतिशीघ्र वे देव जन्मकल्याणक उत्सव में आते हैं। व्यवहार में भी हम जानते हैं कि सामान्य कार्य में मनुष्य स्वयं की स्वाभाविक गति में ही रहता है जबकि स्वार्थ के कार्य में स्वयं की गति तेज करता है।

कल्याणक में आने के लिए सम्यगदृष्टि देव का मन बहुत उत्साहित होता है अतः स्वयं की गति को अत्यन्त तेज करके तथा पवित्र कल्याणकारी जिन जन्मोत्सव में विघ्न न आवे इस पवित्र हेतु से वे शीघ्र आते हैं। मिथ्यादृष्टि देव का मन अर्थ तथा कामदेव के कार्यों में शीघ्र होता है अतः इन्द्र की आज्ञा तथा कुतूहल आदि से वे देव धार्मिक कार्य में रस नहीं लेते हैं।

सम्यगृदृष्टि देवों को स्वाभाविक विवेक विनय आदि धार्मिक कार्य में तथा अरिहंत की भक्ति तथा कल्याणक के उत्सव में उत्साह होता है। अतः हे गौतम ! तीर्थंकर भगवंत के कल्याणक में अतिशीघ्र आने वाले देवो को बारहवे देवलोक में से आते हुए भी देर नहीं लगती है।

इस प्रकार अलोक का भी यहीं उदाहरण समझना वह निम्न है—दस संख्या में देव जंबूद्वीप के मेरु की चूलिका पर दसों दिशा तरफ मुँह रखकर खड़े रहे जबकि मानुषोत्तर पर्वत पर आठ दिशिकुमारीये खड़ी रहकर स्वयं

की दिशा में बलिपिंड फेके उस समय एक गृहस्थ के यहां लाख वर्ष की उम्रवाला बालक जन्म लेता है। बाकि सब पहले की तरह जानना। हे गौतम ! वे देव तो भी अलोक के अन्त को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

लोक के एक प्रदेश का कथन :

हे प्रभु। लोक के एक आकाश प्रदेश में एकेन्द्रिय जीव के प्रदेश तथा अतीन्द्रिय जीव के प्रदेश सब एक साथ अन्योन्यबद्ध अन्योन्यस्पष्ट अन्योन्यावगाढ़ और अन्योन्य स्नेह प्रतिबद्ध होकर समभर घट के समान रहते हैं तो वे एक दूसरे को पीड़ा पहुँचा सकते हैं ? या एक दूसरे की आकृति को भंग कर सकते हैं ?

भगवान ने कहा कि—नहीं, क्योंकि जैसे एक नर्तकी है जो साक्षात् शृंगार की मूर्ति समान तथा सुन्दर वेश परिधान करनेवाली है, संगत हसित, भणित, स्थित, विलास तथा संगीत में अतिनिपुण है तथा स्वयं की रंगशाला में ३२ प्रकार की नाट्य विधि में से एक नाटक की शुरुआत करती है। चारों तरफ से हजारों प्रेक्षक आंख की पलक मारे बिना उसको देख रहे हैं। असंख्य मनुष्य की दृष्टि एक साथ उस नर्तकी पर गिर रही है तथा सभी की दृष्टि उस नर्तकी को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाती है अथवा उन लाखों मनुष्यों की दृष्टि परस्पर एक दूसरे को बाधा नहीं पहुँचाती है उसी प्रकार लोकाकाश के एक प्रदेश में चाहे जितने जीव के प्रदेश भी रहे हों तथापि एक दूसरे को बाधा नहीं पहुँचाते हैं।

दूसरी सभी बातें मूलसूत्र से जाननी।

॥ दसवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक-११ उद्देशक-११

इस उद्देशक में वाणिज्यग्राम का वर्णन, दुतिपलाशक चैत्य का वर्णन, कालद्रव्य के प्रकार, प्रमाणकाल का प्ररुपण, हस्तिनापुर नगर का वर्णन, बलराज तथा प्रभावती रानी का वर्णन, स्वप्नावलोकन का वर्णन, महाबल कुमार, धर्मघोष आचार्य का आगमन, वैराग्यदीक्षा का वर्णन, ब्रह्मदेवलोक में जाना वहां से सुदर्शन का जन्म, जातिस्मरण तथा दीक्षा का वर्णन विस्तृत है।

सुदर्शन सेठ का वर्णन :

उस समय वाणिज्यग्राम का नगर था। उसमें दूतिपलाश नामक चैत्योद्यान था। पृथ्वीशिला पट्टक था। वहां सुदर्शन नाम के एक सेठ थे जो धनवान, तेजस्वी और देदीप्यमान थे। उसके पास अनेक भवन, शयनागृह गाड़ी घोड़े आदि थे। विपुल धन वैभव सुवर्ण, चांदी, हीरा, मोती माणेक आदि से युक्त थे। वे शेठ आयोग तथा प्रयोग (व्यापार तथा उसके परिणाम-के विचार) में निपुण थे। उनके यहां अनेक प्रकार की खाद्य सामग्री, दासी, गाय भैंस आदि का समुदाय था। स्वयं प्रभावशाली होने से सर्वथा अपराजित था। श्रमणोपासक होने से जीव अजीव आदितत्व का तथा पुण्य पाप आश्रव संवर तत्त्व के मार्ग को जाननेवाला था। इसलिए वह सेठ संसार में रहते हुए भी मोक्ष का अभिलाषी था।

उस समय चरम तीर्थंकर भगवान महावीरस्वामी चतुर्विध संघ के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए उस गांव में पधारे। गांव के लोग समवसरण में गये तथा वंदन कर प्रभु की उपासना की।

उस समय भगवान का आवागमन सुनकर सेठ सुदर्शन बहुत ही प्रसन्न हुए और उनका मन आनंद से नाच उठा, रोम रोम खिल उठा, मुखकमल विकसित हुआ, कान भगवान की वाणी सुनने के लिए उत्सुक हुए और आंखों में नया ओज आया।

मानो कान को ललकार कर आंख कहती थी कि अभी तक भगवान की वाणी अकेले कान ही सुन रहे थे पर अब तो मुझे देवाधिदेव को नजरों से देखने का अवसर आ गया है। इसप्रकार सेठ ने स्नान किया तथा बलि-कर्म किया। कौतुक मंगल तथा प्रायश्चित विधि करके और सभा को योग्य वस्त्रों से सुसज्जित हुए किमती आभूषण पहने तथा अच्छे शकुन देखकर परमात्मा श्रीअरिहंत देव को वंदन करने के लिए घर से निकले। मस्तक पर कोरंटक पुष्प की माला का छत्र धारण किया। अनेक पुरुष के साथ सेठ पैदल ही आगे बढ़ा और गांव बाहर जहां चैत्योद्यान था वहां समवसरण में आया और देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी को वंदना करके मन-वचन-काया से पर्युपासना की। यथोचित आसन पर बैठे हुए सुदर्शन सेठ को उपलक्ष्य कर भगवान ने उपदेश दिया—

अनादिकाल से अविच्छिन्न इस संसार में जीव और अजीव भी अनादिकाल से है। जीव चेतन है तथा अजीव जड़ है परन्तु खान में रहे हुए सोने तथा मिट्टी की तरह अनादिकाल से मिश्रित रुप में रहते हैं। किसी से भी अनुत्पादित जीव कर्मवश बनकर स्वयं ही चार गतिरुप संसार में भ्रमण करता है।

किसी समय दुर्गति और किसी समय सद्गति को भुगतता हुआ जीव स्वयं के पुरुषार्थ के द्वारा मनुष्य अवतार, आर्यखानदान, आर्यभाषा और आर्यधर्म को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील बनता है तब कर्मों का जोर घटता है और स्वयं की शक्ति तरफ आगे बढ़ता जाता है तथा जैनत्व को प्राप्त करने शक्ति संपन्न बनता है तथा आश्रव द्वार बन्द करता है।

जो वस्तु भोग नहीं सकते उसका त्याग करते हैं। जिस भोग की आशा नहीं है उस आशा को छोड़ देते हैं जिस खानदान में जो वस्तु खाने की मनाई है अथवा जो वस्तु खाने से रक्त में तामसिकता उत्पन्न होती है वे पदार्थ जानबूझकर छोड़ देते हैं। जिस वनस्पति को खाने से अधिक पाप लगता है उसे छोड़ देता है। भोगविलास, हंसी मजाक असंबद्ध भाषा छोड़ने का प्रयत्न करता है। भोग्य तथा उपभोग्य पदार्थ को मर्यादित करता है तथा त्याग करता है।

गत समय में जीव मिथ्यात्वी मोहकर्मी और मायावी था पर आज सम्यक्त्वी बना है। अतः बीते समय के जीवन का त्याग करके आज मर्यादित बनता है।' जानवर के भोगविलास बेशर्म होते हैं और मिथ्यात्वी के अमर्यादित होते हैं। अतः जैनत्व को कायम रखने के लिए बेशर्म कार्य तथा अमर्यादित चेष्टा का त्याग करके शुद्ध होता है जिससे प्राप्त हुआ सम्यक्त्व शुद्ध बनता है तथा क्षायिक सम्यक्त्व तरफ उसका प्रयाण होता है।

इसप्रकार भगवान की वाणी से प्रभावित होकर सुदर्शन सेठ जैनत्व के आराधक होने के लिए श्रावक धर्म को स्वीकार करते हैं। सारांश यह कि तीर्थंकरदेव की वाणी सुनकर मिथ्यात्वी भी सम्यक्त्वधारी बनते हैं, व्रतभ्रष्ट जीव व्रतधारी बनते हैं तथा जैनत्व के विराधक आराधक बनते हैं। इसी प्रकार सुदर्शन सेठ भी सम्यक्त्वी व्रतधारी और जैनत्व के आराधक बनें। उसके बाद स्वयं की उत्थान शक्ति के द्वारा भगवान के पास आए और खड़े रहकर पूछा—हे प्रभु ! आपके शासन में काल कितने प्रकार का है ?

भगवान ने कहा कि—हे सुदर्शन ! मेरे शासन में काल चार प्रकार का है। वे निम्न हैं:—

(१) प्रमाणकाल (२) यथायुनिवृति काल

(३) मरणकाल (४) अद्धाकाल

जिस काल से २–४–१०–२०–१०० वर्ष आदि का प्रमाण या वर्ष मास आदि का निर्णय कर सके उसे प्रमाणकाल कहते हैं। सामान्य काल करते इस प्रमाणकाल में रात तथा दिन का भेद मालूम हो जाता है की चार पोरसी का दिन तथा चार पोरसी की रात होती है।

आयुष्य का बन्ध जिस प्रकार होता है उस नरकादिरूप आयुष्य को यथायुनिवृत्ति काल कहते हैं। सामान्य आयुष्य काल का अनुभव तो तमाम संसारी जीव को होता है पर यहां नारकादि जीव का ग्रहण है जहां उनकी आयुष्य नियत है। मरणकाल जिस मरण से युक्त है और अद्धाकाल समय-आवली आदि को कहते हैं।

१. प्रमाणकाल :

भगवान ने कहा कि इस काल के दो भेद हैं—

(१) दिवस प्रमाण काल (२) रात्रि प्रमाण काल।

हम सब प्रत्यक्ष देखते हैं कि वर्ष के ३६० दिन में दिन तथा रात्रि का प्रमाण एक समान नहीं रहता हैं। ग्रीष्म ऋतु में दिन बड़ा तथा रात छोटी होती है, जबकि ठंड में दिन छोटा तथा रात बड़ी होती है, छोटा दिन तथा बड़ी रात या दिन बड़ा और छोटी रात एक ही दिन में या एक मीनिट में नहीं होते परन्तु ऋतु के परिवर्तन से उसमें प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा घटते बढ़ते होते होते एक दिन वापिस दिन तथा रात एक समान होनेपर १२ घंटे की रात हो जाती है। इस प्रकार के परिवर्तन में सूर्य की गति ही मुख्यकारण होती है। जैसे सूर्य पूर्वदिशा में उदय होता है वहां से किसी मौसम में दक्षिण दिशा तरफ का मार्ग पार करता है और अस्त होने के समय बराबर पश्चिम दिशा तरफ होकर अस्त होता है। इसको सूर्य की दक्षिणायन गति कहते हैं और जब उत्तर तरफ का आकाशमार्ग पार करता है तब उसे उत्तरायण गति कहते हैं।

आकाश में करोड़ों की संख्या में रहे ताराओं में २८, नक्षत्र तथा १२ राशि है तीस दिन में या एक महिने में सूर्य सवा दो नक्षत्र को अर्थात् एक राशि को भुगतता लगभग ३६० दिन में १२ राशि को पूर्ण भुगत लेता है। अर्थात् मेष राशि के प्रथम अंश से चालू होकर १२ महिने में सूर्य वापिस मेष राशि पर आ जाता है तब नया वर्ष चालू होता है।

प्रत्येक प्रदेश में नया वर्ष अपनी-२ अनुकूलता के अनुसार होता है। जैसे कि गुजरात के व्यापारी कार्तिक सुद १ से, जबकि दूसरे आषाढ़ सुद १ से और अधिकांश भाग में चैत सुद १ से नया वर्ष चालु होता है।

किसी राशि के कला-विकला पर सूर्य और चन्द्रमा जब इकट्ठे होते हैं उसे अमावस्या कहते हैं "अमा वै सूर्य चन्द्रमसो सह वसत इति अमावस्या" परंतु जब सूर्य की कला-विकला से चन्द्र की कला-विकला किसी संख्या में आगे बढ़े तब प्रतिपदादि तिथियों का निर्माण होता हैं। ऐसा क्रम अनादि-काल से अविरत चला आ रहा है इसमें कभी भी विक्षेप पड़ेगा नहीं, कोई गिरायेगा नहीं तथा भविष्य में भी ऐसा नहीं होगा।

सम्यग्ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र का आराधक जब सात्विक तपस्या की आराधना करता है तब उन पुण्यशाली के मुख से पोरसी साढ़ पोरसी आदि शब्दों का उच्चारण होता रहता है। इसी प्रकार की पोरसी-पहोर-प्रहर-पोरिसी और पौरुषी एक ही अर्थ के वाचक शब्द है उसकी समय मर्यादा एकसमान नहीं होती है। अतः भगवान ने कहा कि हे गौतम! अधिक से अधिक पोरसी का समय ४॥ मुहूर्त का होता है।

२४ मीनिट = १ घड़ी

२ घड़ी (४८ मीनिट) = १ मुहूर्त

४८ + ४॥ मीनिट = ३ घंटे और ३६ मीनिट।

जब १८ मुहूर्त अर्थात् १४ घंटे और २४ मीनिट का दिन या रात

होती है तब पोरसी का प्रमाण दिन मान का चौथा भाग अर्थात् ३ घंटे और ३६ मीनिट की पोरसी होती है तथा जघन्य से १२ मुहूर्त अर्थात् ९ घंटे और ३६ मीनिट का दिनमान होता है तब पोरसी ३ मुहूर्त की अर्थात् २ घंटे और २४ मीनिट की समझनी।

जब ४॥ मुहूर्त की पोरसी हो तब उसमें से एक मुहूर्त के १२२ वां भाग प्रमाण कम करते-२ पोरसी का प्रमाण ३ मुहूर्त का आ जायगा। पोरसी प्रमाण जब ३ मुहूर्त का होता है तब १२२ वां भाग बढ़ाते-२ ४॥ मुहूर्त का आ जायगा। मध्य के १८३ दिन में क्रमश घट बढ़ होती है।

हे प्रभु ! दिन और रात का पहोर ४॥ मुहूर्त का कब होता है ?

भगवान ने कहा कि, जब १८ मुहूर्त का दिन और १२ मुहूर्त की रात होती है तब दिन का पहोर ४॥ मुहूर्त का होता है तथा विपरीत रुप से ३ मुहूर्त का पहोर होगा।

१८ मुहूर्त का दिन कब होता है ?

भगवान ने कहा कि, पांच वर्ष के समय के अन्तिम वर्ष में आषाढ़ पूर्णिमा को १८ मुहूर्त का दिन और १२ मुहूर्त की रात और पौष पूर्णिमा को १८ मुहूर्त की रात और १२ मुहूर्त का दिन होता है। चैत तथा आसोज की पूर्णिमा को रात-दिन समान होते हैं।

जब निश्चय नबे कर्क और मकरसंक्रांति के बाद ९२वें दिन रात-दिन समान होते है तब ३ घंटे की पोरसी जाननी।

२. यथायुनिवृति काल:

जैसे किसी जीव ने नर्क, तिर्यंच, मनुष्य या देवगति का आयुष्य जिस प्रकार से अन्तर्मुहूर्तादि रुप में बांधा हो उसे उसी प्रकार से भुगतना वह यथायुनिवृति काल कहलाता है।

३. मरणकाल :

जिस समय जीव का शरीर से वियोग हो या शरीर से जीव का वियोग हो वह मरणकाल है।

४. अद्धाकाल :

समय, आविलिका, पल्योपम, सागरोपम आदि जानना जो पहले भाग में आ चुका है।

इस पल्योपम और सागरोपम से नर्क, देव, मनुष्य तथा तिर्यंच गति का माप निकल सकता है।

नारक तथा देव का जघन्य आयुष्य १० हजार वर्ष और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम का है।

सुदर्शन सेठ ने पूछा कि—हे प्रभु ! चार योजन लम्बे चौड़े और गहरे खड्डे में डाले हुए युगलिक मनुष्यों के बालों के एक-२ टुकड़े को १००-१०० वर्ष के बाद निकालने में आवे तो पल्योपम और १० कोड़ा कोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम कैसे पूरे हों ? किसके हुए हैं ? हमारे जीव ने भव भवांतर में क्या इस प्रकार के पल्योपम और सागरोपम पूर्ण किए होंगे ?

भगवान ने कहा कि, हे सुदर्शन तेरे स्वयं के जीव ने अनंत संसार में कितने ही सागरोपम कितनी ही बार पूरे किए हैं। यह कहकर भगवान ने समवसरण में सुदर्शन सेठ की कथा को इस प्रकार प्रारंभ की।

सेठ के पूर्वभव का वृत्तांत :

हस्तिनापुर नगर में बल नामक राजा था। उसकी प्रभावती नाम की रानी थी। जो सभी अंग प्रत्यंग पूर्ण थी, पांचो इन्द्रियों की पटुता

होने से सुंदर थी, एक दिन अत्यन्त रमणीय पलंग पर सोती हुई रानी ने अर्धजागृत अवस्था में अगम्य स्वरूप, मंगल करनेवाले, धन-धान्य, राजपाट, मानसन्मान को देनेवाले आकाश में से उतरते हुए सिंह को स्वयं के मुंह में प्रवेश करते देखा तथा प्रभावती रानी जाग उठी। शेषवर्णन कल्पसूत्र से जानना। स्वप्न देखकर खुश हुई रानीजी स्वयं के पति की शय्या के पास आई तथा मिष्ट, उदार, स्पष्ट अहिंसक वाणी से पति को स्वप्न कहा।

स्वप्न सुनकर राजा खुश हुए और स्वप्न लक्षण पंडितों को बुलाया। पंडित आये और सत्कारपूर्वक राजाने स्वप्नफल पूछा। पंडितों ने स्वप्न-लक्षण शास्त्र की पद्धति से फल कहा। राजा-रानी खुश हुए। गर्भ का पोषण हो उस प्रकार का आहार व्यवहार करती हुई रानी ने गर्भरक्षण किया। शेष बाते कल्पसूत्र से जान लेनी। गर्भधारण के दिन से नौ महिने साड़े सात दिन बाद रानी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। पुत्र के हाथ पैर सुकोमल थे, शरीर देदीप्यमान था। सिर के बाल काजल जैसे काले, आंख कमल समान, दांत दाड़म के दाने जैसे, नाक तोते की चोंच के समान मुख-कमल पूनम के चांद के समान, हाथ भुंगल जैसे लम्बे जांघ हाथी के सुंड जैसी, नाभि गंभीर गुप्त तथा रमणीय थी, हंस जैसी चाल, ललाट अष्टमी के चांद जैसा, शरीर की ऊँचाई १०८ अंगुल, छाती विशाल, नाखून लाल तथा विनय की मूर्ति, मितभाषी तथा दीन दुखिओं का रक्षक था।

पूर्वभव की संयम की आराधना को लेकर यह राजकुमार माता-पिता का लाड़ला, काका-काकी का प्रेमपात्र तथा मामा-मामी के आंखों का तारा था।

राजा ने पांच धाई माताओं को रखकर पुत्र का पालन करा था। योग्य उम्र में सज्जन, सदाचारी, शील संपन्न पंडित के पास विद्याभ्यास के लिए भेजा वहां पर शास्त्र विद्या में महाबलकुमार पारंगत हुआ। साथ साथ राजनीति में कुशल, संधिविग्रह में प्रवीण, प्रजापालन में दक्ष, युद्ध

तथा धनुर्विद्या में निपुण संगीतकला में पंडित तथा दीनदुःखी के प्रति करुणा भाव से परिपूर्ण है।

भोग योग्य उम्र में महाबलराजकुमार को देखकर बलराजा ने विचारा कि राजकुमार अब बड़ा हो गया है। उसके लिए गगनचुंबी उत्तम महल बनवाया। महल के बीच मे एक भवन अत्यन्त विशाल बनवाया जो सैकड़ों स्तंभों से सुशोभित् था। उसके बाद् योग्यसमय में बलराजा ने शुभ तिथि, दिन, नक्षत्र तथा अच्छे मुहूर्त में राजकुमार का आठ राजकन्याओं के साथ लग्न करवाया। वे कन्याए सर्वथा अनुकूल, रुपवती तथा शीलवान थी। विवाह के उपलक्ष में कुमार के माता-पिता ने निम्न प्रीतिदान दिया ८ करोड़ चांदी के सिक्के, ८ करोड़ सोने के सिक्के, ८ मुकुट तथा ८ कुंडल की जोड़ी, आठ हजार अर्धहार, एकसरा हार, आठ कड़े, मुक्तावलीहार कनकावली हार, रत्नावली हार, उत्तम वस्त्र की आठ जोड़ी, श्री देवी, ही देवी, कीर्तिदेवी, बुद्धिदेवी, लक्ष्मीदेवी, धृतिदेवी की आठ २ पुतलिये, आठ शय्याएं, पलंग, आठ गोकुल (१०-१० हजार की संख्या का = १ गोकुल) आठ नाटक मंडली, लक्ष्मी के भंडार जैसे आठ घोड़े, आठ पालखी, आठ रथ आदि संपूर्ण सामग्री दी। राजकुमार ने प्रत्येक सामग्री को एक समान भाग करके अपनी पत्नियों को दी। इस प्रकार जमाली की तरह संसार भोग का आनंद लेते हुए संसार में अनेक वर्ष पूर्ण किए।

उससमय इस अवसर्पिणी के १३वें तीर्थंकर श्री विमलनाथ भगवान के शिष्य-प्रशिष्य धर्मघोष नाम के मुनिराज विचरते थे। एकदिन स्वयं के ५०० मुनियों के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए हस्तिनापुर के सहस्राम भवन के उद्यान में पधारे। वनपालक की आज्ञा लेकर स्वयं की आत्मा को तपसंयम मे भावित कहते रहते थे।

गांव में मालूम होते ही लोग उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए आये और अपने—२ घर गये।

मुनीश्वर को वंदन करने के लिए कोलाहल को सुनकर महाबलकुमार आश्चर्य चकित होकर एक दास को पूछा कि यह कोलाहल किसका है ? दास ने कहा कि उद्यान में धर्मघोष नाम के अणगार पधारे हैं। यह सुनकर जमाली की तरह महाबलकुमार भी रथ में बैठकर उद्यान में आया तथा धर्मघोष मुनि को वंदन कर उपदेश सुनने के लिए योग्य आसनपर बैठा। जनता के समक्ष धर्मघोष मुनि ने कहा कि पूर्वभव के उत्कृष्ट तप के पुण्य योग से मिले हुए आर्यधर्म तथा आर्य खानदान में धर्म-ध्यान का आचरण न कर सके तो जीव हिंसा-झूठ-चोरी, मैथुन और परिग्रह में मस्त बनकर लाखों अवतार को बिगाड़नेवाला बनेगा। अतः पुरुषार्थ के द्वारा मोक्ष मार्ग मे आगे बढ़ने की भावना रखनी अच्छी है।

अनंत सुखो से पूर्ण मोक्ष को प्राप्त करने के लिए वीर्य शक्ति का उर्ध्वगमन सर्वथा अनिवार्य है तथा इसके लिए आत्मिक संयम के द्वारा वीर्य के अधोगमन को रोकने के लिए संयम के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। इसी कारण से तीर्थंकर भगवान, चक्रवर्ती, बलदेव तथा महाराजा भी राजपाट छोड़कर संयम स्वीकार करते हैं। स्वयं की शक्ति का उर्ध्वगमन करके केवलज्ञानी बनकर करोड़ों जीवों का उद्धार करते हैं।

संयम से मैथुन कर्म का, मन-वचन तथा काया से त्याग होगा। पौद्‌गलिक पदार्थ तथा संसार की माया को तोड़ डालेगा तथा स्वयं ही परमात्मा बनने के योग्य होगा।

इस प्रकार धर्मोपदेश सुनकर राजकुमार ने संयम लेने की भावना व्यक्त की तथा घर आकर माता-पिता से दीक्षा लेने की आज्ञा मांगी। शेष संवाद जमाली की तरह जानना। विशेष यह कि माता-पिता के आग्रह के वश होकर महाबलकुमार का आंडबर सहित राज्याभिषेक हुआ।

एक दिन कुमार के माता-पिता ने कुमार से पूछा कि, हे पुत्र हम तुम्हारे लिए क्या करे ? कुमार ने कहा कि हे तात ! आप मेरी आत्मा

का कल्याण चाहते हो तो मेरे लिए दुकान में से एक रजोहरण और पात्र मंगा दीजिए तथा नाई की व्यवस्था कीजिए। फिर दीक्षा आदि का प्रसंग जमाली की तरह जानना। चढ़ते परिणाम से दीक्षित हुए महाबलमुनि ने १४ पूर्व का अध्ययन किया, छट्ठ अट्ठम आदि तपस्या से श्रमणपर्याय का पालन कर अंत में एकमास की संलेखना करके प्रतिक्रमण किया। समाधि भाव में लीन होकर ऊर्ध्वलोक में सूर्य–चन्द्र–नक्षत्र–तारा आदि से अनेक योजन ऊपर वैमानिक देव के पांचवें (ब्रह्म) देवलोक में देव पर्याय में उत्पन्न हुए जहां दस सागरोपम की आयुष्य मर्यादा है। इसप्रकार कथा या उपसंहार करते हुए भगवान ने कहा कि—हे सुदर्शन सेठ ! तुम स्वयं ही देवपर्याय में दस सागरोपम की आयुष्य मर्यादा पूर्णकर वाणिज्य ग्रामनगर में श्रेष्ठीकुल में पुत्ररूप में जन्मे हो।

सुदर्शन सेठ की सिद्धिगमन की वक्तव्यता—

भगवान ने कहा कि—हे सुदर्शन ! युवावस्था में तुमने एक दिन किसी मुनिराज को देखा तथा भक्तिपूर्वक धर्मश्रवण किया। वह धर्म तुम्हें रुचिकर लगा तथा अभी भी उसी धर्म की आराधना कर रहे हो। इस कारण से मैंने तुमसे कहा था कि पल्योपम तथा सागरोपम का भी क्षय होता है।

भगवान की वाणी सुनकर सुदर्शन सेठ के परिणाम बहुत शुद्ध हुए। भाव लेश्या शुद्ध हुई, तथा जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। भगवंत के मुख से स्वयं के पूर्वभव का वृत्तांत अत्यन्त श्रद्धेय लगा तथा धर्म के प्रति श्रद्धा, सदनुष्ठान के प्रति भान, संसार का भय तथा मोक्षाभिलाषा जो पहले थी उस करते भी दुगुनी हुई। अरिहंत धर्म के प्रति इतना आनंद आया कि हर्ष के आंसू आ गये तथा ये भाव जागे कि ऐसा श्रमण धर्म मुझे कब प्राप्त होगा ? फिर से मुझे जन्म न लेना पड़े ऐसा भाग्योदय कब होगा ? इत्यादि भावना में खड़े रहकर सुदर्शन सेठ ने परमात्मा की तीन बार प्रदक्षिणा की

तथा कहा कि हे प्रभु ! आप द्वारा प्रकाशित धर्म ही सत्य तथा आदरणीय है। यह कहकर सेठ ईशान दिशा तरफ गये तथा दीक्षा अंगीकार की। बाकी बात ऋषभदत्त की तरह है।

दीक्षित होकर चढ़ते, परिणाम से तपश्चर्या की तथा समिति गुप्ति धर्म के प्रति अप्रमत रहे भवभवांतर के किये कर्मो को नाश करके, केवलज्ञान के मालिक बनकर, वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा सर्व दुःखों से रहित हुए। इस प्रकार श्री महावीरस्वामी के मुख से सुदर्शन सेठ की जीवन कथा सुनकर गौतमस्वामी आदि पर्षदा प्रभावित हुई तथा कहा कि—

हे प्रभु ! सत्य, सर्वथा सत्य तथा आपके बचन सर्वथा सत्य है।

॥ ग्यारहवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक-११ उद्देशक-१२

इस उद्देशक में आलंभिका नगरी का वर्णन, ऋषभदत्त आदि श्रमणोपासक का वर्णन, ऋषिभद्रपुत्र मुनिधर्म स्वीकारने के लिए समर्थ है कि नहीं ? देवलोक से च्यवकर कहां जायेंगे ? इत्यादि प्रसंग का वर्णन इस उद्देशक में किया है ।

उस समय औपपातिक सूत्र में वर्णित चंपानगरी जैसी विशाल आलंभिका नामक नगरी थी—वहां शंखवन नाम का चैत्योद्यान था तथा श्रमणोपासक गृहस्थों की संख्या बहुत थी उन सभी में ऋषिभद्रपुत्र सेठ मुख्य थे तथा अग्रणी थे ।

"उपासते इति उपासका श्रमणानामुपासका इति श्रमणोपासका अथवा श्रमणा उपांस्यन्ते यैस्ते श्रमणोपास्या" अर्थात् श्रमणों की उपासना करने वाला, श्रमणो का उपासक या जिसके द्वारा श्रमण उपास्य बने वे श्रमणोंपासक कहलाते हैं । पंच महाव्रत को धारण करनेवाले, पांच समिति तथा तीन गुप्ति के धारक, अहिंसा-संयम और तपधर्म के पालक, आहार-शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए प्रतिक्षण जागृत । बोलने-चलने-उठने-बेठने में अहिंसक भाव रखनेवाले, गृहस्थों के किसी भी प्रसंग में भाग नहीं लेने वाले, समाज में क्लेष तथा भेद नहीं गिराते, लोकैषणा, भोगैषणा और वित्तैषणा के पूर्ण त्यागी, मित, पथ्य तथा धर्म्म भाषा बोलने वाले, वैसे ही शारीरिक सभी क्रियाओं में उपयोग सहित, जीवन जीते हो वे श्रमण हैं । ऐसे श्रमण की मन-वचन-काया से सेवा-उपासना करे, उनके आहार पानी व औषध की यथा-शक्ति भक्ति करे, उनके सम्यगदर्शन की शुद्धि के लिए पवित्र तथा स्वच्छ व्वहार रखे, उनका मन चारित्र में लगा रहे वैसा पवित्र वातावरण उत्पन्न करे, उपाश्रय में किसी प्रकार का क्लेष-

झगड़ा न करे तथा सम्यग्ज्ञान के विकास के लिए श्रमण के साथ श्रुतज्ञान की चर्चा करे, आवश्यक क्रिया करे, उनके पढ़ने के लिए द्रव्य खर्चे चारित्र की प्राप्ति के लिए उपाश्रय में जावे, सामायिक प्रतिक्रमण करे तथा व्रत-पच्चक्खाण करे। इस प्रकार श्रमण के दर्शन, ज्ञान व चारित्र की आराधना करनेवाले श्रमणोपासक हैं।

उस आलंभिका नगरी के श्रमणोपासक धनी, पराक्रमी थे। प्रभाव-शाली होने से वे अपराभवनीय थे। जीव अजीव आदि तत्वों के जानकार थे। श्रावकधर्म के बारह व्रत को पालनेवाले, तथा अहिंसा धर्म तथा भगवान की वाणी के संरक्षक थे। गृहस्थाश्रम में रहकर स्वयं के कर्म को भुगतते हुए संयम प्रेमी थे। साधु-साध्वी की भक्ति के प्रेमी थे। श्रमणो का चारित्र खिल-उठे वैसी कामनावाले तथा रात-दिन जैन शासन की कीर्ति बनी रहे ऐसी भावनावाले थे।

एक दिन वे सभी श्रमणोपासक अपने—२ घर से बाहर निकलकर एक स्थान पर इकट्ठे हुए तथा योग्य स्थान पर बैठकर यह चर्चा करने लगे। सभी को नई नई बाते जानने की इच्छा थी। अतः अनेक बार श्रावक भी इकट्ठे होकर चर्चा करते थे। इस चर्चा में वे विवेकी थे जिससे बड़ों का अपमान तथा छोटे का तिरस्कार न होने पावे इस का ध्यान रखा जाता था क्योंकि चर्चा सिर्फ स्वयं के मति-श्रुतज्ञान को पुष्ट करने के लिए ही होती है, न कि वितंडावाद तथा सामाजिक क्लेष आदि के लिए होती है। इतना ध्यान रखकर वे कैसे भी प्रश्नों के जवाब भी ठीक देते थे। वे यह जानते थे कि विवेक जैन धर्म का प्राण है दया धर्म की माता है, विनय संयम धर्म का भाई है, मैत्री भावना जैनत्व की बहन है तथा क्षमा विवेकराजा की पुत्री है।

इसी कारण से उनकी चर्चा में से अमृततत्व की प्राप्ति होती थी तथा दूसरे दिन चर्चा का विषय पसंद करके उठते थे। मार्ग में भी जैन शासन की महिमा गाते—२ घर जाते थे।

एक दिन सभी श्रमणोपासक एक स्थान पर इकट्ठे होकर इसप्रकार बात करने लगे कि, हे आर्यों ! देवलोक में रहे देव को आयुष्य मर्यादा कितनी है ।

जवाब में ऋषिभद्र पुत्र श्रमणोपासक ने कहा कि आर्यों ! देव की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है । इससे आगे किसी देव की एक समय किसी की दो समय किसी की ३-४-५-६-७-८-९-१० समय अधिक यावत् संख्यात अधिक करते-२ उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की है । इससे अधिक आयु किसी देव की नहीं है ।

इसप्रकार की यथातथ्य वानी सुनकर दूसरे श्रमणोपासकों को उपरोक्त बात पर श्रद्धा न होने से परस्पर यह कहने लगे कि ऋषिभद्रपुत्र की यह बात सच कैसे माने ? कि देव जघन्य से १० हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट से ३३ सागरोपम की आयुष्यवाले होते हैं ।

उसी समय प्राणिमात्र के मानसिक पर्यायों के ज्ञाता भगवान महावीर-स्वामी चतुर्विध संघ के साथ विहार करते हुए आलंभिका नगरी के शंखवन नामक उद्यान में पधारे । देवाधिदेव भगवान का आगमन सुनकर तथा खुश होकर जनता समवसरण में आती है तथा वंदन करके ऋषिभद्रपुत्र के प्रश्न तथा उत्तर सुनाती हैं साथ-साथ श्रमणोत्पासक पूछते हैं कि–हे प्रभु ! ऋषि-भद्रपुत्र के जवाब क्या सही हैं ? भगवान ने कहा कि हे आर्यो ऋषिभद्र-पुत्र के जवाब सर्वथा सत्य है । क्योंकि मैं तथा दूसरे तीर्थंकर भी देवगति का जघन्य आयुष्य १० हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट ३३ सागरोपम का कहते हैं ।

भगवान का यह निर्णय सुनकर पर्षदा खुश हुई । वंदन करके जहां ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक था वहां जाकर स्वयं के अपराध की क्षमा मांगते हैं । बाद में अनेक प्रश्नोत्तर होते हैं तथा घर जाते हैं ।

एक समवसरण में भगवान महावीरस्वामी से गौतमस्वामी ने पूछा कि—हे प्रभू ! ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक आपके चरणों में मुंडित होकर

मुनि धर्म स्वीकारने के लिए समर्थ है क्या? भगवान ने कहा कि—हे गौतम! वह दीक्षा लेने के लिए समर्थ नहीं है परंतु गृहस्थाश्रम में रहकर शील, गुण तथा विरमणव्रत तथा अनेक प्रत्याख्यानपूर्वक नियमानुसार पौषधोपवास आदि तपस्या करता हुआ देवलोक में जायगा तथा वहां से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर दीक्षित होगा और सकलकर्म का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी बनेगा।

महाविदेहादि क्षेत्र—हम जहां हैं उस जम्बूद्वीप में आया हुआ भरत क्षेत्र कहलाता है जो थाली के समान गोल तथा लाख योजनप्रमाण है। इस द्वीप में रहे हुए अन्यान्य पर्वत और दूसरे क्षेत्र का प्रमाण सबसे कम है अर्थात् ५२६ योजन जितना ही है। सबसे बड़ा तथा बीच में रहा हुआ महाविदेह क्षेत्र है अनेक बड़े पर्वत तथा नदियों के कारण इसके ३२ टुकड़े (विजय) हैं। जो एक-दूसरे से अलग अलग है। इसके एक-एक विजय में तीर्थंकर, चक्रवर्ती बलदेव वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव होते हैं। अर्थात् एक-एक विजय में एक-एक तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलदेव वासुदेव तथा एक प्रतिवासुदेव होने से ३२ विजयों में ३२ तीर्थंकर आदि होते हैं।

जिस विजय में तीर्थंकरादि होते हैं वे यद्यपि अनंतशक्ति के स्वामी होते हैं तो भी स्वयं के विजय से बाहर निकल कर दूसरे विजय में नहीं जा सकते हैं। महाविदेह क्षेत्र की संख्या निम्न हैं—

जम्बूद्वीप में	—	१ महाविदेह	३२ विजय
धातकीखंड में	—	२ महाविदेह	६४ विजय
पुष्करार्द्ध में	—	२ महाविदेह	६४ विजय

१६०

सारांश यह है कि ढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र में पांच महाविदेह, पांच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्र हैं जो कर्मभूमि के नाम से जाने जाते हैं

जबकि दूसरे क्षेत्र युगालिक मानव के होने से वह अकर्मभूमि कहलाती हैं।

प्रत्येक चौबीशी में भी तीर्थंकरों की उत्कृष्ट संख्या १७० तथा जघन्य संख्या बीस होती है। महाविदेह क्षेत्र में हमेशा चौथा आरा ही रहता है। भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में ६-६ आरे के प्रमाण में तीसरे और चौथे आरे में ही तीर्थंकर चक्रवर्ती वासुदेव आदि विद्यमान होते हैं।

जिस समय इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ भगवान विद्यमान थे। उस समय——

पांच भरत में	——	पांच तीर्थंकर
पांच ऐरावत में	——	पांच तीर्थंकर
पांच महाविदेह	——	१६० तीर्थंकर

अर्थात् सभी तीर्थंकरों की उत्कृष्ट संख्या १७० थी।

भूत, भविष्य और वर्तमानकाल में होनेवाले सभी तीर्थंकर, केवलज्ञान तथा चरम सीमा के पुण्यवंत् होते हैं। ३४ अतिशय से युक्त ऐसे तीर्थंकर, देव द्वारा रचित समवसरण में विराजमान होकर देशना देते हैं। सभी तीर्थंकर की देशना आर्थिक रूप से एक सी होती है।

अभी भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में पांचवां आरा विद्यमान होने से एक भी तीर्थंकर नहीं है तथा महाविदेह क्षेत्र में २० तीर्थंकर विद्यमान है।

उत्कृष्ट तप संयम का आराधक जीव जब महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेता है तब कम से कम आठ वर्ष की आयु में तीर्थंकर के समवसरण में निमित्त मिलते ही तथा भवितव्यता का परिपाक होनेपर दीक्षा अंगीकार करता है तथा घाती कर्म का क्षय करके सिद्ध होता है। सिद्धशिला में ज्योती से ज्योती प्राप्त कर लेता है।

ऋषिभद्रपुत्र अब तीसरे भव में मोक्ष मे जायगा। उसके पहले अभी से श्रावक धर्म (व्रत) के माध्यम से धर्म की आराधना कर रहे हैं। वे व्रत तथा उनकी महत्ता निम्न है।

किये कर्म सभी के अलग-अलग होने से उनके जाति, गुण, स्वभाव और उपादान भी अलग-अलग होते हैं। जिससे भव्यता के परिपाक मे भी फर्क पड़े बिना रहता नहीं है। इसीकारण से भव्य या आसन्नभव्य जीव का भी वर्गीकरण एक समान नहीं हैं क्योंकि किसी जीव को दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम अधिक हो तो किसी को उस कर्म का उदय तीव्रतर होता है, जबकि दूसरे जीव को चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम कम-ज्यादा होता है तथा किसी को उसका उदय तीव्रतर होता है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में भी किसी को जीवन की अनंतशक्ति को बर्बाद करानेवालों अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा वेद मोहनीय तीव्र होता है जबकि दूसरा जीव स्वयं की अनंतशक्ति का विकास करके अनंतानुबंधी मोहकर्म को मारकर बहुत ही पतला कर देने से चारित्रमोहनीय का उपशय भी बढ़ता जाता है।

इन सभी परिस्थितियों में जिस जीव को दर्शनमोहनीय तथा अनंतानुबंधी होगा। वे सम्यग्दर्शन का प्रकाश प्राप्त नहीं कर सकने के कारण उनके जीवन में किसी भी क्षण पाप, दुराचार, भोग, उपभोग के विलासों का त्याग आत्मकल्याण के लिए नहीं हो सकता है तो फिर मोक्ष प्राप्त करने का पुरुषार्थ कहां से प्राप्त करेंगे ?

अतः धर्म के आराधक दो प्रकार के होते हैं—जिनको अनंतानुबंधी, तथा अप्रत्याख्यानी, मोह का उपशम हुआ हो अथवा गुरुकुलवास, स्वाध्याय, ध्यान तथा जाप आदि के अनुष्ठानों द्वारा स्वयं के उदय में आये मोहकर्म को उपशम करने के लिए ही भाग्यशाली बने हो। वे साधुधर्म के आराधक बनकर मोक्ष तत्व के साधक बनते हैं। तथा जब तक अनंतानुबंधी व अप्रत्यख्यानी मोहकर्मो का जोर है वे साधुधर्म स्वीकार नहीं सकते हैं।

चराचर संसार के प्रत्येक जीव के आत्मदलिकों की तारतम्यता देखने के बाद ही तीर्थंकर परमात्मा ने साधु तथा गृहस्थधर्म की स्थापना की है जो चतुर्विध संघ को मान्य है। यद्यपि साधुधर्म श्रेष्ठ है। आराध्य तथा हर हालत में भी उपादेय है तथा उस साधुधर्म को स्वीकारनेवाले भाग्यशाली को देव भी नमस्कार करते हैं। परन्तु प्रत्येक मानव संपूर्ण पापों का त्याग करने में समर्थ नहीं होते हैं क्योंकि आत्मदर्शन के अभाव में आत्मशुद्धि का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है।

गृहस्थधर्म—जो गृहस्थ साधुधर्म स्वीकारने में समर्थ नहीं हैं वे श्रावक धर्म की मर्यादा में स्थिर रहकर स्वयं का जीवन बनायेगे तो उनका गृहस्थ धर्म भी अच्छी तरह निभेगा। तीर्थंकर परमात्मा ने अल्प अंश में भी व्रतों को श्रद्धायुक्त होकर स्वीकारने तथा पालनेवाले गृहस्थों का वरवाण किया है। समवसरण में वे प्रशंसित बने हैं तभी तो आगमों में स्थान-२ पर कहा है किः- धर्म के दो प्रकार है—

(१) साधुधर्म। (२) गृहस्थधर्म।

माना कि मुनिराज के महाव्रत हाथी के शरीर जैसे बड़े होते हैं क्योंकि उसमें हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह जैसे बड़े से बड़े पापों का त्याग होने से मुनि के धर्म को मुनिधर्म कह सकते हैं परंतु गृहस्थ के व्रत अणु जैसे छोटे होने से गृहस्थी को गृहस्थ धर्म के मालिक कैसे कहा जाय?

जवाब में कहा कि—पाप तथा पाप भावनाओं को पाप ही समझकर सम्यगज्ञानपूर्वक यदि छोड़ने में आवे तो वे गृहस्थ अल्पांश में भी धर्म की मर्यादा में आ जाते हैं। इन्द्रियों के गुलाम बनकर कषाय भाव से किया हुआ वासनाओं का सेवन पाप है। जबतक जीव मिथ्यात्व के अंधकार में होता है तथा कषायों से लिप्त होता है तब तक गृहस्थ एक भी पाप को नहीं छोड़ सकता है। संसार में नियाणा बद्ध अनेक जीवों को हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं कि वे स्वयं के पाप, पाप द्वार तथा पाप भावनाओं को

कंट्रोल करने के लिए समर्थ नहीं बन सकते हैं। अतः वे रुपया पैसा छोड़ सकते हैं परन्तु भोगविलास नहीं छोड़ सकते हैं। दूकान पर १२ बजे तक भूखे रह सकते हैं परन्तु भोजन करते समय कौन सी भी वस्तु का ममत्व नहीं छोड़ सकते हैं। व्यवहार से दया-दान का पालन कर सकते हैं पर स्वयं की आत्मा पर दया करके परिग्रह के पाप को मर्यादित नहीं कर सकते किसी स्थिति में दीक्षित भी हो सकते हैं परन्तु मायाशल्य, निदानशल्य तथा मिथ्यात्वशल्य को छोड़ने में कभी भीतैयार नहीं होंगे। अतः जैन-सूत्रकारों ने कहा कि, मिथ्यात्व से घिरे हुए जीव के लिए पाप तथा पाप भावना का त्याग अतिदुष्कर है।

संसार की ऐसी परिस्थिति होनेपर भी किसी समय भव्यता की प्राप्ति होनेपर उन जीव के मन में अनंतानंत पाप में से थोड़े पाप को त्यागने की भावना होती है तथा स्वयं की स्थिति और शक्ति का विचार करके निरर्थक पाप को छोड़ते हैं। ऐसा करके वे भाग्यशाली धर्म के द्वार पर आने की तैयारी करते हैं। आज एक दो पाप को छोड़ते हैं तो थोड़े दिनों में थोड़े-२ पाप छोड़कर एकदिन संपूर्ण पापों को भी त्याग देंगे।

इसीकारण से इसप्रकार के गृहस्थ धार्मिकता की मर्यादा में आने से उनके अल्पांशव्रत को भी गृहस्थधर्म कहा है तथा यह यथार्थ है।

कालेज में प्रवेश करने के लिए मेट्रीक की परीक्षा पूर्व भूमिका है तथा मेट्रीक पास करने के लिए पहली दूसरी कक्षा भी अनिवार्य हैं। उसीप्रकार आज, कल या भविष्य में साधुधर्म को स्वीकार करेंगे उन भाग्यशाली के लिए स्वयं का गृहस्थाश्रम ही पूर्व भूमिका है। जैसे माता के जीवन मे रही हुई सुंदरता, पवित्रता, शील संपन्नता का असर पुत्र पर पड़ता है। वैसे गृहस्थाश्रम जीवन में यदि सच्चाई, प्रामाणिकता, न्याय संपन्नता तथा शील है तो उसकी दीक्षित अवस्था में भी वे गुण उसके जीवन में उतरते ही वह दीक्षित सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए और दूसरों को कराने के लिए समर्थ बनेगा अन्यथा उसके विपरीत फल भी हम देख रहे हैं।

पूर्वभव या इस भव के संयम के इच्छुकों के स्वयं के जीवन में कभी आनेवाले दिनों में संयमी होना पड़े उसके लिए स्वयं के वर्तमान जीवन में झूठ, प्रपंच, धोखा, परस्त्रीगमन, झूठे माप-तौल आदि पापों को जीवन में से दूर करना ही होगा अथवा जीवन तत्त्व के घातक दूषणों को दूर करने की ट्रेनिंग लेनी ही पड़ेगी। ऐसा करने से भविष्य में यदि संयम मार्ग भाग्य में उदय आ जाय तो उसका संयमी जीवन भी सुंदर, स्वच्छ और पवित्र बनकर स्वयं का तथा समाज का कल्याण करने में सफल बनेगा।

अनादिकाल से मिथ्यात्व की उपासना में ही मस्त बना हुआ जीव मोहकर्म के नशे में अभी तक क्षुद्र, मिथ्याभिमानी, लंपट, लोभी, क्रोधी, तुच्छ, ईर्ष्यालु, आदि आत्मघातक दूषणों का स्वामी होने से गृहस्थाश्रम तथा जीवनधन को शोभित नहीं कर सका। आत्मिक और आध्यात्मिक जीवन में सत्य तथा सदाचार नहीं बसा सका। अतः दया के सागर भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि—हे मानव ! अनादिकाल का परिभ्रमण मिटाना हो, संसार को छोटा बनाना हो और भावलब्धि का परिपाक तत्काल करना हो तो सबसे प्रथम श्रावक धर्म के २१ गुण तथा मार्गानुसारी के ३५ गुणों को प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना।

इससे मिथ्यात्व का रंग, कषाय का मेल तथा मोह का कीचड़ साफ होगा और जीवन उज्जवल बनेगा। फिर सम्यक्त्व का रंग लगते ही जीवन पवित्र, सरल तथा स्वच्छ बनेगा। ऐसा होनेपर अनंतानंत पाप तथा पाप द्वार को काबू में रखने के लिये श्रावक धर्म के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत को स्वीकार करेगा। अशिक्षित आत्मा को आध्यात्मिक जीवन की शिक्षा देने के लिए चार शिक्षाव्रत से युक्त जीवन बनायेगा। इसीलिए कहने का है कि गृहस्थ जीवन संयम धर्म की पूर्व भूमिका है।

लगाम बिना का घोड़ा, ब्रेक बिना की सायकल, मोटर या रेलगाड़ी

एकबार नहीं पर हजार बार भयानक बन सकते हैं। वैसे सत्य तथा सदाचार के पोषक व्रत, नियम बिना का मानव स्वयं के जीवन को सुंदर नहीं बना सकेगा परंतु दूसरे जीव को स्वयं के एक्सीडेन्ट में लेकर आसुरी शक्ति का मालिक बनेगा। 'तामसा नरा अधोगच्छन्ति' इस नियमानुसार अधोगति का स्वामी बनेगा।

(१) ब्रह्मचर्याश्रम—ब्रह्मचर्याश्रम अर्थात् स्वयं के भाई, उनके पुत्र तथा कुटुंब के छोटे बड़े संसार के रंगमंच पर आये हुए, शादी करने योग्य पुत्र या पुत्रियों का समावेश ब्रह्मचर्याश्रम में होता हैं।

(२) वानप्रस्थाश्रम—घर, कुटुम्ब में, प्रौढ़ावस्था में रहे काका-काकी-माता-पिता, विधवा भाभी, पुत्रीये, बहनें और वृद्धावस्था में आये कुटुंबी वानप्रस्थी हैं।

(३) संन्याश्रम—साधु-साध्वी, जोगी, यति, त्यागी-तपस्वी आदि का समावेश इसमें होता है।

उपरोक्त तीनों आश्रम में रहनेवाले व्यक्तियों का भरण, पोषण, शिक्षण, वस्त्र औषध आदि का भार केवल गृहस्थाश्रम पर रहने से उनका स्वयं का व्यवहार, व्यापार, रहन-सहन, खान-पान आदि क्रियाएँ तथा जीवन में सत्यता, प्रामाणिकता, विवेक, दयालुता, धार्मिकता, शील आदि सद्गुणों की विद्यमानता बहुत ही अनिवार्य है। क्योंकि गृहस्थाश्रम का असर प्रच्छन्न या स्पष्ट रुप से तीनों आश्रमों पर पड़े बिना नहीं रहता हैं।

माता-पिता यदि दुराचारी, असत्यवादी, और गर्भधारण के बाद भी व्यभिचारी, गंदी चेष्टा तथा गंदा व्यवहार रखनेवाले हों तथा छोटे बच्चों के सामने भी गंदी मजाक, दुराचारी चेष्टा तथा सांकेतिक शब्द के व्यवहार को नहीं छोड़ सकते हों तो उसके घर जम्बूस्वामी, वज्रकुमार, वस्तुपाल, तेजपाल, पुणिया श्रावक, चंदनबाला, राजीमती, तथा अनुपमा देवी जैसे जीव कहां से आयेगे ? तब रावण, दुर्योधन, कंस, सूर्पणखा मम्मण सेठ,

धवल सेठ जैसे असत्कर्म जीवों से उनका घर भर जायगा। फलस्वरूप उसका गृहस्थाश्रम उनके कुटुंब के गांव, समाज, देश के लिए अत्यन्त खतरनाक बन जायगा तथा वहां रहे हुए वानप्रस्थी भयंकर क्लेष, बैर, विरोध, आर्तध्यान या रौद्रध्यान में जीवन पूर्ण करेंगे। उनके घर का अनाज, वस्तु औषध का उपयोग करनेवाले साधु साध्वी भी सद्विवेक के स्वामी नहीं बन सकते हैं।

इन सभी बात का ध्यान रखकर धर्माचार्यों ने उनको हित शिक्षा देते हुए कहा है कि—"तेरी पुत्री, बहन, माता यदि युवा अवस्था में है तो उनके साथ भी एक आसन, सोफा या गादी पर बैठना नहीं, उसी प्रकार सतीत्वप्रिय स्त्रियों को भी कहा है कि यदि तेरी कोख की संतान पांच वर्ष के उम्र की हो गई हो तो उसके साथ सोने का भी मत रखना।"

कारण बताते हुए कहा है कि अनंत भवों से गृहस्थाश्रम को भोगते हुए हम इस भव में भले ही खानदान परिवार में जन्मे हो शास्त्रज्ञाता बने हो तो भी हमारे शरीर के साथ लगी हुई पांच इन्द्रियां तथा मन खानदान नहीं है। अतः चाहे जब भी इन्द्रियों के वश में आते देर नहीं लगती और ऐसा होनेपर हमारे गृहस्थाश्रम में होली की ज्वाला ही भड़कनी शेष रहेगी। इस बात को साक्षी देते हुए अनेक दृष्टांत शास्त्रों में पाये जाते हैं। आगे न जाकर प्रतिवर्ष कल्पसूत्र को सुनकर जानते हैं कि 'स्वयं की पुत्री जब युवावस्था में होती है तब एक दिन स्नान करने के बाद वेष परिधान करती हुई पुत्री को देखकर उसके पिता की नीयत बिगड़ती है और पुत्री को ही पत्नी बना लेता है। इसप्रकार के बिगड़े हुए गृहस्थाश्रम में महावीरस्वामी स्वयं के १९ भव में जन्म लेते हैं तथा वहां से नर्क के अतिथि बनते हैं। इसप्रकार के हजारों कथानक शास्त्रों में है।

इसी कारण से हमारे गंदे व्यवहार से तीनों आश्रमों को बिगाड़ने

का पाप सिर पर न लेना हो तो गृहस्थाश्रम को सुन्दर पवित्र और व्रत-नियममय बनाये बिना छुटकारा नहीं है।

एक समय भारत देश आध्यात्मिकता का जनक था तथा पूर्ण ब्रह्मांड को भी संयम और आध्यात्मिकता के लिये आदर्शरूप था। उसके मूल में—

अहिंसा धर्म की यथाशक्य साधना थी।

सत्यव्रत को ही परमात्मरूप में माननेवाला था।

चोरी, लूट आदि से रहित था।

संयम, शील और एकपत्नीव्रत धर्म से देदीप्यमान था।

परिग्रह में भी न्यायसंपन्नता, एक तोल-भाव का व्यवहार था।

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और उपेक्षा भाव से ओत-प्रोत था।

दया, दान, पुण्य और सत्कर्म ही खजाना रूप थे।

नीति, न्याय और प्रामाणिकता रोम-रोम में थी।

पति, पत्नी, मातृ, पितृ धर्म से दीप्त जीवन था।

काम, क्रोध, मोह, माया आदि दुर्गुणों पर कंट्रोल था।

संत समागम सभी को प्यारा था।

उपरोक्त सुकृत्य भारत के कोने-कोने में गूंज रहे थे।

आज के भारत का नक्शा सर्वथा विपरीत है। इसलिये आज के भारत का श्रीमंत सत्ताधारी दुःखी है। साधु की आत्मा प्रेमशून्य है, गृहस्थ का जीवन भक्तिरहित है। पिता स्वयं के स्वार्थ में कपट कर रहा है। मिल मालिक तथा मजदूरों के स्वार्थ अलग हैं। सेठ तथा नौकर के स्वार्थ भी अलग-अलग। अतः आपस में भयंकर संघर्ष, मारकाट और एक-दूसरे को मारने की भावना है। सभी एक-दूसरे के गठबंधन में दूसरे के साथ दांव-पेंच खेलने की अनुकूलता देख रहे हैं। इसी कारण से सत्य, अहिंसा, प्रेम,

सभ्यता आदि शब्द केवल बोलने के ही रह गये हैं तथा जीवन तो कोरा शून्य रह गया है।

ऋषिभद्र पुत्र श्रमणोपासक ने बारह व्रत स्वीकार किये तथा उसकी आराधना करके देवलोक में जायेगा और फिर मोक्षगामी होगा।

पुद्गल परिव्राजक की सिद्धि वक्तव्यता :

किसी समय भगवान महावीरस्वामी ने आलंभिका नगरी से विहार किया। पौद्गलिक विषय-वासना के सुख की चरम सीमा को पहुंचे हुए करोड़ों देवी-देवता भी विहार में साथ थे कितने देव प्रभु के सामने मार्ग साफ करते थे, कितने सुगंधी जल के छिटकाव करते थे, कितने देव चामर, दर्पण तथा कलश लेकर चल रहे थे। देव दुंदुभी के जयनाद से कितने देव मोहनिद्रा में सोती हुई जनता को जागृत करने के लिए उद्घोषणा कर रहे थे कि हे भाग्यशालियों मोहनिद्रा, प्रमाद, आलस्य और तन्द्रा ये मृत्यु है तथा जिनेश्वर की वाणी अमृत है। काम, क्रोध, लोभ और माया जहर है तथा निष्कामवृत्ति समता, संतोष और सरलता अमृतपान है। अनंत संसार में परिभ्रमण करनेवाले तुम सब जागृत होकर जिनेश्वर के चरणों मे आकर नमन करो जिससे संसार का दुःख नष्ट होगा तथा सुखों की प्राप्ति होगी।

भगवान के साथ केवलज्ञानी थे। भावी-चौबीसी मे होनेवाले तीर्थंकर के जीव भी साथ थे। चार ज्ञानधारी योगी महायोगी, मुनि, महामुनि, त्यागी भी साथ थे। शील धर्म की मूर्तिस्वरूपा चंदनबाला, मृगावती जैसी अगणित साध्वियें तथा श्रावक-श्राविकाएं साथ थे।

इसप्रकार चतुर्विध संघ के साथ विहार करते हुए दया के सागर भगवान महावीरस्वामी ग्रामानुग्राम बिचर रहे थे।

उस समय भगवान के समवसरण से ज्यादा दूर भी नहीं तथा ज्यादा

पास भी नहीं ऐसे स्थान पर 'पुद्गल' नामक परिव्राजक रहता था वह वेद वेदांत का पारगामी, छंद-इतिहास का अद्भुत अभ्यासी था। ब्राह्मणों के क्रियाकांडों में पूर्ण रागी था तथा छट्ठ के पारणे छट्ठ करता था। वह हाथ को ऊंचा रखकर आतापना लेता था। भद्र-प्रकृति का था। विकृति का दमन करनेवाला तथा संस्कृति का रक्षक था। उसके काम-क्रोध शांत थे तथा मान माया प्रशांत थे। ऐसा करते हुए परिव्राजक को शिवराजर्षि की तरह विभंग-ज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे उसे ब्रह्मदेवलोक के देवों की आयुष्य स्थिति का ज्ञान हुआ।

विभंगज्ञान—विभंगज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान में सम्यकत्व का अभाव और विपरीतता का सद्भाव होता है उसे विभंगज्ञान कहते हैं तभी तो असंख्यात देव देवी होनेपर भी इन ऋषिजी को केवल ब्रह्मलोक (पांचवां देवलोक) के देव की आयुष्य स्थिति का ज्ञान हुआ है। दूसरे देवलोक का ज्ञान अभी अज्ञात है। अतः कहा है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है तथा दोनों के अभाव मे सम्यक्चारित्र भी असंभव है।

तापस-तापसी–

पुद्गल परिव्राजक तापस था पर तपस्वी नहीं था। तपस्वी शब्द का अर्थ इसप्रकार है—

"प्रकृष्ट रागद्वेषादितामसं राजसं भाव-रहितं तपः अस्ति यस्य स तपस्वी।" जिस तप में राग, द्वेष, बदला, नियाणा, तामसिक तथा राजसिक भाव नहीं है, केवल स्वयं की आत्मा पर भवोभव की लगी हुई कर्म रज को नाश करने के लिए की हुई तपस्या से ही वह तपस्वी कहलाता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के मालिक को शुद्ध, मर्यादित अवधि ज्ञान की प्राप्ति होती है।

पुद्गल परिव्राजक तप करता था परन्तु उसके तप में आत्मा की सुंदरता का विचार नहीं होने से आत्मप्रदेशों पर चिपकी हुई रजकण जितनी नष्ट होनी चाहिए उतनी नहीं होती है। हजार भेदों में से कभी एक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करले तो भी दूसरा ज्ञान अस्पष्ट होने से उतना अज्ञान ही होता है। विभंग ज्ञान भी अज्ञान ही है। अतः परिव्राजक को इतना हीं आभास हुआ कि ब्रह्मदेवलोक के देव का जघन्य आयुष्य १० हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट १० सागरोपम से किसी की आयु अधिक नहीं होती है।

इसप्रकार के ज्ञान को ही परिव्राजक सत्य मानकर स्वयं के आसन पर से खड़ा हुआ तथा आश्रम में उपकरण रखकर आलंभिका नगरी की जनता को यह बात कही।

परिव्राजक की यह प्ररूपणा जनता को रुचिकर नहीं लगी।

उसी समय देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी आलंभिका नगरी में पधारे तथा समवसरण मे विराजमान हुए।

जनता की बात को निशंक करने के लिए गौतमस्वामी ने पूछा।

जवाब मे भगवान ने कहा कि हे गौतम ! देवों को जघन्य स्थिति १० हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की है। उसके बाद किसी देव की आयुष्य मर्यादा नहीं है।

भगवान ने और कहा कि सौधर्म कल्प से लेकर इषत् प्राग्भार पृथ्वी (सिद्धशिला) में वर्ण गन्ध, रस और स्पर्शरहित तथा सहित द्रव्य भी है। भगवंत का उपदेश सुनकर पर्षदा अपने अपने घर गई तथा पुद्गल परिव्राजक ने स्वयं के उपकरण धारण किये तथा साथ साथ विभंग ज्ञान भी नाश हुआ।

फिर प्रभु के चरणों में प्रव्रज्या स्वीकार कर कर्मों से मुक्त बने तथा समस्त दुःखों का नाश किया।

भगवान की बात सुनकर गौतमस्वामी प्रसन्न हुये तथा सभी अपने-२ घर गये।

॥ बारहवां उद्देशक समाप्त ॥

❀ ❀

समाप्ति वचन

अज्ञानियों के अंधकार को दूर करने के लिए चमकते हुए सूर्य के समान, संयम और ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा चमकते शुक्र के तारा के समान, उपदेशामृत द्वारा जीवों के कषाय को शांत करने में चांद के समान जर्मन, फ्रांस, इटली, अमेरिका, युरोप, आदि पाश्चात्य विद्वानों को जैन धर्म का परिचय कराने में ब्रह्मा के समान, स्याद्वाद, नयादि तत्त्वज्ञान द्वारा भारतीय विद्वानों की धार्मिक रक्षा करने में विष्णु के समान, अज्ञान, मिथ्याभ्रम और रूढ़िवाद को कुचलने में शंकर के समान शास्त्र विशारद, जैनाचार्य, १००८ श्रीविजय धर्मसूरीश्वरजी महाराज, भगवान महावीरस्वामी के ७४वे पाट परम्परा को देदीप्यमान करके जगत में अमर हुए हैं। उनके अंतेवासी, शासन दीपक, स्व. मुनिराज, श्री विद्याविजयजी स्वयं की साहित्य रचना वक्तृत्व कला, आदि सद्‌गुणों द्वारा जैन अजैन में प्रसिद्ध हुए थे। उनके शिष्य न्याय-व्याकरण-काव्यतीर्थ, पंन्यास श्रीपूर्णानंद विजय (कुमार श्रमण) ने स्वयं के श्रुतज्ञान के अभ्यास के लिए, स्वाध्याय की वृद्धि हो उसके लिए, भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) जैसे ग्रन्थ पर स्वयं की मतिज्ञान के अनुसार विवेचना की है।

शुभं भूयात् सर्वेषाम् जीवानाम्।
सर्वे जीवाः जैन शासनं प्राप्नुयुः॥

॥ शतक—११ समाप्त ॥

भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग—१ विषय में
कितने ही अभिप्राय

"आपका पत्र तथा स्वयंसेवक के साथ भेजी हुई पाँच पुस्तकें "भगवती सार" की मिली है। उसका विवेचन रोचक शैली में बहुत ही सुन्दर हुआ है। यह पुस्तक सामान्य ज्ञानवालों के लिए उपयोगी होगी ऐसा प्रयत्न किया है।"

—आचार्य श्रीविजयसमुद्रसूरीश्वरजी की
आज्ञा से—इन्द्रदिन्नसूरि

❀ ❀

"श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह ग्रन्थ की २ नकल आपने भेजी वह मिल गई है—आपके पूज्य गुरुदेव मुनिराज श्री विद्याविजयजी के द्वारा लिखे गये इस ग्रन्थ पर आपने विस्तृत विवेचना की है, अतः बहुत ही सुन्दर बनकर साध्वी, महाराजों को उपयोगी बनेगी।"

—आचार्य श्री सूर्योदयसूरी

❀ ❀

"श्री भगवतीसूत्र के विवेचन की पुस्तक मिली। परमपूज्य पंन्यास श्री पूर्णानंदविजयजी महाराज साहब ने बहुत परिश्रम कर उसे लोक भोग्य बनाई है। तत्त्व की गंभीरता को उन्होंने सरल भाषा में प्रतिपादित किया है। इस अपूर्व ग्रन्थ रत्न के माध्यम से वीतराग के परम सत्य का दिव्य प्रकाश जनमानस तक पहुंचे यही मेरी शुभकामना।"

—पद्मसागरसूरि

❀ ❀

"पुस्तक बहुत ही सुन्दर तथा मोहक है। तत्त्वों की गहन बात भी सरलता से समझाने से बालजीवों को बहुत ही उपयोगी बनेगी। आपने जो संपादन में श्रम किया है वह प्रशंसनीय है।"

—मुनिराज श्रीजिनचंद्रविजयजी महाराज

❀ ❀

"भगवतीसूत्र सारसंग्रह नामक इस ग्रन्थ में पू. पन्यास श्री पूर्णानंदविजयजी महाराज ने भगवतीसूत्र के पांच शतक पर जो विस्तृत विवेचना की है जिससे वाचक वर्ग की कठिन बातें भी सरल बनेंगी। आपने अप्रमत्त तथा परिश्रम द्वारा इस ग्रन्थ का परिश्रम तथा प्रकाशन कर भवि जीवों के कल्याण के लिए ज्ञान का प्रकाश फैला रहे हो। आपका ज्ञान आराधना का प्रयत्न बहुत ही अतुल्य है तथा धर्मी जीवों के कल्याण के लिए बहुत ही उपयोगी होगा। यह जानकर आनंद के साथ बहुत अनुमोदना।"

—आचार्य श्रीविजयअशोकचन्द्रसूरि महाराज
(डहेलावाला)

❀ ❀

"जैन दर्शन में आगमग्रन्थ साहित्य और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट स्थान रखते हैं। इसमें भी भगवतीसूत्र का महत्त्व अधिक है। इस महान् ग्रन्थ का आपके गुरुदेव ने सार निकालकर अवतरण किया और आपने इसे सुन्दर, सरल तथा लोकप्रियभाषा में विस्तृत कर संस्करण किया। जैनशासन के चरणों में ऐसा अमूल्य ग्रन्थ अर्पित किया। यह जैन संघ पर महान् उपकार है। कहा है कि 'गुरुशिष्य' ने जैनसमाज को ऋणि बनाया है। ऐसे उपयोगी तथा उपकारी ग्रन्थ की एक नकल भेज कर मुझे ज्ञान प्रसाद का आस्वाद कराया है इसके लिए बहुत ही उपकृत हूँ।

भगवतीसूत्र एक सात्विक, मार्मिक और तात्त्विक ग्रंथ हैं जिसको आपने अनेक बार चातुर्मास में व्याख्यान में सरल प्रकार से श्रोताओं को सुनाया है। इस अनुभव का सार आपने प्रस्तुत ग्रन्थ में रखकर सुन्दर

बनाया है जो जैन समाज के लिए एक सुअवसर बनगया हैं। 'गौतम-महावीर' के प्रश्नोत्तर के द्वारा आश्रव-संवर-निर्जरा-जीव-अजीव आदि तत्व का निरुपण करके वाचक को आगम का मार्मिम ज्ञान सरल रूप में उपलब्ध कराया इसके लिए आपको अनेक बार धन्यवाद।

प्रस्तुत पुस्तक का वांचन शुरु किया है। शैली भी रस तथा ज्ञानप्रद है। विशेष वांचन मनन से आत्मा रसिक बनती है ऐसा मालूम होता हैं।

—डा. भाईलाल एम. बावीशी
एम. बी. बी. एस. (बम्बई)
एफ. सी. जी. पी. (इन्डिया)

❀ ❀

श्री भगवतीसूत्र सार-संग्रह नामक पुस्तक की एक नकल जिसके संपादक और विवेचक पू. पं. श्रीपूर्णानन्द विजयजी म. साहब है। उन्होने मुझे भेजकर बड़ा अनुग्रह किया हैं। इस पुस्तक की मांग बढ़ने से दूसरी आवृति छप रही है ऐमा मालुम हुआ है।

पू. पं. श्रीपूर्णानंद विजयजी म. सा. श्रुतज्ञान के अच्छे अभ्यासी होने के साथ-२ एक वक्ता भी है। ऐसे विद्वान पुरुष ने भगवतीसूत्र जैसे उच्च कोटी के ग्रन्थपर मेरे जैसे प्राथमिक अभ्यासी को दो बोल लिखना बाल चेष्टा लगती है। हीरे की किमत झवेरी ही कर सकता है शाक बेचनेवाले क्या जाने?

कोई भी पुस्तक कितने प्रमाण में अच्छी है तथा उसके लेखक कौन है? उनका शास्त्रभ्यास कितना? चारित्र कितना उज्जवल? स्वानुभूति कितनी हुई हैं? उसके ऊपर लिखी है। पुस्तक लिखने का हेतु तो सत्य आत्म धर्म का प्रचार होता हैं।

आत्मधर्म यह कोई बाह्याडंबर या बाजार की वस्तु नहीं हैं। अन्तस्थल में उतारने का एक विज्ञान है जो पूर्णता की तरफ ले जाता हैं। जगत का

विशाल समुदाय भौतिकता को चाहता हैं। आत्मिकपूर्णता को चाहनेवाले की संख्याअल्प होती हैं।

आत्मिकपूर्णता मात्र शास्त्र के अभ्यास से नहीं होती हैं। आत्मा के बीच आवश्यक गुण जैसे-निःस्पृहता निर्भयता, निडरता और मन की निर्मलत आदि मुख्य भाग हैं।

जब जब पूज्य प. श्रीपूर्णानंदविजयजी महाराज साहब का नाम याद करता हूँ तब तब पूर्णता शब्द मुझे चेतना देती हैं क्योंकि उपरोक्त आत्कि गुण का मुझे उनमें बीज के चन्द्रमा के समान दर्शन होता हैं। बीज का चन्द्रमा भी पूनम के चांद के समान खिल उठता है। अतः इस सन्त पुरुष में विद्वता के साथ-२ अन्य अत्मिक गुणों का भी समावेश हैं। इनको संप्रदायवाद पसंद नहीं तथा प्रसिद्धि की भी चिन्ता नहीं हैं, अहं की कोई आल पंपाल नहीं, संसारियो के साथ गहरा संबंध नहीं सिर्फ नामी या अनामी रुप से रहकर उपकार करना यह जीवन मंत्र हैं। बाल ब्रह्मचारी हैं। शिवपुरी-गुरुकुल में गुरु के सान्निध्य में रहकर शास्त्र का गहरा अभ्यास किया हैं। अभी उनको दीक्षा लिए हुए ३९ वर्ष पूर्ण हुए हैं। अधिक करके हर पयुर्षण पर्व में अट्ठाई की तपस्या करके व्याख्यान देते हैं इसी योग्यता के कारण भगवतीसूत्र जैसे महान ग्रन्थ पर विवेचन कर सके यह स्वभाविक ही हैं। शासन के ये सच्चे सैनिक हैं। किसी की शर्म किये बिना शासन में संगठन पर सचोट प्रकाश डालने में नहीं हिचकते हैं।

मुझे उनके प्रति जो अनहद आदर भाव है वह मात्र कल्पित नहीं परन्तु प्रत्यक्ष कारण का आभारी हूँ।"

--हरिलाल डी. शाह, बीः ए.
(दहेगामकर)

"आपने कृपा करके मुझे भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग १ भेंट किया उसके लिए आभार। उसकी समालोचना जितनी मेरी विद्वत्ता नहीं है तथा समालोचना की आदत मुझे नहीं जिससे क्षमा करना।"

—कस्तूरभाई लालभाई की १००८ बार
वन्दना स्वीकारना।

"पूज्यपन्यास श्रीपूर्णानंदविजयजी गणिवर्य तरफ से श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह प्रथम भाग पुस्तक मिली। अवलोकन किया। छोटा पर मुद्दासर श्रीपंचमांग भगवती का सार बहुत ही परिश्रमपूर्वक तैयार किया है उसके लिए धन्यवाद! जिज्ञासु आत्मा के लिए बहुत उपयोगी होगा। आप इस प्रकार गुजराती में यह सूत्र संपूर्ण करके भवी आत्माओं के लिए उपकार करोगे ऐसी मेरी आपको विनम्र भाव से विनंती है। शासनदेव यह कार्य जल्दी से पूर्ण करने की शक्ति और प्रेरणा देवे ऐसी शुभकामना रखता हूँ।"

—श्री नेमि अमृत खांति चरणोपासक
प्रवर्तक मुनिश्रीनिरंजनविजय की वंदना

पं. श्री पूर्णानंदविजयजी महाराज के अन्य ग्रंथ

❀ ❀ ❀

१.	प्रमाणनय तत्त्वलोक (न्याय ग्रंथ)	१–५०
२.	वक्ता बनो (गुजराती)	१–५०
३.	शेष विद्याप्रकाश (औपदेशिक)	०–००
४.	बारव्रत (गुजराती) (त्रीजी आवृत्ति)	१–५०
५.	सिद्धचक्र भगवान (मराठी)	अमूल्य
६.	जैन धर्ममां उपयोगनी प्रधानता	,,
७	भ महावीरस्वामी का दिव्य संदेश हिन्दी--गुजराती--मराठी	,,
८.	भ. महावीर स्वामी का दिव्य जीवन	१–००
९.	भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग १ (बीजी आवृत्ति)	८–००
१०.	भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग १ (हिन्दी)	१०–००
११.	भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग २ (गुजराती)	८–००
१२.	भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग ३ (गुजराती)	१०–००
१३.	भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग–२ (हिन्दी)	१०–००
१४.	भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग ४ (प्रेस में)	

प्राप्तिस्थान :

जगजीवनदास कस्तूरचंद शाह

C/o श्री विद्याविजय स्मारक ग्रंथमाला,

साठंबा

(साबरकांठा–गुजरात) ए. पी. रेल्वे

॥ श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग-२
समाप्त ॥

लेखक की अन्यान्य पुस्तके

१.	भगवती सूत्र सार संग्रह भाग १ गुजराती मूल		८-००
२	भगवती सूत्र सार संग्रह भाग १ हिन्दी	,	१०-००
३	भगवती सूत्र सार संग्रह भाग २ गुजराती शतक ६-११ पेज ६००	,,	१०-००
४	भगवती सूत्र सार संग्रह भाग ३ गुजराती शतक १२-२०	,,	१०-००
५	भगवती सूत्र सार संग्रह भाग २ हिन्दी शतक ६-११	,,	१०-००
६	भगवती सूत्र सार संग्रह भाग ४ संपूर्ण		प्रेसमें

(१)

(२) चंद्रप्रभ जैन मंदिर पेढी
ठि. जयप्रकाश रोड,
अंधेरी (वेस्ट), बम्बई-५८.